Printed and Published by
K Mittra, at The Indian Press, Ltd ,
Allahabad

निवेदन

आचार्य द्विवेदी ने अपनी सारी गद्य-रचना को कई पुस्तको के रूप मे अपने जीवन-काल में ही छपवा दिया था, परन्तु उन्होने अपनी पद्य-रचना का सग्रह नही छपवाया। हाँ, बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने अपने विशेष आग्रह से उनकी कुछ चुनी हुई कविताओ का सग्रह 'सुमन' नाम से प्रकाशित किया था। प्रसन्नता की बात है कि इस अभाव की पूर्ति 'इडियन प्रेस' ने इस सग्रह-द्वारा कर दी है। इसमें आचार्य की प्राय सभी प्रकाशित रचनायें आगई है। इस सग्रह के तैयार करने में बडा परिश्रम करना पडा है, क्योकि उनकी प्रारभ-काल की कुछ रचनायें प्राप्य नही थी। 'गगालहरी' और 'महिम्नस्तोत्रम्' यदि कानपुर के 'माडर्न प्रेस' के पडित लालमणि शर्मा वैद्य भेजने की कृपा न करते तो यह सग्रह भी अधूरा रह जाता। इसी प्रकार आचार्य द्विवेदी के भानजे पण्डित कमलाकिशोर त्रिपाठी ने 'देवीशतक' और 'काव्यमञ्जूषा' देकर सहायता की है। इस सग्रह के पूर्ण करने में इडियन प्रेस के पडित लल्लीप्रसाद पाण्डेय ने भी बड़ा श्रम किया है, जिसका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक है।

खेद की बात है कि इस सग्रह में आचार्य की 'सुहागरात' नामक रचना नही दी गई है। इसका एक कारण उनकी उसको न प्रकाशित करने की इच्छा भी है। इसके सिवा उनकी उन सारी फुटकर रचनाओ का भी इसमें समावेश नही किया जा सका जो उन्होंने अपने वर्षो के विश्राम-काल में रची है।

—देवीदत्त शुक्ल

भूमिका

क्या द्विवेदीजी कवि थे ?

द्विवेदी-काव्य-माला के सम्बन्ध में कुछ सोचते हुए उपर्युक्त प्रश्न हठात् सामने आ जाता है। ससार में कुछ विभूतियाँ ऐसी होती हैं जिनके 'कवि' होने में सन्देह करने का अवकाश किसी को नहीं मिलता। उनका कवि व्यक्ति से इतना ऊपर रहता है कि विवेचक की मनोदृष्टि सर्वप्रथम उसी पर पडती है, भले ही वह नम्रता अथवा शिष्टता के अनुरोध से स्वय को 'कवि' न कहे। भारतीय कवि सनातन से इस परिपाटी का पालन करते आये है। भारती-पुत्र कालिदास ने 'मन्द कवियश प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्' लिखकर तथा गुसाई जी ने 'कवि न होहुँ नहि चतुर प्रवीना' सकल कला सब विद्या हीना' लिखकर इसी कवि-सुलभ शालीनता का परिचय दिया है। यद्यपि आज—शताब्दियाँ बीत चुकने पर—उनका कवि सन्दिग्ध नही रह गया है। वस्तु-स्थिति यह है कि उक्त मनस्वियो का 'व्यक्ति' इस प्रकार 'कवि' में ढल गया है कि उसके अन्यथा परिचय के लिए विवेचक को अनेक बार शिलाओ से सर मारने की आवश्यकता पडा करती है।

यह शालीनता-प्रदर्शन सदैव एक रूप में नही रह पाता। भले ही कवि स्वय को कवि लिखने-कहने में सकोच करे, पर वह दूसरो-द्वारा अपना अकवि या किकवि कहलाना सहन नही करता। उसकी रचना में एकाध रध्र ऐसा अवश्य रहा करता है जिससे होकर उसकी आत्म-आराधन अथवा आत्मप्रदर्शन की प्रवृत्ति झाँकती दिखाई देती है। साधारण तुक्कडो को जाने दीजिए, जो किसी छन्द की रचना करते समय काव्य के नियमो के पालन में भले ही प्रमाद कर जायँ, पर उसमें 'सुकवि' या 'कवि' के विशेषण के साथ अपनी छाप लगाने से नही चूक सकते, पीयूषवर्ष-कक्ष भी 'जानीते जयदेव एव शरण श्लाघ्यो दुरूहद्रुते' लिखने का लोभ सवरण न कर सके। कदाचित् जनता को निर्णायक मानने की अपेक्षा अपने विषय में स्वय निर्णय देकर जनमत का अभीप्सित दिशा में नेतृत्व करना ही उनकी प्रतिभा को अधिक उचित जँचा था।

दण्डी और कालिदास के सम्बन्ध की एक जनश्रुति छनते-छनते हमारे पास तक पहुँची है, जिसके अनुसार दोनो कविम्मन्यो का निर्णय करने के लिए 'भारती' को वाक्छल का सहारा लेना आवश्यक हो गया था। उसने दण्डी की

कविता से प्रभावित होकर जब निर्णय दे दिया कि 'कवि निस्सन्देह दण्डी है' तब कालिदास की 'क्वचाल्पविषया मति' वाली शालीनता न जाने कहाँ चली गई। वे झुँझलाकर पूछ बैठे—'कोऽहं रण्डे।' भले ही 'भारती' के इस उत्तर से कि 'तुम तो मेरे ही साक्षात् प्रतिरूप हो' कालिदास का समाधान हो गया हो, अथवा भले ही यह किंवदन्ती उक्त दोनो कवियो के आपेक्षिक महत्त्व के निर्धारण के लिए गढी गई हो, पर विचारक को इसमें भी कवि के चिर-पोषित आत्मप्रदर्शन की झाँकी मिल जाती है।

पर द्विवेदी-काव्य पर विचार करते समय हमें अधिक सतर्क रहना है। न तो उन्होने कोई प्रबन्ध-काव्य ही लिखा, जिसकी भूमिका में अपनी शालीनता का प्रदर्शन करते हुए वे 'सत्य कहौं लिखि कागद कोरे' की घोषणा कर सकते, न उनका व्यक्तित्व उनके काव्य में घुल-मिल सका, और न उनकी तुलना किसी सम-कालीन महाकवि के साथ करते हुए 'भारती' ने ही उनके पक्ष में कोई निर्णय दिया—उपर्युक्त तीनो कसौटियो पर वे खरे नही उतरते, इसी लिए 'द्विवेदी-काव्य' शब्द से पाठको का विचार में पड जाना स्वाभाविक है।

इसमें सन्देह नही कि विशेषक नाम विशेषणो की चरम स्थिति का प्रतीक होता है। पर यदि चरम-स्थिति ही हमारे निर्णय की कसौटी न रहे और हम सामान्य विश्लेषण-पद्धति का सहारा लें तो भी हम परिणामों में अधिक गलती नही कर सकते। मानव अपने में 'बहुत कुछ' या 'सब कुछ' होता है। परिस्थितियाँ उसकी विशेषताओ को प्रकाश में लाती रहती हैं। जिस समय जिस अन्तर्निहित शक्ति के विकास के अनुरूप साधन प्रस्तुत हो गये, उसी रूप में मानव उस समय प्रकट हो जाता है। मनोविज्ञानियो के सिद्धान्ता-नुसार एक ही व्यक्ति विभिन्न समयो मे कवि, इन्जीनियर, डाक्टर, धर्मात्मा और विवेचक इत्यादि सभी कुछ हो सकता है। इसी प्रकार एक समय में भी उसके अनेक रूप हो जाते हैं। पहले प्रकार के रूप-वैभिन्य का आधार विभिन्न शक्तियो का समयापेक्षी विकास होता है, और दूसरे प्रकार का आधार विभिन्न व्यक्तियो के 'रूप-ग्रहण' का विभिन्न प्रकार।

अन्तर्निहित शक्तियो मे से जो सबसे अधिक विकसित होकर सामने आती हैं उसी के आधार पर पीछे आनेवाली पीढी व्यक्ति का वर्गीकरण करती है। पर जो शक्तियाँ अल्प-विकसित या अर्द्धविकसित रूप में रहती हैं उनकी उपेक्षा करने मे व्यक्ति का परिचय पूरा नही होता। कहा केवल यह जा सकता है कि अनुकूल वातावरण और उपर्युक्त साधनो के अभाव से ही अमुक पुरुष अमुक रूप में पूर्णतया प्रकट हो सका, यद्यपि उसमें क्षमता अन्य रूप में प्रकट होने की पर्याप्त थी। यही उत्तर द्विवेदी जी के 'कवि' होने या न होने के विषय में दिया जा सकता है।

द्विवेदी जी के कवि का प्रथम उन्मेष १८८५ में हुआ था। उससे कुछ ही समय पूर्व हिन्दी-साहित्य में एक नया आलोक भरकर भारतेन्दु अस्ताचल की ओट में जा चुके थे, उनके सहकारी 'प्रभात के नक्षत्रो' के रूप में यत्र-तत्र प्रकाश बिखेर रहे थे। प्रेमघन जी इनमें अग्रगण्य थे। हिन्दी-साहित्य के नवागन्तुको के लिए वे ही 'ध्रुव' थे। उन्ही की शैली का अनुकरण करने की चेष्टा की जाती थी। 'कवि श्रीधरलक्षित नायिका' का काव्यकुञ्ज से क्रमश वहिष्कार किया जा रहा था और उसके स्थान पर कभी विक्टोरिया, कभी दादाभाई नौरोजी, कभी नागरी और कभी भारतमाता की मूर्ति प्रतिष्ठित करके अर्चना-वदना की जा रही थी। कविता-पाठ करते समय अभी भारती 'श' और 'क्ष' का उच्चारण नही कर पाती थी। इसी समय द्विवेदी जी की काव्य-मन्दाकिनी धीरे-धीरे उतर रही थी। पथ अनिर्दिष्ट था, वह कहीं पर पुराने मार्ग का अनुसरण करती थी और कही पर नये का। कभी—

भ्रूभगहीन रदनच्छद भिन्न नारी
वेणी विशाल तिल गाल गले निहारी।
सालस्य प्रात रति-सूचक चिह्न लीन्हे
आवै गृहागन मुखावर ओट कीन्हे॥

के रूप में 'सुरत-श्रान्ता का रस-पान कराती', कभी—

कल्याणि नागरि! इती विनती सुनीजै।
माता दयावति! दया न कमी करीजै।
हूजै अधीर जनि, यद्यपि होति देरी
सेवा अवश्य करिहैं, हम सर्व तेरी!

के रूप में आर्त नागरी माता को उसके वीर पुत्रों का सन्देश पहुँचाती थी। अभिप्राय यह कि १९वी सदी का अन्तिम और बीसवीं सदी का प्रथम चरण भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से सक्रान्ति-काल था। सूर, शशि और उडुगन महोदयो के प्रति श्रद्धा थी, देव-विहारी और पद्माकर के लिए भी मोह था, पर दिलो में गुलामी की कसक, अपनी दयनीय परिस्थिति की चिन्ता और अपनी असमर्थता के प्रति रोष भी था। काव्य-कामिनी का कण्ठ मधुर था, पर हृदय कड़ुआ हो चुका था। फलत उसके राग में आकर्षण नहीं था। इस दशा में हम किसी महाकाव्य की आशा तो कर ही नही सकते, फुटकर रचनाओ की कर सकते है, और उनका मूल्याकन भी ऐतिहासिक महत्त्व के आधार पर किया जा सकता है।

पूज्य द्विवेदी जी जन्मजात नेता थे। अपने कार्यक्षेत्र में सदैव नवीन परिवर्तन लाते रहने की प्रवृत्ति उनमें पद-पद पर पाई जाती है। उनका कवि 'विनय-विनोद' के रूप में गा रहा था—

भवभयभंजन नाम तव बोलत वेद पुकारि,
पतित-उधारन लीजिए हा हा मोहि उबारि।

कि उनकी दृष्टि मराठी की रचनाओ पर पडी, जिसमें सस्कृत के वर्णवृत्तो का प्रयोग बडे लालित्य के साथ किया जा रहा था। कला की अभिव्यक्ति छोड कर कवि नेतृत्व की धुन में लग गया और अपनी रागिनी को इन छन्दो में सुनाने लगा—

वानी दानी भवानी विमल बुधिमती लोकलोकेश रानी,
माता अभोज-गाता सकल फल लता श्रीस्वरूपा सयानी।

× × ×

यह सुधाकर चादर लाज की,
अहह खैंचत यो सिरताज की,
वरत वारि लगैं तपते घनी,
सुभगिनी यम की यमुना ठनी।

× × ×

आम्रप्रसून श्रवणस्थ परागपूरे,
वाला कपोल कमनीय बनाय धूरे,
लोभी मलिन्द मुख छावत दुखदायी,
जैसे ग्रसै शशिहि सर्भिवि राहु जाई।

इस प्रवृत्ति का हिन्दी मे विरोध भी हुआ और अनुकरण भी। अनुकरण तो यहाँ तक हुआ कि वर्णवृत्तो में फुटकर रचनाओ की कौन गिनती, 'महाकाव्य' तक लिख डाले गये। हम इसे भी उनकी सफलता मानते हैं। पर कवि की नही, नेता की। इस मार्ग के सुचालित हो जाने पर द्विवेदी जी की प्रतिभा ने फिर नई करवट ली। व्रजभाषा का काव्य-भाषा पर एकाधिकार उन्हे अस्वाभाविक लगने लगा, अत उन्होंने प्रचलित बोलचाल की भाषा को काव्यक्षेत्र में लाने का आयोजन किया। फलस्वरूप खडी बोली के लिए व्रजभाषा को स्थान खाली कर देना पडा। यहाँ भी उनके नेतृत्व की विजय हुई। उनका कवि शनै शनै इस नेता के नीचे दब गया।

द्विवेदी जी के जीवन में जैसा कि 'द्विवेदी-काव्य-माला' को देखने से स्पष्ट हो जाता है, ऐसा कोई भी समय नही था जब द्विवेदी जी ने अपने विचारों और भावनाओं को पद्यबद्ध करने से सन्यास ले लिया हो। जीवन भर समय समय पर उनकी वाणी छन्दों मे प्रस्फुटित होने का प्रयास करती रही। फिर भी हम कहते हैं कि द्विवेदी जी का कवि नेता के

नीचे दब गया था। उनके समस्त काव्य का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जायगा।

'काव्य-माला' में विभिन्न विषयो की कवितायें है। स्थूल-दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि कवि किसी विशेष भावना से अनुप्राणित होकर नही लिखता। सयोगवशात् जो विषय सामने आ जाता है उसी पर लिखने लगता है। उसका उद्देश्य मनोविकारो का चित्राकन तथा भावो का व्यक्तीकरण नही, बल्कि भाषा और छन्दो का प्रदर्शन ही है। बात कुछ कुछ ठीक अवश्य है, परन्तु उतनी ही जितनी कि किसी व्यक्ति की वेषभूषा देखकर उसके विचारो के विषय में हमारा अनुमान। इसमें सन्देह नही कि द्विवेदी जी के काव्य में वेश का आकर्षण अधिक है और उनकी भूमिकायें खुले शब्दो में घोषित करती है कि वे छन्दो के प्रयोग के लिए या भाषा के नमूने दिखाने के लिए किसी सस्कृत-काव्य का अनुवाद कर रहे हैं, या मौलिक पुस्तक लिख रहे हैं, परन्तु यदि हम उनकी भूमिकाओ को प्रमाण-रूप में उद्धृत करके उनके काव्य की आत्मा—वेश के नीचे छिपे हुए हृदय को—देखने से इनकार कर दें तो यह बडी भारी भूल होगी।

हम 'न कुछ' को भावुकतामयी दृष्टि से देखकर तथा उसे उधार ली हुई शब्दावली में व्यक्त करके 'बहुत कुछ' प्रमाणित करने की चेष्टा करने के पक्षपाती नही है। हमारे इस कथन का केवल इतना ही अर्थ है कि द्विवेदी जी के हृदय में काव्य-भावना आरम्भ से ही थी और यदि उन्हें भाषा-निर्माण के कार्य में न पडना होता तो वे एक उच्च कोटि के कवि होते। द्विवेदी जी का कवि उनके समीक्षक से कही अधिक श्रेष्ठ था। परन्तु परिस्थितियो ने तथा उनकी जन-कल्याण की पूत-प्रेरणा ने उनके समीक्षक को हठात् अधिक प्रबल कर दिया।

चाहे द्विवेदी जी ने छन्दो के प्रदर्शन के लिए लिखा हो, चाहे भाषा के नमूने के लिए, अथवा केवल मनोरजन के लिए किसी सयोगप्राप्त विषय पर लेखनी चलाई हो, उनके समस्त काव्य में एक भावना निरन्तर पाई जाती है। कभी हम उसे स्पष्ट रूप से व्यक्त हुआ पाते हैं, कभी केवल उसका आभास-मात्र मिल सकता है, और कभी वह भी ओझल-सा होने लगता है, परन्तु ऐसे स्थलो पर भी उनके काव्य के वातावरण में वह इस प्रकार घुली-मिली रहती है कि यदि हम उनके कवि के व्यक्तित्व से परिचित हो तो उसके समझने में भूल नहीं कर सकते। वह भावना उनकी उस कविता में जो उन्होने २४ वर्ष की अवस्था में छपाई थी, सबसे पहले व्यक्त हुई है। कितनी छोटी अवस्था में हम उन्हें कहते

बाल्यावस्था आदि दै कछु न भलाई कौन ।
काह कहहुँ करणी कुटिल जप-तप-कर्म-विहीन ॥
हे विधि अब मेरी दशा होवैगी धौं कौन।
नीच मीच मुख मलिन खल महापतित अघ-भौन ॥

ऐसा जान पडता है कि यह व्यक्ति आयु से पहले ही वृद्ध हो चला है। सहसा विश्वास नही होता कि ये भाव वास्तव में लेखक के हृदय से प्रसूत हुए हैं अथवा उसने पढ-लिखकर, सुन-सुनाकर कविता करने के लिए लिख डाले है। जो भी हो, इसमें सदेह नहीं कि द्विवेदी जी ऐसे ही वैराग्य-पूर्ण, भक्ति-भावपूर्ण वायुमण्डल में पले थे, और उस वायुमण्डल की आस्तिकता उनके अणु-अणु में परिव्याप्त हो गई थी। यही भक्ति-वैराग्य-पूर्ण शान्त-भावना द्विवेदी जी के काव्य का स्थायी भाव है, यही उसका प्रधान रस है। पर न तो द्विवेदी जी का काव्य भक्तो के पारायण का विषय हो सका और न उनका जीवन भक्तो की सूची मे आ सका। हमने प्राचीन भक्तो की जीवनियाँ पढी हैं, प्राय सभी में यह पाया जाता है कि जो कल अत्यन्त विषयासक्त, लम्पट और दुराचारी था वही आज किसी आकस्मिक घटना के प्रतिघात से भक्तो की माला का सुमेरु हो गया। द्विवेदी जी के जीवन में ऐसी कोई घटना नही हुई, इसलिए उनकी भक्ति और वैराग्य-भावना केवल एक आस्तिक हिन्दू-गृहस्थ की भक्ति होकर रह गई, जो वैराग्य को सराहते हुए भी, ससार को माया-जाल कहते हुए भी उससे दूर नहीं भागती। इसी लिए उनकी भक्ति में तीव्रता और गहनता की कमी है।

द्विवेदी जी ने लिखा था—

कब मैं मन धरि ध्यान शुचि जाय गुहा गम्भीर।
शिला बैठि सब कहहुँगो तुमसन अपनी पीर।

परन्तु नवयुवक इस सकल्प को अपने मन में जमा नही सका; और उसे—

चली कली-सी सुसद्देट पीय की।
सराहती तीय उछाह हीय की॥
नचावती नैन छकावती सखी।
गई छबीली न कहूँ किहूँ लखी॥

ने मुग्ध करके रूप और रग के चटकीले काव्य-मय जगत् में बाँध लिया। यद्यपि वह अपने मन को उद्बोधन दे चुका है कि 'अजहूँ निश्चलशान्तचित मोह निशा तें जागि,' तथापि वह—

अधखुली पलकैं अलकैं घनी,
उर उनग अनग मनो अनी।

ललित अग सुरग घुरग हैं,
गति वसी जन सीव मतग हैं ।।

की ओर से अपनी आँखें नहीं मोड सकता। सौन्दर्य का ससार युवक के मन को आकर्षित करता ही है। हमारे वीच के पूर्वज उस सौन्दर्य का उपभोग करते तो थे, पर इसलिए नहीं कि वह वास्तव में उपभोग्य है, वरन इसलिए कि वे उसका लोभ सवरण करने में अपने को असमर्थ पाते थे, और जहाँ उन्हें ऐसा सामर्थ्य प्राप्त हुआ, अर्थात् जैसे ही उनकी इन्द्रियो का सामर्थ्य घटा कि वे अपने उपभोग, उपभोग्य और स्वय भोक्ता से घृणा करने लगते थे। द्विवेदी जी भी हमारे उन्ही पूर्वजो की श्रेणी मे हैं; और यह पूर्वजो की श्रेणी द्विवेदी जी की पीढी तक ही सीमित नहीं रह गई, उसकी परम्परा आज भी चल रही है। इस प्रकार द्विवेदी जी क काव्य में जिस मनोवृत्ति की व्यजना है वह हमारे समाज के व्यक्तिगत जीवन मे एक प्रकार का स्थायित्व-सा पा चुकी है।

भोग और वैराग्य की इन परस्परविरोधी भावनाओ में द्विवेदी जी ने सदैव दूसरी को प्राधान्य दिया है, इसमें सन्देह नही। जिस प्रकार राधा-कृष्ण की नग्न-रति-केलि का वर्णन करनेवाले कविवर विद्यापति भी अतत भक्त ही थे, उसी तरह—

तरल नेत्र भृकुटी कुटिल पीन पयोधर भार,
अवरामृत हू ते व्यथा होति न करिय विचार।
रोमावलि लखि ताप पै अधिक अधिक अधिकाय।
निज कर अक्षर पवित जनु लिखी मैन चितलाय।।

लिखनेवाले द्विवेदी जी, वृद्ध होकर नही, वल्कि नई जवानी में लिखते हैं—

निरमल गृह अति शुभ्र अरु तरुणी भोग-विलास।
अग अनूपम वहुरि जो जग सुखदायक भास।।
इन सवही को जानियो प्रेमततु कर जाल।
कामी कृमि फँसि जासु तें तलफत दुखित विहाल।।

परन्तु—

केश मुक्त उर विच पतित किंचित मुकुलित नैन।
परम रम्य मुसुकानि मृदु प्यारे कोमल वैन।।

को देख-सुनकर—साक्षात् सौन्दर्य का गतिमय—प्राणमय चित्र सामने पाकर किस युवक का हृदय आन्दोलित न होगा। द्विवेदी जी ने स्पष्ट शव्दो में इस
[illegible]

कठिन स्तन नव चारु मुख रे मन लख अकुलात।
जो चाहत ऐसहि प्रिया करु तप काह सिहात ॥
कटि केहरि कमनीय विधु—आनन रूप रसाल।
प्राप्त जाहि सुन्दर नवल ताहि स्वर्ग सब काल ॥

वे तो यहाँ तक स्वीकार करने को तैयार हैं कि—

या ससार असार में चतुरन कहँ गति दोय।
तत्व ज्ञान अमृत सुदृक पान करत नर कोय ॥
नातर मदन विलासिनी जघन अग सुकुमार।
परसि लहत सुख द्वै विहति जग न आन आचार ॥

परन्तु उनकी यह भावना स्थायी नही है, वे जानते हैं कि—

मोह अध मदग्रस्त जब मदन हाथ बिकि जात।
सकल विश्व तब नारिमय दशहूँ दिशा दिखात ॥

उन्हें अपने चित्त पर विश्वास है। भले ही वह क्षणिक मोह मे पडकर भ्रम मे पड जाय, अन्त को तो वह वही टिकेगा जहाँ उनके अन्तरतम की कोमल भावनायें विश्राम पाती है। इसी लिए वे ललकार कर कहते है—

निज कोदड चढाय किमि ठनकारत तू मैन।
सिर धुनि धुनि बोलत वृथा कोयल हू मृदु बैन ॥
री कटाक्ष चचल कहाँ मुग्धे पुनि पुनि मार।
चित्त शरग भगवत की गह्यो विनाश विकार ॥

'स्नेहमाला' के शृगारप्रधान वातावरण में भी वैराग्य की एक हलकी-सी छाया बराबर परिलक्षित होती है, जो अन्त तक आते आते स्पष्ट रूप में व्यक्त हो जाती है। कवि ब्रह्म के एकत्व के दर्शन की आकाक्षा करता हुआ कहता है—

कृपा तिहारी के बिना सो मिलि सबहि सकैन।
विश्व-विमोहन एक रस श्रीपति सुखमा ऐन।

'स्नेहमाला' के ५ वर्ष पहले द्विवेदी जी ने श्री 'महिम्नस्तोत्र' का अनुवाद किया। उनकी भक्तिपूर्ण मनोवृत्ति का यह स्पष्ट प्रमाण है। परन्तु ठीक उसी के साथ—केवल एक मास बाद 'ऋतुतरगिणी' की रचना हुई है। 'गगा-लहरी' और 'देवीस्तुतिशतक' भी लगभग इसी काल की रचनायें हैं। इन रचनाओं को देखकर ऐसा लगता है कि द्विवेदी जी के मन के भीतर भक्ति और शृगार, वैराग्य और भोग में पारस्परिक सघर्ष हो रहा था। उनकी ऐंद्रियिक भावना प्राचीन काव्य और जगत् के सौन्दर्य से प्रेरणा पाकर उन्हे काव्य के चिरन्तन भाव-शृगार की ओर आकर्षित

करती थी, किन्तु धार्मिक सस्कार और स्वाध्याय उस भावना को दवाने का प्रयत्न करते थे। उनकी काव्य-प्रवृत्ति घोर वैराग्य और गम्भीर भक्ति में क्यो नहीं परिणत हो सकी, इसका कारण हम ऊपर दे चुके हैं। साथ ही वह शृगार में भी स्थिर न रह सकी और इसके कारण परिस्थितियो ने उपस्थित कर दिये। 'काव्यमजूषा' की कविताओ को देखकर हम इसे स्पष्ट-रूप से समझ सकते हैं। काव्य की भाषा वदलने के पहले ही काव्य का विषय वदलने लगा। काव्य में शृगार हेय समझा जाने लगा। और यह स्वाभाविक ही था, क्योंकि जिस समय—

लोचन चले गये भीतर कहुँ कटक सम कच छाये।
कर में खप्पर लिये अनेकन जीरण पट लटकाये।
मासविहीन हाड की ढेरी भीषण भेष वनाये।
मनहुँ प्रवल दुर्भिक्ष रूप वहु धरि विचरत सव पाये।

यह हालत हो, उस समय कामिनी के कुन्तल-कुच-कटि का वर्णन करना घोर निर्लज्जता है—कवि के उन्नत आदर्श से पराङ्मुख होना है—

प्रिये! प्रिये! कहि कठ लगावहु जिनको अति सनमानी।
उन समान लाखों अनाथिनी तिया नैन भरि पानी।
तजि घर-द्वार अहार देत वहु वोलत गद्गद वानी,
तिनकी ओर तनिक तो चितवहु करुणा कहाँ भुलानी।

जैसी कवितायें लिखना वह ऊँचा आदर्श है जो कवि को व्यक्तिगत भावनाओ से ऊँचे उठाकर उसे जन-जन के—समूह के—मनोविकारो को अपनाकर व्यक्त करने की प्रेरणा देता है। जिस समय द्विवेदी जी लिखते हैं—

भई भर्तृहीना जे नारी तिनकी क्लेश-कहानी।
सुन पत्थर हू फटै, और की गति को कहै वखानी॥

उस समय उनकी अभिव्यक्ति के प्रकार को भले ही इतिवृत्ति-मय कहा जा सके, काव्य की कोमल भावना से शून्य होने का आरोप उन पर नही लगाया जा सकता। जो धार्मिक-प्रवृत्ति यौवन के मदमाते झोको को सहती हुई अपने पैर जमाये रही वही लोक-जीवन की त्राहि त्राहि सुनकर करुणा वनकर फूट पडी। वही छदो में गुथकर कभी वाल-विधवाओ के, कभी कान्यकुब्ज-कन्याओ के, कभी नागरी के, कभी दुर्भिक्ष-पीडितो के और कभी कुल मिलाकर दयनीय भारतीयो के असहाय करुणा-विलाप के रूप में प्रकट हुई है। उसी करुणा ने आज की समीक्षा में 'इतिवृत्तात्मकता' का नाम पाया है। इसी जन-समाज की करुणा को अपनाकर मैथिलीशरण गुप्त आदि कवि हो गये, परन्तु द्विवेदी जी कवि न हो सके। उनके कवि न होने का वही कारण है जो औरो के कवि हो सकने का है। यह कहानी सर्व-विदित है, फिर भी हम यहाँ उसे दुहराना आवश्यक समझते है, क्योंकि उसी

में द्विवेदी जी का कवि, जो विभिन्न भावनाओ के साथ सघर्ष करता हुआ एक निश्चित दिशा की ओर अग्रसर हो रहा था, अपने व्यक्तित्व को लीन करता हुआ दिखाई देता है।

द्विवेदी जी की कविता के लिए इतिवृत्तात्मकता का आरोप नया नही है। यह आरोप तो उतना ही पुराना है, जितनी पुरानी उनकी यह नये प्रकार की कविता है। काव्य-जगत् में यह एक नवीन युग का प्रवर्तन था। द्विवेदी जी ने मध्यकाल से चली आती हुई काव्य की प्राय समस्त परम्पराओ को छिन्न-भिन्न कर दिया। काव्य का विषय और काव्य का स्वरूप—भाषा-शैली और छद—दोनो बदल गये। क्रान्ति को सहन करने की क्षमता बहुत कम व्यक्तियो में होती है। जिनमें यह क्षमता न थी वे द्विवेदी जी से लोहा लेने को तैयार हो गये। इस समय भी द्विवेदी जी यदि भवभूति का आदर्श मानकर यह सतोष कर लेते कि इस अनत काल मे और विस्तृत धरा पर कभी न कभी कही न कही कोई समान-धर्मा उत्पन्न होकर मेरे काव्य की सराहना करेगा ही तो वे अपने कवि की रक्षा कर लेते। परन्तु उन्होने कवि की अमरता को ठुकरा दिया। कवि-कर्म को छोडकर उन्होने कविता के नवीन आदर्शो का विरोध करनेवालो से निपट लेने की ठान ली। यही उनके कवि का उपराम होता है और उनका दर्शन हमें उग्र समीक्षक, व्यग्य-प्रहारक और सफल सेनानी के रूप में होता है। अपनी काव्य-भावनाओ को उन्होने सदा के लिए सुलाकर औरो का मार्ग प्रशस्त कर दिया, और उन परिस्थितियो का निर्माण कर दिया जिनमें हमारी आधुनिक काव्य-भावना पूर्णरूप से व्यक्त हो सकी।

परन्तु जिसके हृदय मे वास्तविक काव्य का बीज अकुरित हो चुका था उसके लिए कविता मे एकदम सन्यास लेना समव नही था। केवल उसकी अभिव्यक्ति का ढग बदल गया। जो स्निग्धता और कोमलता उनकी विनय और करुणापूर्ण कविताओ में पाई जाती है वही अब कटु कटाक्षो और तीव्र व्यग्यो में परिणत हो गई। खीभकर उन्हें लिखना पडा—

शुद्धाशुद्ध शब्द तक का है जिनको नही विचार।
लिखवाता है उनके कर से नये नये अखबार॥

(विधि-विडम्बना)

सती हुई क्या कवि कालिदास के, शरीर के साथ तभी अनाथ हो?
विलुप्त किं वा भवभूति-मग ही हुई मही मे अवलम्ब के बिना?

(कविते!)

अथवा

अन्य देश भाषा का ज्ञान, कालकूट के घूंट समान,
स्वय मातृ-भाषा भी जिनको देख देख घबडाती है।

भाडे पर रख विज्ञ विशेष,
लिखवाते हैं जो निज लेख,
ग्रन्थकार पदवी उनको ही दौड दौड लिपटाती है।
(ग्रन्थकार)

ऐसी कविताओ में द्विवेदी जी का व्यग्य देखने योग्य है—कभी सीधा, कभी तिरछा, कभी हलका, कभी गहरा। 'ग्रन्थकार' व्यग्य से भरा पडा है। 'वलीवर्द' से एक उदाहरण लेते है—

घनी पुरुप गद्दी के ऊपर धोती भर कटि से लिपटाय,
तुदिल तनु पर हाथ फेरता रहता है घमड में आय।
वृपभराज ! तुम भी निज थल पर झूल पीठ परते लटकाय,
पूँछ फिराते हो शरीर पर बैठे ही बैठे सुख पाय।

प्रस्तुत के साधारण वर्णन के वहाने अप्रस्तुत की कैसी कठोर विगर्हणा की गई है ।

इतनी मुँहफट वात कहनेवाले के मन मे जो गहरी चोट है उसका अनुमान किया जा सकता है। किन्तु सदैव खरी-खोटी सुनाकर द्विवेदी जी अपने मन को क्षुब्ध ही करते रहे हो, यह वात नही है। क्षोभ के वीच वीच उनके उस विनोद के भी दर्शन हो जाते है जो विरोधी को मूर्ख वनाकर अट्टहास कर उठता है और भीतर द्वेप रखकर भी ऊपर से प्रसन्नता प्रकट करता है। 'टेसू की टाँग' या 'गर्दभ-काव्य' इसी के उदाहरण हैं, जैसे—

गदा भर भई गदा घर, चादर चियडो की दुल्तर।
चने पडे उस पर चुरमुर्रे, वोलो लडको हिप हिप हुर्रे।

द्विवेदी जी ने जिस परिस्थिति में लिखा था, उसमें निर्दोष व्यग्य लिख सकना प्राय सभव नहीं था। कही कही उनके व्यग्य में तीव्रता की कमी अवश्य है, परन्तु उसमें भी प्रसग मिलाने पर कटुता का आभास मिल ही जाता है। 'जम्बुकी न्याय' की टेक—

यह सुन वुड्ढा जम्वुक वोला, सव वातो को उसने तोला।
"वाह न अव कुछ वाकी रहा। खूव कहा जी खूव कहा।"
तव कुनवे के जम्वुक सारे, खडे होगये न्यारे न्यारे।
"हुआ हुआ जी खूव हुआ"—कह वुड्ढे का क़दम छुआ॥

में काफी तरल विनोद है। इनकी व्यक्तिगत आक्षेपो से रहित समाज-सुधार-सम्वन्धी कविताओ में जो व्यग्य हैं उन्हें हम सुन्दर मान सकते हैं, जैसे—

जरा देर के लिए समझिए आप षोडशी क्वारी हैं।

× × ×

मान लीजिए नयन आपके कानो तक बढ आये है
पीन पयोधर देख आपके कुजर-कुभ लजाये है। (ठहरौनी)

मार्गनिर्माणकर्त्ता सेनानी के कठोर कार्य-काल में भी द्विवेदी जी की कोमल काव्य-भावनायें यदा-कदा किसी न किसी बहाने से अभिव्यक्ति पाने की चेष्टा करती रही है। सन् १९०२ में उन्होने 'कुमारसभवसार' लिखा। महाकवि कालिदास के कुमारसमव के प्रथम पाँच सर्गों का अत्यन्त प्रवाहयुक्त शैली में अनुवाद करते हुए द्विवेदी जी ने इसकी रचना की है। साथ ही समय समय पर वे प्रसिद्ध चित्रकार रविवर्मा के चित्रो पर शृगारमयी कवितायें लिखते रहे है। यद्यपि ये कवितायें अधिकतर वर्णनात्मक हैं, फिर भी लेखक की जान-बूझ कर दबाई हुई काव्य-प्रवृत्ति पर इनसे पर्याप्त प्रकाश पडता है।

काव्यभाषा

सन्१८८९ मे 'विनयविनोद' के प्रकाशन से लेकर सन् १८९२—'देवीस्तुतिशतक' के प्रकाशन—तक द्विवेदी जी ने केवल व्रजभाषा में कविता लिखी। १९०२ में 'काव्यमजूषा' छपी थी। इसमें १८९७ से लेकर १९०२ तक की कवितायें सगृहीत हैं। 'काव्य-मजूषा' मे व्रज और खडी बोली दोनो की कवितायें है। सन् १९०० द्विवेदी जी की काव्य-भाषा का परिवर्तन केन्द्र है। अप्रैल १९०० मे प्रकाशित 'कृतज्ञता-प्रकाश' कविता खडी बोली मे नही है, किन्तु १९ अक्टूबर के श्री वेंकटेश्वरसमाचार में प्रकाशित 'बलीवर्द' शीर्षक कविता खडी बोली की है। १९ नवम्बर सन् १९०० के 'हिन्दी-बगवासी' में प्रकाशित 'मासाहारी को हटर' फिर व्रज-भाषा में है, परन्तु इसी महीने की 'सरस्वती' में उन्होने 'द्रौपदी-वचन-बाणावली' खडी बोली में लिखकर छपाई। इसके बाद की जितनी भी कवितायें छपी है, एकाध को छोडकर जो व्यग्य और कटाक्ष के लिए लिखी गई है, सबकी सब खडी बोली में हैं।

व्यवस्थित रूप मे खडी बोली मे लिखने के पहले जितनी कवितायें छपी हैं उन्हें हमने स्थूलरूप मे 'व्रज-भाषा' के अतर्गत रक्खा है। वास्तव में व्रज-भाषा का काव्यमय निखरा हुआ रूप उनमें नही मिल सकता। इसके कई कारण है। एक तो व्रज-भाषा का कोई सर्वसम्मत रूप सामने था ही नही, जिसे आदर्श बनाकर काव्य-निर्माण किया जाता, इसी लिए छदो और विशेषकर तुको में सटीक बैठाने के लिए शब्दो के मनमाने रूप कर लिये जाते थे। साथ ही द्विवेदी जी बहुधा सस्कृत के वृत्तो में लिखते थे, जिससे यह कठिनाई और भी बढ गई थी। दूसरे द्विवेदी जी ने प्राय सस्कृत के काव्यो के अनुवाद किये हैं। अत उनमें भाषा की वह सफाई नही आ सकी जो उनकी मौलिक रचनाओ में है।

यहाँ पर एक बात अवश्य ध्यान देने की है, और वह यह कि द्विवेदी जी

ने खडी वोली का नेतृत्व करने के पहले भापा के सुधार और मार्जन की ओर ध्यान ही नहीं दिया था। उनकी-जो कवितायें खडी वोली में नही है उनके कुछ नमूने लेकर उक्त कथन को प्रमाणित किया जा सकता है—

परम विपय यह विपय है जिन आलम्वन कीन।
तिन सव भाँति विगारेऊ सके न करि आधीन॥

(विनयविनोद—१८८९)

छाये मेघ चहूँ दिशानि लखिकै श्यामा ललामा महा।
घोरारण्य मझार श्याम हँसिकै हो गेह जैयो कहा।
प्यारी आयसु पाय जाय हरि के सकेतित-स्थान में।
कालिदी वर कूल केलि करिही आनन्द पागे रमे।

(विहारवाटिका—१८९०)

विवाता है कैसो रचत त्रैलोकै किमिसुई।
धरे कैसी देही सकल किय वस्तू निरमई।

(श्रीमहिम्नस्तोत्र)

'ऋतुतरङ्गिणी', 'श्रीगगालहरी', और 'देवीस्तुनिशतक' की भी भापा इसी प्रकार की है। 'काव्यमजूपा' में द्विवेदी जी की व्रज-भापा और खडीवोली दोनो की कवितायें है। व्रज-भापा की कविताओ के विपय में यहाँ भी कोई नवीन वात नहीं मिलती। किन्ही किन्ही कविताओ से यह अवश्य सूचित होता है कि किस प्रकार धीरे वीरे द्विवेदी जी की काव्य-भापा व्रज से खडी वोली की ओर खिसकती आ रही है। २९ अगस्त १८९८ के हिन्दी-वगवासी में प्रकाशित 'गर्दभ-काव्य' से हम दो-एक उदाहरण लेते हैं—

हरी घास खुरखुरी लगै अति भूसा लगै करारा है।
दाना भूलि पेट यदि पहुँचै, काटै अस जस आरा है।
× × × ×
शिशिर वसत हिमत एक नहिं ग्रीपम हमको प्यारा है।
तपती भूमि गाँव के वाहर वरफिस्तान हमारा है।

जहाँ 'अस', 'जस' जैसे प्रयोग व्रजभापा की अस्थिरता प्रदर्शित करते हैं, वहाँ 'हमको' जैसे प्रयोग और तुकात का आकारात खडी वोली की ओर सकेत करता है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है १९०० के वाद की लिखी हुई प्राय सभी कवितायें खडी वोली की है। 'द्रौपदी-वचन-वाणावली' खडीवोली की कदाचित् पहली कविताओ में से है, इसी लिए उसमें कही कही व्रजभापा का आभास मिल जाता है, जैसे—

धर्मराज से दुर्योवन की इस प्रकार सुनि सिद्धि विशाल।
चिंतन कर अपकार शत्रु-कृत, कृष्णा कोप न सकी सँभाल।

'विधि-विडम्बना' (१९०१) की भाषा में भी खडी बोली भली भाँति नही निखर पाई है, जैसे—

कपिल कणाद, पतजलि, गौतम, व्यास आदि वर विज्ञानी।'
जिनकी कीर्ति-ध्वजा अभी तक सतत फिरै है फहरानी।
उनको भी तूने क्षणभगुर किया, विवेक विहाय,
दिखलावैं हम तेरी किन किन भूलो का समुदाय?

'हे कविते!' में भी यही बात पाई जाती है। वार्णिक वृत्त भी इसका एक कारण है, जैसे—

सदा समस्या सबको नई नई, सुनाय कोई कवि पाय पूर्तियाँ।
तुझे उन्ही में अनुरक्त मान, वे, विरक्त होते नहि, हा रसज्ञता।

परन्तु शैथिल्य के होते हुए भी इसी समय से द्विवेदी जी की कविता की भाषा में परिमार्जन और प्रवाह आरम्भ हो जाता है। 'कुमारसभवसार' यद्यपि अनुवाद है, फिर भी उनके पिछले अनुवादो से उसकी भाषा कही अधिक प्राजल और प्रवाहयुक्त है। 'तिसमे' जैसे एकाध प्रयोग अवश्य कही कही मिल जाते है, पर सस्कृत-पदबहुल होते हुए भी उसमें भाषा के उत्तरोत्तर प्रौढ होने के लक्षण मिलते है, जैसे,—

दल लेकर जिसके हुई मुदित सुरबाला,
नन्दन-वन उसने वही काट सब डाला।
दृग-अश्रुधार-ससिक्त-चमर कर धारी,
करती है उस पर पवन अमरपुर-नारी।

फुटकर रचनाओ में द्विवेदी जी की उस प्रौढ खडी बोली के दर्शन होते है जो उन्होने काव्य-भाषा के आदर्श के रूप में उपस्थित किया था—

हिन्दू मुसलमान ईसाई यश गावें सब भाई भाई।
सबके सब तेरे शैदाई फूलो फलो स्वदेश।
इष्ट देव आधार हमारे, तुम्ही गले के हार हमारे।
भुक्ति मुक्ति के द्वार हमारे, जै जै जै जै देश।

(१९२०)

× × ×

हिन्दी ही नहीं, सस्कृत मे भी द्विवेदी जी ने अपनी वाणी का प्रसाद वितरण किया था। उनकी सस्कृत-रचनायें हिन्दी-पत्रो के अतिरिक्त 'सस्कृत-चन्द्रिका' जैसे काशी से प्रकाशित होनेवाले सस्कृत के प्रमुख पत्र में ससम्मान स्थान पाती थीं। उनकी सस्कृत शुद्ध और काव्योचित थी। एक उदाहरण देखिए—

काश्चिन्नया सुनयना सुरनिम्नगादि—
स्नानच्छलेन युवकैः सह सगमाय,

ईयुर्मनोरथशत हृदि धारयन्त्य
सकेतितस्थलमनगनिपीडिताग्य ।

इतिवृत्तात्मकता

चारो ओर के वातावरण का प्रभाव कवि पर अवश्य पडता है। जव वातावरण में गद्यात्मक भावनायें प्रवल होती है तव प्रयत्न करने पर भी काव्य में उन्हे नही बचाया जा सकता। उदाहरणार्थ हमारे वीसवी सदी में वने हुए काव्यो या महाकाव्यो में से ऐसा एक भी नही है जिसमें गद्यात्मक भावनाओ की प्रचुर मात्रा न हो। यहाँ तक कि जिन कवियो को गद्यात्मक भावनाओ से चिढ-सी है वे भी मौक़ा पाते ही 'पापड-प्रतिषेध' या—'हँसे वे हमारे इस झुकते प्रणाम पर' जैसी गद्यमय पद्य लिखने से नही चूकते। इधर अनुभूतिवाद और यथार्थवाद के प्रभाव से तो अव प्राय 'गीत गद्य' लिखने की प्रथा चल पडी है। और आज का विचारक ऐसे गीतो में ही कला के मूलतत्त्वो का अन्वेषण करता है, पर यदि विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि वीसवी सदी के आरम्भ में वनी हुई कवितायें इसी इम्प्रेशनिज्म या रियलिज्म के अनगढ रूप हैं। उन दिनो समाज-सुधार, कुरीति-निवारण, स्वदेशी-प्रचार, हिन्दी-प्रेम आदि भावनायें हिन्दू-जीवन से ऐसी सम्बद्ध हो रही थीं, और घरे-वाहरे सर्वत्र उनकी ऐसी चर्चा थी कि कवि अपने को इनसे अलग रखकर अनाम-अरूप कला की आराधना करने में स्वय को असमर्थ पाता था। अत उन दिनो की कविताओ में यदि हमें इति-वृतात्मकता का प्राचुर्य मिले तो यह स्वाभाविक ही है। पर जिस व्यक्ति ने अपनी कोमल-से कोमल भावनाओ को हमारी भाषा के लिए, हमारे हित के लिए, भीतर ही भीतर घुटकर मर जाने दिया और कवियो की अमरता को ठुकराकर एक सेनानी की मृत्यु से मरना स्वीकार किया, उसकी व्यक्त, अर्द्धव्यक्त और अव्यक्त भावनाओ को "वातो के सग्रह" या "इतिवृतात्मक" जैसे स्थूल शब्द से याद करना घोर 'इतिवृत्तात्मकता' का परिचय देना है।

हमारे साहित्य के इतिहास अभी तक अधूरे है, उनके निष्कर्ष भी एक-पक्षीय तथा विवादास्पद है। सन्तोष यही है कि कविताप्रेमी कविता पढने के लिए उन तथाकथित इतिहासो की सहायता लेना आवश्यक नही समझते। जव पुराने कवियो की 'रचनाओ' को 'दिमागी ऐयाशी' कहकर वदनाम करने-वाले भी जनता में उसी प्रकार की—दिमागी ऐयाशी से भरी हुई—तुकवन्दियाँ सुनाकर वाहवाही लूट सकते हैं तव आचार्य द्विवेदी की ये रचनाये, जिनमें हिन्दी और भारतीयता के प्रति अटल अनुराग और तप की झाँकी मिलती है, जनता का कण्ठहार वनेंगी, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता।

—उमेशचन्द्र मिश्र

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड



स्वर्गीय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रथम खण्ड

द्विवेदी-काव्यमाला

प्रथम खण्ड

विनयविनोद

(सन् १८८९ मे पहले-पहल प्रकाशित)

दोहा

विश्वाधार विशुद्ध विभु विश्वम्भर वरगीत।
विमल विमोह विनाशकर विगतिविकार विनीत ।।
निराकार नर-केशरी केशव करुणाकन्द।
नमो निरजन ब्रह्म शुचि सुखद सच्चिदानन्द ।।
बुधजन मत्सर-ग्रस्त सब श्रीनि ान मदवन्त।
नवल सुभा ि त अपर किमि सुनहिं भयो इमि अन्त ।।
सुजन जगत उत्पत्ति ते लखि न परत कछु सार।
भय वि ाद अपवाद शत कुटिल कल्मषनि भार ।।
यद्यपि पुण्य प्रयोग ते वहुतनि ते अनुकूल।
भोगत भोग अनेक विधि जो अनर्थ कर मूल ।।
दुर्गमदुर्ग विदेश भ्रमि फल पावत कछु नाहिं।
तजि स्वजाति-कुल-कानहू निष्फल सेवा जाहिं ।।
काक सरिस पर-ेह हठि जात अनादर पाय।
तृष्णा तृप्त न होत तउ पाप विरति अधिकाय ।।
भूमि विदारत मूढ नर धनहित सहत कलेश।
सरि सरितापति तरत अरु तो त विविध नरेश ।।
मन्त्राराधन करि थकत निशा मशान गँवाय।
मिलत न एक वराटिकहु तृष्णा तरुण सुहाय ।।
लोभवध बँधि खलनकर कटुभाषण सुनि हाय।
दहत हीय ज्वाला विषम पै मुख वचन वनाय ।।
विहसत तिन मन की कहत कर जोरत परि पाय।
आशा इनि आधीन कर नित नव नाच नचाय ।।
अति चचल जलविन्दु जिमि कमलपात के माहिं।
क्षणभगुर यह जीव तिमि निमिप भरोसो नाहिं ।।
ताहू पै अविवेक ते रे मन भ्रमित सदाहि।
अल्प हेत हित याचना पातक करि न अघाहि ।।

भोग न भोगत भुगत ही वय इमि सकल सिराय।
तपहू तपत न वय तपत करत नित्य दुख पाय॥
काल गयो नहिं वय गई शिथिल परत सब गात।
तृष्णा नहिं जीरण भई वय जीरण ह्वै जात॥
मुख आकृति कछु और ही कच शित रद रद सोय।
अंग आपने नाहि पै तृष्णा तरुणी होय॥
इच्छा भोग निवृत्त भइ गयो पुरु कर मान।
कीन त्याग सुत बंधुजन सुहृद सुप्रान समान॥
अतिशय तनु जर्जर भयो श्रवण नयनहू दीन।
समुझि मरण भय तउ चकित अहो शरीर मलीन॥
आशा नदी विचित्र इक सुजल मनोरथ जासु।
तृष्णा उर्ध्व तरङ्ग सम कहिय अनेकन तासु॥
ग्राहवती जग प्रीति अरु तर्क विहग अनूप।
तरुवर-धैर्य-विध्वंसिनी मोह भमर के रूप॥
चिन्तातट दुस्तर परम विन प्रयास ना पार।
योगीश्वर मन शुद्ध जिन जात न लावत वार॥
परम वि म यह विषय है जिन आलम्बन कीन।
तिन सब भांति विगारेऊ सके न करि आवीन॥
अवशि तजत सो वेगिही अमित व्याधि उपजाय।
दुखप्रद भयप्रद नाशप्रद अघ ओघनि करराय॥
श्रुज्ञान विवेक ते निर्मल वुद्धि मुनीश।
सकल वासना विगत हित सा त विश्वावीस॥
आश्रित इच्छा करत वहु सुख संपादन हेत।
जन अप्राप्त चिन्तत अवुध काल कौर करि लेत॥
शांति अनंत अगाढ नित गिरिवर गुहा अनूप।
लाय समाधि सनेत नित ध्यावत विमल स्वरूप॥
आनन्दा नप्रेम जिन पीवत शुक पिक आदि।
धन्य धन्य तिन धन्य है सेवत ईश अनादि॥
प्रातहि उठि वहुविधि करत अ म मनोरथ रोज।
धनन-चय सोहा सुखद नवल धाम पट सोज॥
नार ओवन वरि करत आ क्षीण हतभाग।
गु पाप सुर अदहिं जिन हरिचरणन चित लाग॥

महादीन आधीन अति भिक्षाहित नित धाव।
उदर भरे नहिँ ताहु सन चित सतोप न पाव॥
देह एक परिजन शयन रैनि भूमि आधार।
वस्त्र जीर्ण शतखड कृत कथा दुख-आगार॥
विधि विहीन या विधि जऊ अधम दशा आरूढ।
ताहू पै मन, विषय विष हाहा तजत न मूढ॥
मोहित होत विलोकतहि जो स्वरूप सानन्द।
सो अतिशय अपवित्र अरु सब प्रकार ही मन्द॥
कुच कठोर कुदन कलश ग्रथी मास मलीन।
मुख सुश्लेष्मागार तिहि हिमकर उपमा दीन॥
करिवर सिर सम कहत पुनि मलमूत्रादिक माग।
घोर निंद्य ता कहँ कविन गुरु करि करे विभाग॥
अस्थि चर्म मज्जादिकन सुखद जानि इन माहिँ।
तहाँ रमत जे नर तिनहिँ कृमि किमि कहिये नाहिँ॥
निज न जानि असमर्थ उडि तीव्र अग्नि महँ धाय।
गिरत पतग विनाशहित अत न कछू वसाय॥
खाय सकटक कौर जिमि मरत मीन अज्ञान।
अनजानत सेवत विषय देत आपने प्रान॥
देखि मनुज प्रत्यक्षहू करत न कछू विचार।
अहो मोह महिमा प्रबल प्रेरत विपति अपार॥
अति उतग मेरो भवन मेरे पूत सुजान।
प्रिया परम कमनीय मम सुदरता की खान॥
यौवन धन नव तन निरखि मूढ अचल अनुमानि।
हठि जग कारागार महँ परत आपदा आनि॥
क्षणभगुर सर्वस्व लखि जिन खेंचो निज हाथ।
तिनके युगपद कमल में पुनि पुनि मेरो माथ।
निज तिय दीन मलीन मुख अति जर्जर कृशगात।
व्याकुल रोदति क्षुधित वहु व्यथा न कछु कहि जात॥
तापर शिशुता जीर्णता वसनन की न सँभारि।
गहत चहत भोजन सकल इत उत भवन निहारि॥
गदगद कठ विलोकि इमि याचत चहुँ दिशि धाय।
उदर हेत को सुजन जन वोलहिँ हाहा खाय॥

अभिमत मानसरोज कह अधम याचना नीच ।
चन्द्र चन्द्रिका सम सदा करत क्षीण जग बीच ॥
लज्जा वन वल्ली बनी खर कुठारिका सोय ।
काटत मूल समेत ते जामे फेरि न होय ॥
यह अति प्रबल विडम्बना लोक शोक की सार ।
अब कन्त करति निराम मुहिँ विनवहु बारबार ॥
महानिविड आरण्य जहँ मृग मृगपति गजवास ।
अपर पशूगण खग रमत नितप्रति करत विलास ॥
तहाँ जाय रहिबो भलो खैबो नव फल फूल ।
पै न दीनता दीन ह्वै करिबो मति अनुकूल ॥
भागीरथी तरग कण शीतल सीचत जाहि ।
विद्याधर मुनिवर कुशल सेवत जाहि सराहि ॥
सो मदर गिरिवर गुहा ना पद पायौ काह ।
लोभ ग्रसित विचरत सबै नर नरेश अरु शाह ॥
कदादिक शैलादिकन कीधौं भई विनाश ।
की गिरिवर निरभर भये कीन्हा अनल प्रकाश ॥
द्रुमशाखा रसयुक्त मृदु फल अरु वल्कल दानि ।
टूटि काह धरणी खसी समुझत लागत ग्लानि ॥
जानि यथा स्थित इन सबै नर युग नयनविहीन ।
उदर दिखावत मानहति कहत बैन अति दीन ॥
या दिन लो याँचो सबहि करो न कछू विचार ।
वृत्ति मूल फल फूल की अब तू जानु अधार ॥
प्रातकाल रवि किरण सम कोमल लाले पात ।
करु शय्या अरु चलु तहाँ जहाँ ब्रह्म दरसात ॥
अति व्याकुल अविवेक ते जे नर नित्य भ्रमात ।
तिनकर कबहूँ नामहूँ भूलि न उतै सुनात ॥
प्रतिवन अति घन पल्लवनि छाये तरुवर वृन्द ।
इच्छित फल सब काल में देत लेत आनन्द ॥
ठाम ठाम सरिता निकर मधुर सुशीतल वारि ।
वेलि मृदुल कोमल नवल कीजै सेज सँवारि ॥
नष्ट शील जन धन हित जाय धनीन दुवार ।
भोगत बहु सन्ताप अरु सहत क्लेश अपार ॥

शैल शिला विस्तीर्ण सित शय्या सुखद वनाय ।
धरत ध्यान जब शुद्धचित कानन काम नसाय ॥
अपनो अपनो करि गये जे दिन माँगत खात ।
हँसि आवत तब सुमिरि तिन सकल गात पुलकात ॥
योगीश्वर निज योग बल समदरसी सब काल ।
चिदानन्द चिन्तन चतुर परत न माया जाल ॥
जिन तन मन अरपन कियो रहे ज्ञान महँ पूरि ।
तिन चरणन की रेणुका मेरी जीवन मूरि ॥
भोग रोग भय होत है कुलच्युति भय सब देश ।
मन दरिद्र बल शत्रु भय धन भय नगर नरेश ॥
रूप सुरमणी भय बहुरि शास्त्र वादभय होय ।
गुण खलभय तन कालभय कहत सदा सब कोय ॥
जो कछु या ससार महँ सबहि नित्य भय लाग ।
तीनि काल त्रिभुवन अभय केवल एक विराग ॥
जन्मतहीं पीछे जरा करत आक्रमण रोज ।
तब यौवन या योग तें घटत नसात मनोज ॥
वित्त लोभ सन्तोष कहँ शम सुख तरुणी भोग ।
वनभूखल विषधर निकरि नृप विपत्ति अरु रोग ॥
ग्रास कीन एकैक इमि अति दुस्तर दिन लागि ।
को जानहि को सतपुरुष बचि हैं याते भागि ॥
आधिव्याधि शतश सकल मनदुख विविध प्रकार ।
खैंचि मूल आरोग्य की डारत एकहि बार ॥
जहँ लक्ष्मी कर वास है तहाँ विपत्ति अपार ।
अनचाहत आवत अवशि करिय उपाय हजार ॥
होत करत या भाँति ते जात वेगिही प्रान ।
रचो काहि स्वस्थिर सुचित विधि स्वतन्त्र बलवान ॥
भोग सुतुग तरग सम चपल भग ह्वै जात ।
प्राण महाप्रिय जो मुऊ क्षण इक माँहि नसात ॥
दिवस जात पल सम चले यौवन जो झलकात ।
देखतही देखत तुरत झट पट विनशि विलात ॥
यासो या ससार सब रे मन जानि असार ।
भली भाँति जो बनि सकै कीजै पर उपकार ॥

आयु वायु विघटित घटा अल्पकाल समुदाय।
विज्जुलता सम भोग सब चचल अति अधिकाय॥
जीव युवा सयोग तें कछु न भरोसा देत।
नातें हे सज्जन सुमन करिये हरि सो हेत॥
आयु लोल कल्लोल जिमि वेगि पाइ है नाश।
कितने दिन तारुण्य यह जाकी करिये आश॥
विण्य सकल सङ्कल्प सम भोग तडित आभास।
प्रेम तन्तु तिय परमप्रिय थिर न सदैव विलास॥
करि सुईश आराधना त्यागि वामना भार।
विन प्रयास चित चेति तू तरु भवसागर पार॥
जीवन महाअनर्थ महँ प्रविशत प्रथम शरीर।
गर्भवास करि कछुक दिन बहुदुख सहत अधीर॥
जन्मि जुवा उपभोग तें काटत कठिन कलेश।
जरा निन्द्य सब भाँतिही जहँ न शान्ति कर लेश॥
रे मन जगजगतीविषै तिलभरि सुख न दिखात।
फिरि तू कत इतउत भ्रमत श्रीपतिशरण न जात॥
जरा वाघिनी सम सदा गर्जहि सन्मुख घोर।
रोग शत्रु इव देह पैं करत प्रहार सजोर॥
फूटे घट को नीर जिमि आयु स्रवत नित जाय।
अनहित ताकन ताहु पैं हाहा कछु न वसाय॥
भोग विनाशी वृत्ति है जा सन जग जजाल।
उपजत सकल प्रपञ्च अरु पावत कष्ट कराल॥
विषय हेत जो पै अरे निशिदिन फिरत विहाल।
तौ सुनु मम उपदेश यह होहि सुखी सब काल॥
मूल काम उत्पत्ति कर घर है आशा पास।
दे नसाय इन कहँ प्रथम मानु वचन विश्वास॥
ब्रह्मा इन्द्र कुवेर सुर अपरहु अमित महान।
आवनहो जिहि ज्ञान के लागत चणक समान॥
वहुरो नव सुख सम्पदा तीनि लोक को राज।
सिद्ध होत क्षण एक में सधत सुदुर्लभ काज॥
सत्यबोध चैतन्य अति परम प्रकाशित जोति।
दिन दिन जग है मन्द मन वर्द्धिगनमी होति॥

आलवन तजि तासु कर वृथा होत किमि खेह ।
बार बार ससार महँ मिलत न मानुष देह ॥
अति उतग नगरी नई नृपति श्रेष्ठ वलवान ।
जगविजयी विख्यात चहुँ सम नहिं जाकी आन ॥
सचिव सभासद चतुर वर अगणित मत्त मतग ।
परिचारक वहु विकट भट कोटिन तुग तुरग ॥
नाश कीन भ्रू फेरतहि समरथ काल कराल ।
वन्दौ द्वौ कर जोरि मैं धरि धरणी निज भाल ॥
दुख सुख रिपु अरु भीत पै रक धनेश सुजान ।
रत्न मृत्तिका पै सदा करि निज दृष्टि समान ॥
कव मैं तजि सव जाल जग अति पवित्र वनमाँझ ।
जपिहौं हरि परिहरि सबहि भोर दिवस निशिमाँझ ॥
भूमि शयन दशदिशि वसन भोजन भिक्षाभाव ।
करनो कहा धनीन लै जो अस वनहि वनाव ॥
वलकल तें सतुष्ट कोउ कोऊ शाल विशाल ।
न्यूनाधिक सतोष में होत न कोनो काल ॥
अति लोभी सोई सदा निपट दरिद्री जानु ।
जो पै मन सतोप तौ रक धनी सम मानु ॥
भोजन कहँ वनमूलफल अरु पीवन कहँ नीर ।
शयन धरातल कर उशी गेह गुहा गम्भीर ॥
विभव लेश मधुपान जो करत वुद्धि हठि हीन ।
हे प्रभु मोहि न दीजियो सुनि मम विनती दीन ॥
रविराकेश कलक दिय शनि आदिन कछु नाहिं ।
शेषहि दलत सुभारतें अहि विचरत महि माहिं ॥
करिवर कारागार महँ जवुक सुखी सदाहिं ।
प्रवल सकल करतूतिये कहिये किमि कहि जाहिं ॥
सकल गुणन की खानि अरु भू भूपन दिन रैन ।
पुरुष रत्न सिरजत जगत पै तिन अमर करै न ॥
भग होत भ्रूभग तें क्षण महँ सोउ सुजान ।
अहह सर्व उलटी क्रिया विधिगति अति वलवान ॥
अनहोनी होनी करहि होनी होन न देय ।
तृण सुमेरु अरु मेरु को तृण करि यग यश लेय ॥

रजकण की कण ते अधिक आपुहि लघु अनुमानि ।
रे मन गहु भगवत पद काल कलेवा जानि ॥
भ्रमण करत काहे वृथा हे मन इत उत जात ।
ह्वै थिर कहुँ विश्राम करु नातर वयस सिरात ॥
होनहार सो होइगो तामें कछु न विचार ।
करु विस्मरण व्यतीत को सोचु न आगिलि बार ॥
जो कछु सन्मुख आवई ताहि ताहि क्षण मीत ।
भोगु सुमिरि हरिपदकमल मन दृढ आनि प्रतीत ॥
रे मन चचल तोहि मैं विनवहुँ हाहा खाय ।
श्री आशा जनि तू करै सर्वस यदपि नसाय ॥
भूपालन भृकुटीन की कल इच्छा लखि सोय ।
निरतत वर वेश्या वनी थिर कवहूँ नहि होय ॥
गणना हम सबकी भला किमि करियै अज्ञान ।
अशन न मिलत दुवेरहू दौरतु होत विहान ॥
सरस गीत सुन्दर मधुर नवल रागिनी राग ।
रसिक सुछंद प्रवन्ध वहु अरु साहित्य विभाग ॥
मृगलोचनि हिमकरवदनि हंसगमनि सुकुमार ।
कर कंकण नूपुर पगनि उर विच सोहत हार ॥
वनु लम्पट मन तोहि जो इनकर सुख अनुकूल ।
नहि तो तजि सब जाल जग सेवै हरि पद मूल ॥
परम गहन इद्रीन कर अर्थ विषय तिहि त्यागि ।
अजहूँ निश्चल शांतचित मोह निशा ते जागि ॥
आत्मभावगति चपल अति ताकहँ तू विलगाय ।
सकल वासना रहित हित साधत किमि न सुहाय ॥
नाशवन्त संसार महँ जनि करु रति स्वीकार ।
चेतु ब्रह्म चैतन्य कहँ अद्वितीय अविकार ॥
छाँडि मोहमायादि सब करु हरिचरण सनेह ।
तजि कुमग सतमग गहु फिरि न मिलत नर देह ॥
वीचि वारि कल्लोल घन तडिता सम धन गेह ।
प्रिय दारा परिवार सब पल में ह्वैहै खेह ॥
जगबंधन महँ वाँधि ये करत अकारज तोर ।
विरस जानि इन सकल तू भजु श्रीयुगुलकिशोर ॥

वृथा काम सेवन जगत् अखिल अमगल भोग ।
का फल तन इक कल्प लौं जीवित रहे निरोग ।।
प्रवल शत्रु के शीश पै पग दीन्हे कहु होय ।
कछु न सरत उत्तम विषय यदपि मिलावै कोय ।।
कोटि कोटि चल सपदा काहु भयौ घर आनि ।
जो नहिं श्रीपतिचरण रति सव सुख दुख की खानि ।।
परम विशद शुचि भक्ति हरि जन्म मरण भयभीति ।
लघु गुरु जीवन पै दया अरु मन्मथ की जीत ।।
रहित दोप ससर्ग तें सकल विकार विहीन ।
निरजन वन वैराग्य गत इद्रीहु आधीन ।।
इमि सत पुरुप प्रवीन जिन पायौ वर विश्राम ।
पुनि पुनि तिनहि सप्रेम मम विधिवत दण्डप्रणाम ।।
परम प्रकाशक ज्ञाननिधि अजर सुब्रह्म अनत ।
चितन करु निशिदिन सदा अति समीप तव अत ।।
विरसविपय तजि मुदित मन प्रभु अनादि कहँ ध्याव ।
जाकी कृपा कटाक्ष ते आवागमन न पाव ।।
होत जासु अनुसग शुभ त्रिभुवन भोग विलास ।
मिलत सहज हिय विच जवहि विमल ज्योति परकास ।।
रे मन अपनी भ्राति ते चपल स्वभाव प्रभाव ।
दिग्मण्डल आकाश लौं पल पल में फिरि आव ।।
करि प्रवेश पाताल विच पाव न तनिक प्रयास ।
शत शत योजन निमिप महँ धावत श्रम नहि भास ।।
सुखद ब्रह्म हिय जो वसत ताहि न सुमिरत नीच ।
सद्गति किमि पै है भला सिर पै नाचत मीच ।।
वेदस्मृति सुपुराण अरु सकल शास्त्र विस्तार ।
कछु न होत इन पठन ते मैं करि दीख विचार ।।
सुरपुर फलदाता जगत केवल कर्म विलास ।
आडम्वर वहु भाँति जे अन करैहै हास ।।
भव-दुख नाशक विमलवर ब्रह्मानन्द विहाय ।
अपर सकल उद्योग जग वणिक वृत्ति समुदाय ।।
थरथर कपत गात सव पग भरि चलत वनै न ।
भई भग्न दतावली वधिर अव द्वौ नैन ।।

लारालय आनन सुहृद कहे सुनै नहि बैन।
नारी निदति नित्य उठि भूलिहु सेव करै न॥
कठिन कष्ट हाहा सहत जीर्ण वयस दिन रात।
परिपालित निज परम प्रिय पुत्र शत्रु ह्वै जात॥
वात पित्त कफ तीनि ऐ तापैं कासस्वास।
प्राण लेत हठि वेगिही देत विविध विधि त्रास॥
तरुण तीय सिर केश सित देखत दूरि पराहि।
सुनत कूप चण्डाल को जैसे सब तजि जाहि॥
जब लौ स्वस्थ शरीर है जरा सु जब लौं दूर।
जब लौं सब इन्द्रीन की शक्ति भई नहि नूर॥
जब लौं निज आयुष्य कर क्षय नहि भयो सुजान।
तब लौं करिय प्रयत्न जग अरु शुभ कर्म प्रधान॥
अनल जरत गृह देखि जिमि खननो कूप सुठाम।
नतरु दशा सुइ होयगो विनशै यह धन धाम॥
मान्धाता मुचुकुद मनु दुर्योधन शिशुपाल।
कर्ण युधिष्ठिर वेणु बलि महाबली महिपाल॥
सुमुख सुलोचन श्रोणपति नृपति कस लकेश।
गे बिलाय सब धूरि में लखि न परत कछु लेश॥
ताह पै समुझत नही रे मन मैं सिर फोरि।
पुनि पुनि विनवहुँ सुमिरु हरि सुनि गुहारि अब मोरि॥
चचल चित्त तुरग कहँ योग लगाम लगाय।
अल्पकाल कछु दुख सहि खैंचि पथ महँ लाय॥
ले बनाय अपनी सकल जो तू चतुर प्रवीण।
वारि वीचि मम देह यह होत पलक मे क्षीण॥
रे मन मानत एक नहि ठानी बानी सोय।
नयन खोलि अब देखु तो काह काह जग होय॥
करत विनाश शरीर कर जरा जरी जर काटि।
मृत्यु हरत आयुष्य प्रिय सन्मुख गरजत डाटि॥
पल महँ या तन को प्रलय होवहिगी तत्काल।
गहि गहि करि शरण गहि अरु हरि चरणनि माल॥
रम्य भोग भोजन मधुर रम्य देह अरु गेह।
रम्य बधू धन सुन सकल रम्य सुप्रिया सनेह॥

रम्य सुधाकर किरण निशि रम्य गान अरु पान ।
रम्य वसन भूपण नवल रम्य सखा सनमान ॥
सज्जन कव लो रम्य ये अति सुखदाई भास ।
जव लो अचल अनित्यता करति न हृदय प्रकास ॥
दीपक निकट पतग की छाया सम सव जानि ।
सत सच्चिदानदपद सेवहि वन मन मानि ॥
मायामय करिणी प्रवल लै जगवन्धन दण्ड ।
अभिमानी अन्तकरण गज मदमत्त प्रचण्ड ॥
त्रासहि पुनि पुनि निरदई ता कहँ वारम्वार ।
असि न सुनो त्रिभुवन कहू कीजै सुजन विचार ॥
वेधि मनोरथ हिय गये होत मु यौवन नास ।
गुणहू सकल गुणज्ञ विन रहे न एकहु पास ॥
जा सम अपर न कोउ जग सहसाकर वलवान ।
अवशि सुकाल कराल चलि निधन करहिगो प्रान ॥
मोह तिमिर नाशक युगुल परम प्रकाशक पाय ।
कवहूँ नहि मेये सुचित हरि मन्दिर महँ जाय ॥
विगरी को अव काहु हठि मूढ विगारत आप ।
जानि पतित सिरमौर निज करु सुनाम की जाप ॥
अतिसुन्दर उपवन सघन मिलत पन्थ के माँहि ।
मधुर फूलफल भूमि पै उपजत है सव ठाँहि ॥
मृग अरु केहरि वसनवर सुलभ जानि सव काल ।
मन्द होत मदअन्ध जग परि नित माया जाल ॥
अहो मातु लक्ष्मी सुनिय विनवौ द्वौ कर जोरि ।
जाहु आन के पास तुम पुनि पुनि कहहुँ निहोरि ॥
भोग लेश की अव नही मो कहँ इच्छा एक ।
ताते करि उतनी कृपा राखहु मेरी टेक ॥
वलकलपट गिरि-खोह गृह वन पलास के पात ।
ए सव मम निरवाह हित सुलभ सदैव दिखात ॥
जरजर तर शतखण्ड की कन्था अरु कोपीन ।
भिक्षाशन निक्षिप्त नित प्रिय परिवारविहीन ॥
सदा निरकुश शात मन वसिवो विपिन मशान ।
योग महोत्सव माँहि थिर वर विवेक विज्ञान ॥

जो वनाव या विधि वने सब प्रकार तें आय ।
तो त्रिलोक के राज मे कछू न अधिक लखाय ।।
सुदिन सुखद वह होइहै पद्मामन जव लाय ।
शिला वैठि सुरसरित तट प्रभुपद ध्यान लगाय ।।
योगमगनमन जानि मुहिं जरठ हरिण मम अग ।
पुनि पुनि आय खुजायहैं मुदित लाय निज श्रृ ग ।।
महिशय्या शय्या अनुप भुजवल्ली उपधान ।
पवन व्यजन अनुकूल अति सुन्दर व्य म वितान ।।
चन्द्रदीप प्रज्वलित निशि वनिता विरति वनाय ।
हे प्रभु कव मैं करहुगो सुख सो शयन सुहाय ।।
रजसमान सर्वस्व तजि विरम जानि धनधाम ।
कव मै पुण्यारण्य मे पुलकिततन निष्काम ।।
पातक अगीकार करि मुख तें जगदाधार ।
पावन नाम उचारिहो वैठि सुकुटी मझार ।।
कानन नदी समीप कव युगकर अजुलि जोरि ।
शरणागत रक्षक कहत विनती करत करोरि ।।
परिहौ महि मे दण्ड इव सव प्रकार तृन तोरि ।
अरु मन मुदित विताइहो दिवस निमिप सम मोरि ।।
मज्जन करि सुरसरि सुमन लै पवित्र फल फूल ।
हे जगव्यापक पूजिहो कव मै तव पद मूल ।।
कव मै मन धरि ध्यान रुचि जाय गुहा गभीर ।
शिला वैठि सव कहहुँगो तुम सन अपनी पीर ।।
पुनि पुनि आत्माराम में परमानन्दित नाथ ।
तव पमाद कव होइहो विपय वियोग मनाथ ।।
दीप्तिमान उज्ज्वल विमल कण युत सरितातीर ।
भव-भुजग ते भीति अरु भागि हीय धरि धीर ।।
परमप्रेम मय शुद्धचित सुखद समाधि लगाय ।
हाहा कव मैं सुमिरिहहुँ प्रभुपदपद्म मनाय ।।
धन्य सुदिन धनि धनि घरी धन्य सुवुद्धि विकास ।
करिहै कृतारथ मोहि जव पूरै मेरी आस ।।
जीवन दिन जेती परी ते फिरि आव न एक ।
गये दिवस अवरो किनिक आनी मनहि न नेक ।।

बाल्यावस्था आदि दै कछु न भलाई कीन ।
काह कहहुँ करणी कुटिल जप तप कर्मविहीन ॥
रही वयस जेती अहहि मोऊ याही भाँति ।
निशदि नजगजजाल महँ क्रम क्रम सकल सिराति ॥
हे विधि अब मेरी दशा होवैगी धौं कौन ।
नीच मीचु मुख मलिन खल महापतित अघ-भौन ॥
जगदीश्वर तव शरण तजि काहि जुहारहुँ जाय ।
संसृति विषय विरक्त करि लीजै मोहि बचाय ॥
सन्मुख तेरे होन में यद्यपि बहुत लजाहुँ ।
पै तुम बिन करुणानिधे आन कहाँ चलि जाहुँ ॥
सब प्रकार तव विमुख मैं अघओघनि सिरमौर ।
विश्वबीच विश्राम-हित पावत कहुँ नहि ठौर ॥
कहहुँ कहाँ लगि गाथ निज करत पाप उठि भोर ।
हे दयालु सुधि लीजिए कीजै अपनी ओर ॥
या दिन लौं कीन्हे कलुष नित प्रति अमित अघाय ।
सोचत कछु न सुहात अब हे प्रभु होहु सहाय ॥
भवभयभंजन नाम तव बोलत वेद पुकारि ।
पतित-उधारन लीजिए हाहा मोहि उबारि ॥
दीनबंधु करुणायतन जगपति दीनानाथ ।
बूडत भवनिधि मध्य लखि गहिये मेरो हाथ ॥
शरणागत माँगत प्रभो हे अनाथ के नाथ ।
युगुलचरण अरविन्द महँ राखन दीजै माथ ॥२००॥

विहार-वाटिका

समर्पण

यह "विहार-वाटिका" मेरे मित्रवर पं० महावीरप्रसाद जी की वाग्-विलास है। पद्य-रचना की सुघराई, यमक की मनोहरताई और लालित्य की अधिकाई आज इस मनभाई वाटिका को रसिकजनो की भेंट करने में मेरे परमहर्ष का कारण हुई है। आशा है कि न्यूनताओ की ओर ध्यान न देकर इसका विहार अगीकार करेंगे।

छर्रलालगज, झाँसी
१५ फ़रवरी १८९० ई०

सीताराम

श्रीराधामाधवाभ्यां नमः

ज्ञानी दानी भवानी विमल बुधिमनी लोकलोकेश रानी ।
माता अभोज गाता सकल फल लता श्रीस्वरूपा सयानी ॥
शक्तीनादा प्रसादा शरण तव सदा पादवदे विनीता ।
राधावाधाहरी जै विनय मम इती आदि माया पुनीता ॥१॥
उद्धार्यौ वरवेद सिधु मथिकै आनी धरा धारिकै ।
दैत्यै मारि वलीकुलै धरनि लै क्षत्रीनि सहारिकै ॥
लका लै मघवाभिमान हनिकै वौद्धावतारी भये ।
वन्दे सो निकलक वङ्क जनहा नानावतारै लये ॥२॥
मेरी वुद्धि मलीन दीन जड को हे शुद्धि कै दीजिए ।
ध्यावौं नाथ नवाय माथ वरणी एती कृपा कीजिए ॥
वर्णी छद निवध वृन्द कविता सारी जु सिगार की ।
या नाही तिन माहि पूर्ण परिहै दोषानि के भार की ॥३॥

सुमिरि हास विलास कलानिहि ॥
सरसरास दुलासनि मानिही ॥
चरित कोमल नूतन श्याम के ।
कहन हौं चहहूँ शुभधाम के ॥४॥

वशी वट तट यमुन के राधा नन्दकिशोर ।
विहरत आनन इन्दुछवि व्रजजन नयन चकोर ॥५॥
छाये मेघ चहूदिशानि लखिकै श्यामा ललामा महा ।
घोरारण्य मझार श्याम हँसिकै हो गेह जैयौ कहा ॥
प्यारी आयसु पाय जाय हरिके 'सकेनित-स्थान में ।
कालिन्दीवर कूल केलि करिहो आनन्द पागे रमे ॥६॥
रामोल्लास भरे प्रसून वियरे शय्या सवांरी जहाँ ।
श्रीराधाघनश्याम काम विधि कै प्रेमाब्ध राजै तहाँ ॥
दोऊ अक भरै 'अनन्द विहरै' हारै न कोऊ कहूँ ।
हूँ हूँ में छलमै कपोल दल में लावण्य लीला चहूँ ॥७॥

अनेकनारी रतिलाल लालसी।
विलुब्ध वैसी अति ही प्रभालसी॥
सखी दिखावै सुइ रूप राधिके।
समै समेता मति चित्त साधिके।८॥
सुथ्रा वाहा थाहा सुथल अवगाहा हरि तवै।
प्रिया भाई लाई हियहि सुख पाई छकि जवै।
कही वामा श्यामा मुदित अभिरामा रस भरे।
गहो वाही नाही करि कि कर जाही करकरे॥९॥
सुशोभा महा श्याम जू की भई है।
प्रिये संघ ले रासलीला ठई है।
कला कोटि कौशल्य तू कामिनी है।
कहो एकही राधिका नामिनी है॥१०॥
सरिस सवै जानी राधिका रासरानी।
मलिन अनख मानी मानिनी मानि ठानी।
विरह दव दहेली कुंज पैठी अकेली।
रिसि वस अलवेली दीन वैठी नवेली॥११॥
राधे नागरि के विना साधे सुख सब श्याम।
विरस जानि विह्वल विकल तजी सकल व्रजवाम॥१२॥
हिये थके मोहन ताहि हेरिकै।
दशो दिशा प्यारिहि टेरि टेरिकै।
विथा महा मैन तपै जवै दयी।
कलिन्दजा राह दुखी तवै लयी॥१३॥
मार्धे वान कमान नैन भृकुटी सधानिकै नानिकै।
मारै मोहि सरोष तू शशिमुखी या मान ना ठानिकै॥
लीजै प्राण प्रचारि जारि विरहा पै दुख ना दीजिये।
पापी मार कुठार धार मरते रक्षा अहा कीजिये॥१४॥
सालै हालै कुलिश सम ये ठीक माला ठये हैं।
नीके जीके वमन वरजे तेउ फीके भये हैं॥
कू कू कूके द्रुमनि चढि मो हीय छेदै प्रचारी।
ऐरी टेरी करनि सुधि ले प्राणप्यारी हमारी॥१५॥
जहां कीन्हें दीन्हें सुख सुरम नीने विपिन में।
तहां नामा नामा जपन मन यामा सुमन में॥

लखै घाटा बाटा पुलिन नव ठाटादुख दहे।
कहाँ जावै पावै उरज उर लावै कर गहे॥१६॥
तकत प्रिय मुरारी सेज साजै विहारी।
कृशित तनु दुखारी पाय ना हीय हारी॥
तन मन धन वारी सुद्धि सारी बिसारी।
तलफत विनुवारी मीन जैसे तृषारी॥१७॥
भुजनि भरि निशका मेटिवे हेत अका।
विधि हरि कृषलका हाय पायो कलका॥
मधुर मधु विलासा राधिका में सुपासा।
सुरति करत हासा सर्व भूली हुलासा॥१८॥
श्यामा श्यामा श्याम टेरत मुरली धरि अधर।
देखि सुललितावाम ताहि पठाईं खोज हित॥१९॥
महा विकल हौं कल नही पल युग सरिस वितात।
विन दर्शन कीन्हे प्रिया मोहि न कछू सुहात॥२०॥
मनभावनि जितको गयी जाय तितै तिहि आन।
गई सखी देखी दुखी सर्वस मनहु नसान॥२१॥
न सो डोलै वोलै नमत कछु खोलै महि परी।
विहारी जूही के गुनतगुन हारी सव घरी॥
दुरे मारै जारै रतिपति विचारै कछु नही।
लखै राधा वाधा दुख अति अगाधा सरि वही॥२२॥
कहति मालति माल तमाल हू।
दुखद दाख सदा खस जालहू॥
अलि नलीन कलीनन लीन है।
भ्रमत भ्रामत हामत खीन है॥२३॥
लखत ही तिनही तन ही भयो।
कुलिश ज्यो तजतै नहि जी गयो।
पवन पावन पावन पावऊ।
रज सदा जसदा जस गावऊ॥२४॥
पल्लवलता नव विशद किशलय शोक उर उपजावही।
सुन्दर सुगन्धित मद मारुत सुमन सुचित सतावहीं॥
गुञ्जत भ्रमरवर मजु कजनि लखत तप तन तावही।
व्रजराज विनु सव काज आज अकाज करि अकुलावहीं॥२५॥

इमि सखी आतुर देखि चिन्तत तुरत मोहन ढिग गई।
तहँ जाय तिय संदेश पिय सो कहेहु विरहानल नई॥
सुधि नही तन वसन की मध अधर मधुकर पीवही।
मनसिज दहत मन हारिनी हरि हाय कैसे जीवही॥२६॥

परी छरी सी महि माहि राधा।
कही न जावे सु असाध्य बाधा।
चलो हहा दीजहु जीवदाना।
न तो तजैगी वह वेगि प्राना॥२७॥

आशा लाये तिहारी नयनयुगुल ते अश्रुधारा बही है।
नारे खारे करारे जलधि तिन भये टेकवाही गही है॥
ताते ताको पतीजै दरशन चलिके वेगि ता ठामि जाई।
दीजै लीजै निहारी न तरु जग सबै बूडि है अन्त पाई॥२८॥

सीरी पीरी धरी सी शिथिल अति परी रोमठाढे अधीरा।
चिन्ता दाहै कराहै कहत किमि बनै पीर जेती शरीरा।
देखे तापाकलापा कपनि सुतनु की होइहैं सर्व दूरी।
ऐसो कीजै धरीजै सिख चित दृगनै लावऊँ पाद धूरी॥२९॥

जरे अनंग ज्वाल जाल बाल सर्व कालही।
महा विहाल हाल है लखे रसाल मालही॥
अचेन स्वेत चाँदनी चितौत चन्द चौगुनी।
कृपानिधान ध्यान प्रान राधिका कथा सुनी॥३०॥

कीजिए सनाथ नाथ नायिका अनाथ जानि।
अंग मंजु कंज गंज मैन दीन हीन मानि॥
हो रहो करो कहा अहो महा मलीन मन्द।
सुन्दरी उठाय जाय देहि तोष नन्दनन्द॥३१॥

प्रेमातुर व्याकुल थकित कुंजपुंज बिच वाम।
जाय समाधि अखण्ड जनु जपनि तुमहि घनश्याम॥३२॥
रचहुन स्वासाह नही चलत कलेश अपार।
एक नाम आधार लगि तजे सकल आहार॥३३॥
मगनि रचह कगि गास की उर उमग उपजाय।
हीय हार शृंगार वर धारै बहुरि लजाय॥३४॥
गजै साजै सेजा चरित्र चित लाजै पुनि छकी।
रस रीस त्यागी विशद शुभशीश थिर थकी॥

करैं देखैं लेखें हियहि अवरेखैं दुति घटी।
दशा फीकी जी की सुधि करत फीकी हरि कटी ॥३५॥
जकै सोचैं मोचैं नयन जल नोचैं कलि नही।
गली जोवैं खोवैं निशि मलिन रोवैं कल नहीं॥
व्यथा भारी मारी लखत वनवारी दरखरी।
तिया आवै भावै न कछु फिरि जावैं तप भरी॥३६॥
ऐ हो प्यारे कहहि कित हो मोहि काहे वुलाये।
जी मे ही मे सकल तन मे आपही हो समाये।
ऐती मेरी विनय सुनिए कीजिए नाहि देरी
हाहा दीजै दरश अवतो आपनी जानि चेरी ॥३७॥
इत गोपाल विहाल अरु उत वृपभानु सुताहू।
अशन व्यसन तजि चहत, इक केवल लोचन लाहु ॥३८॥
भावे कछू न विन प्रीतम सेज सूनी।
वाढै विलोक तन भूपण पीर दूनी।
कीन्हें विलम्ब अवलम्ब न पाय प्यारी।
सकेत हेत सव देह दशा विसारी ॥३९॥
राधा हिये विरह व्याकुलता विलोकी।
जान्यो मुकुन्द सखि आगम वात रोकी॥
आली गई न मनमोहन पै जु आयो।
लागी दवार हिय अग अनग छायो ॥४०॥
अवधि आवन भावन याम ही।
युगुल गे युग से निशि वामही॥
अनिल कुजनि कज शरीर है।
लगत ही अग अग मनो दहै॥४१॥
सजन साजन साज नसाय हैं।
विकल के कल के कल आय है।
जगत जीवन जीवन जाय है।
अतन तापन ताप तचाय है ॥४२॥
यह सुधा धर चादर लाज की।
अहह खैंचत मो सिर ताज की।
वरत वारि लगै तपते घनी॥
सुभगनी यम की यमुना ठनी ॥४३॥

आये भाये अजहु नहि हैं धीर जीना धरो री ।
मारे मोको मदन शर लै हाय कैसी करों री ॥
पाऊँ लाऊँ हियहि हरि के शूल सारे कलेश ।
मेटौं भेटौं भुजनि करिये पूर्ण आशा ब्रजेश ॥४४॥
उतकठित दुख कठलो मोचति लोचन वारि ।
सजनी दुति पीरी परी रजनी विगत निहारि ॥४५॥
रमे विहारी कित जाय आजू ।
मिली कहूँ काहु सखा समाजू ॥
भूले घने कानन कै सुश्याम ।
आयै अबौ ना निशि एक याम ॥४६॥
पिया हिया हाय कठोर कीन्हा ।
चिता महादुख अपार दीन्हा ।
बूझे तऊ लाज भरी न बोलै ।
सशक प्यारी नहि मर्म खोलै ॥४७॥
ना आये पिय निर्दयी यदि अली तेरो कहा दोष री ।
सो स्वच्छन्द निकन्द द्वन्द दुख के ताते हिये रोष री ।
जोपै बेगि न आय धाइ मिलिहैं गोपाल मोको अरी ।
तौ मेरो मन आपु त्यागि तन को ह्वैहै जहाँ श्री हरी ॥४८॥
लीन्हो गोकुल को उबार गिरि लै गोपीश गोवर्धनै ।
हारे इन्द्र समेत मेघ पचिकै गाथा न मोते बनै ॥
मारे दैत्य अनेक एक कर से सहारि सारी अनी ।
कीजै सो अनुकूल मूल भुज को दाता दया को धनी ॥४९॥
निरखि प्रिय प्रभाता हर्ष ही ना समाता ।
हुलसत हरिवाता कौन देखा जुगाना ॥
कतहु मन धरे है रूप औरै करे हैं ।
सरस रस भरे है माल मोती गिरे हैं ॥५०॥
रिस उर उपजाई बाल बोली रिसाई ।
सुरति रत सुहाई पाग नीकी बनाई ॥
युग दृग अलसोहै कीजिये लाल सोहै ।
हिय विच नख सोहै वा दिही खात सोहै ॥५१॥
विन गुउ गुन माला है कहै भेष भाला ।
दुरत कत दुशाला सग लाये विशाला ॥

मुकुर मुख निहारो फेरि टीको विगारो ।
इमि वनि जनि जारो गैल वाही सिधारो ॥५२॥
मधुर अधर पीका त्यागिये नाम पीका ।
तन मन सब फीका सोहती नैन लीका ।
धनि धनि ग्रह आये रैन कापै भुलाये ।
सवतिन मन भाये जाय हूजै पराये ॥५३॥
पुरुष लखि पियारी मानिनी खेद भारी ।
सिसकत हिय हारी दीन वानी उचारी ॥
सनमुख सखि कै कै दीठ नीची चितैकै ।
गद्गद गति लैकै पाणि जोरै विनैकै ॥५४॥
सव विधि मनमानी अग मेरे समानी ।
अतुलित सुखदानी सत्य तूही सयानी ।
अपर तिय तहाँ ही ठौर कैसे सुपाही ।
सदन जव जहाँही नित्य ही मोहि माही ॥५५॥
भृकुटि तरल तेरी नागिनी लौ तिरेरी ॥
डसत कुटिल हेरी वक होतै दरेरी ।
विषम गरल हेता विम्वरूपी सचेता ।
अमृत मधुर देता वेगिकै पान लेता ॥५६॥
विनय करहु दीना हूजिये ना मलीना ।
सुमुखि तव विहीना पीर जाती सहीना ॥
अव मत मुख मोरै हेरियै नैन कोरै ।
दुखसर मन भोरै आजु मेरो हिलोरै ॥५७॥
भरे तेरे ऐरी अधर मधुकेरे रस सने ।
कली लाली शाली कमल कुच आली लखि घनै ॥
वनी नासा हासा सुखद सुविलासा सुधि किये ।
तुही गावोपावो पलयुग गवावो मम प्रिये ॥५८॥
रमा जोहै मोहै अपर अस कोहै यग महा ।
उमा मैना रम्भा सम सकल दभा यदि कहा ॥
लजै नारी भारी तडित इव सारी तन लसै ।
तजौ माया दाया करहु मन माया कत कसै ॥५९॥
भृकुटी कमान समान अलकै सुघर वन झलकै वनी ।
आनन अनूपम वक चितवनि सुभग शर शोभा घनी ॥

बैठे सखीन सिख दै सुसखी भुलाई।
स्वाधीन आप इत लै मुरली बजाई ॥७७॥
प्यारो प्यासो चहैहै मृदु रस अधरा पान येरी अयानी।
गावै तोही सुनावै सुनि मम सजनी लीजिए मानि बानी॥
नाहीं नाहीं नही है तव कुशल कला ताहि ते वेगि आवौ।
ज्वाला सारी बुझावौ सकुचि तजि सबै भावते हीय लावौ॥७८॥
बिना मोलही लय लियो मोल जिनहि चितचाय।
तिनसो बोलन में बिहसि गौरी कहा लजाय॥७९॥
बन अलीके सुनत इमि चली मिली गोपाल।
सादर मय आनन्दयुत मन्द मन्द गति बाल॥८०॥
आछेकटाक्ष मृगाक्ष के तजि कानि कानन लौ गये।
तासो भयो श्रम विथकि चचल चपल तारे दृग छये॥
पूरे प्रयास प्रस्वेद मुकता बिलग करि कोरन दये।
श्यामहि निहारत उमगि उरगिरि मनहु हर पूजत भये॥८१॥
प्यारी सखी मिसकै चतुर मुसुकाय जब न्यारी भई।
छूटी सकुच सब वदन पियलखि अतन की तनतप गई।
सोहै शुभग शुचि स्वेत सुन्दरहार हरिछवि निधि महा।
धारा यमुनजलबिमलपै जनु फेन सितरुचि सो बहा॥८२॥
मोहन मुदित मनभावती सन कहत सनमुख आइहै।
कोमल कुसुमदल सेज पर पदकमल मृदु पधराइये।
अबुज अरुन समता करत तिहि जीतप्रीति लुनाइये॥
सेवहु चरन तब हरन सब दुख मधुर वैन सुनाइये॥८३॥
दपति सुरति आरम्भ सपति पुलकि जनु बहु पायऊ।
भेटनि मनोहर हँसनि चितवनि अधररस सरसायऊ॥
अकनि भरत निरशक हरषित हरि विपुलसुख छायऊ।
नैननिमिषितजि प्रियामुखछबि लखत अति मन भायऊ॥८४॥
अधखुली पलकै अलकै बनी,
उर उतग अनग सनी अनी।
ललित अग सुरङ्ग धुरङ्ग है,
गति वसी जनु सीव मतग है॥८५॥
भुजन जोरि उरोजनिहूँ मिलै,
सुरति दायक नायक अग लै।

नखनि दतनि कत इकत कै,
छत किये सुपिये रस अत कै ॥८६॥
थकि थली सिथली रस रीत में,
रति रची सुखची विपरीत में ।
लजित कपति कप सनेह की,
नव कला विकला कलदेह की ॥८७॥
वसन आसन-आसनि दास कै,
विलग पी रस की हँसि हाँस कै ।
द्रगलसै विलसै अलसै गही,
सुमन हार विहार विहाय ही ॥८८॥
छरा छूटे टूटे सुरति रस लूटे हिय गहे ।
चितै गौहीसौही सजति अरसौही मुदलहे ।
थकी गीता प्रीता उझकि अगरीता सुखसनी ।
महाशोभा लोभा मन लखत शोभा छवि घनी ॥८९॥
प्यारे धारी सवारौ वसन सुरुचिसो अग मेरे विहारी ।
देखो मारे वियारे कचतिय कहही भालवेंदी विगारी ।
रेखा केती बनाई हियहि तुम छली वेगि नीकी करीजै ।
माला तोरो सजीरी विनय नहि सुनी आनिये ताहि दीजै ॥९०॥
रचित कुच अडोला शुभ्र ज्यो मैनगोला ।
तिल कलित कपोला लाइयै श्याम लोला ।
विरति रति मशेनी गूथिये लाल वेनी ।
करनि वलय श्रेनी कीजिए मोद देनी ॥९१॥
जिमि जिमि मुसकाई युक्ति राधा वताई ।
तिमि तिमि चितलाई कीन सोई सुहाई ।
तन मन वलिजाई प्राणप्यारी रिझाई ।
पुनि पुनि उर लाई धाम आये कन्हाई ॥९२॥
मधुर सुर सुनाई श्याम वशी वजाई ।
विपिन निशि लुभाई गोपनारी वुलाई ।
सजल जलद देही मोहती नाहि केही ।
तजि मृत पति गेही वाम लाई सुगेही ॥९३॥
विरह दव वुझाई ताप सारी सिराई ।
नव सुख अधिकाई दीन सतोप पाई ।

दुखि नहि लवलेशा जाहि सेवैं महेशा।
तिहि धरि नर भेषा कोटि काटैं कलेशा ॥९४॥
छायारूप अनन्त सन्त हरि को शास्त्रादि जानैं कहैं।
जोरे पाणि गणेश शेष विधिहू जाको सदा ही रहैं।
सो राधा सुखदा त्रिलोकजननी आनन्दसमोहनी।
लीलाहेत निकेत कीन बृज में श्रीकृष्णअर्धाङ्गिनी ॥९५॥
गोपाल गोविन्द मुकुन्द श्यामा।
शोभानिधे शील समूह धामा॥
दाता दया सिन्धु नमो मुरारी।
भूभारउद्धारक तापहारी ॥९६॥
इन्द्रादि शीश नित नावहि ईश ध्यावै।
लावे समाधि सुर सिद्ध मुनीश गावै।
पादारबिन्द बृजचन्द अनन्द कदा।
बन्दै प्रसाद मतिमन्द बनाय छंदा ॥९७॥
अक्षि अवधि अरु रन्ध्रविधु पौष पक्ष तमजान।
नवमी शुभ बुध हस्त मह कियो याहि निरमान ॥९८॥
ललितलता अनुराग की छाईं मैं हुलसाय।
रसिकशिरोमणि सुजनजन विहरिय आप सुहाय ॥९९॥
सुमन बेलि अनमिलत जहँ तहँ करि भिन्न विभाग।
मोहि कृतारथ कीजिए देखि मोर अनुराग ॥१००॥

॥ इति ॥

विहार-वाटिका में प्रयुक्त वृत्तों की नामावली

वृत्त	नाम	वृत्त	नाम
१	स्रग्धरा	२९	स्रग्धरा
२	शार्दूल विक्रीडित	३०	नराच
३	" " "	३१	चामर
४	द्रुतविलम्बित	३२	दोहा
५	दोहा	३३	दोहा
६	शार्दूल विक्रीडित	३४	दोहा
७	" " "	३५	शिखरिणी
८	वशस्थ	३६	" "
९	शिखरिणी	३७	मन्दाक्रान्ता
१०	भुजगप्रयात	३८	दोहा
११	मालिनी	३९	वसततिलका
१२	दोहा	४०	" "
१३	वशस्थ	४१	द्रुतविलम्बित
१४	शार्दूल विक्रीडित	४२	" "
१५	मदाक्राता	४३	" "
१६	शिखरिणी	४४	मन्दाक्राता
१७	मालिनी	४५	दोहा
१८	मालिनी	४६	उपजाति
१९	दोहा	४७	" "
२०	दोहा	४८	शार्दूलविक्रीडित
२१	दोहा	४९	" "
२२	शिखरिणी	५०	मालिनी
२३	द्रुतविलवित	५१	" "
२४	" " "	५२	" "
२५	हरिगीतिका	५३	" "
२६	" "	५४	" "
२७	वशस्थ	५५	" "
२८	स्रग्धरा	५६	" "

वृत्त	नाम
५७	मालिनी
५८	शिखरिणी
५९	" "
६०	हरिगीतिका
६१	" "
६२	" "
६३	दोहा
६४	स्रग्धरा
६५	नाराच
६६	" "
६७	शार्दूलविक्रीडित
६८	दोहा
६९	वशस्थ
७०	उपेन्द्रवज्रा
७१	इन्द्रवज्रा
७२	इन्द्रवशा
७३	शिखरिणी
७४	" "
७५	" "
७६	वसततिलका
७७	" "
७८	स्रग्धरा

वृत्त	नाम
७९	दोहा
८०	" "
८१	हरिगीतिका
८२	" "
८३	" "
८४	" "
८५	द्रुतविलबित
८६	" "
८७	" "
८८	" "
८९	शिखरिणी
९०	स्रग्धरा
९१	मालिनी
९२	" "
९३	" "
९४	" "
९५	शार्दूलविक्रीडित
९६	इन्द्रवज्रा
९७	वसततिलका
९८	दोहा
९९	"
१००	"

स्नेहमाला

समर्पण

प्रेम के आधार यह आपके प्रेम की ही रचना है। अनुचित तो है ही कि कुछ भी आपसे इस अवसर पर इस विषय में कहा जाय क्योंकि प्रेमी जनो की लालसा को, केवल उनकी उत्कण्ठा की ओर ध्यान देकर, असगत बातो को दुरा , पूर्ण करने का तो आपका प्रण ही है; तथापि बिना कहे सन्तोष नही होता कि, इसे भी आपने पूर्वार्यवशजो के प्रशसित सकल्पो से संगृहीत जान स्वीकार कीजिए।

झाँसी
१ मार्च, १८९०

—ग्रन्थकार

स्नेहमाला

तनु जनु घनश्यामा शोभाधामा रसिक सुनामा विश्वभर।
नटवर नँदलाला उर वनमाला रूप विशाला मुकुटधर।
लोचन अनियारे जीवनप्यारे नाथ हमारे देववर।
श्री राधानायक जनसुखदायक होहु सहायक विघनहर।

दोहा

विधि हरिहर उत्पत्ति अरु पालनलयकरतार।
सेवक इन सवहू किये विधुवदनी आगार॥
जाके चरित विचित्र अति परम मनोहर रूप।
ता पद अम्वुज वन्दहूँ कर शरकुसुम अनूप॥
घूँघुटपट खोलनि हँसनि हिय आशय गभीर।
लाजसकुचभाषण मधुर मरकतहेमशरीर॥
वाद वहुत अभिमानयुत भृकुटी कुटिल चढाय।
नारि सहजही विश्व के नरनि लेत अपनाय॥
वक भौंह वि॰ चारु मुख स्नेहयुक्त मृदुवानि।
दृग चचल गज इव गमन मन्द मन्द मुसकानि॥
शोभा देहि अनेक ये मृगनयनी तन माँहि।
करत नरनि आधीन जग मोई आयुध माँहि॥
भय लज्जास्पद भग भ्रू सकुचि कवहुँ रहि जात।
लीलाहासविलास लखि कौन ताहि पतियात॥
नवल वदन चख अति चपल नारि नवोढा केरि।
नील सरोज समान युग मुदित होत मन हेरि॥
चद्रानन सरसिजनयन स्वर्णमयी सव देह।
कचकुचित लखि होत हैं वलिवलि अलिगण नेह॥
चक्रवाक कुच केहरी कटि नितम्व विस्थूल।
वचन सरस मृदु अपर सव तिय स्वभाव के मूल॥
अल्पहास सह मुखकमल चचल चितवनि चारु।
बोलनि वरसनि अमिय जनु मुन्त न रहत सिंहारु॥

मद मद पग अवनि धरि कुटिल कटाक्षनि मारि।
विन प्रयास तरुणी करत वश्य सुकोर निहारि॥
प्रेम प्रफुल्लित युवति वर, वदन देखिबे योग।
घ्राण सुगन्धित मुखपवन सम नहिं दूसर भोग॥
वचन श्रवण तिनके सुखद अरु अवरारस पान।
नवयौवन सुमिरन करत छूटत मुनियन ध्यान॥
कोमल कर कंकण वलय पग नूपुर रवकारि।
धारि लजावत हँसि तिया इक टक रहत निहारि॥
त्रसित शिशुमृगीलौ नयन पुनि पुनि चपल चलाय।
असि वो जग नर धीरधर दे न जाहि विचलाय॥
तन कुंकुम चिह्नित सुघर कोमलांग उर हार।
करत वश्य नर पलक मे कुटिल कटाक्ष प्रहार॥
निश्चय ते कविश्रेष्ठ है ज्ञान बोध विपरीत।
कामिनीन अबला कहहिं जे नित आनि प्रतीत॥
दृग विलोल अवलोकि जिन शक्रादिकहु महान।
मोहत तिन किमि भाषिये अबला अवन अमान॥
दरसतही जाके नयन तुरत काम प्रकटात।
ताको अज्ञाकारिवर सेवक मदन लखात॥
केशबद्ध सबकाल सिर लोचन श्रुति-पर्यन्त।
हृदयशुद्धता ते दसन अरु मुख स्वच्छ लखन्त॥
द्वौ कुच कुंभनि पै सदा माल सुशोभित सोइ।
लीन शान्त वपु तदपि लखि महाक्षोभ जिय होइ॥
मुग्धे परम प्रवीन तू धनुष धारिबे माहिं।
शर मम पैनी कोर उर बेधत सकुचत नाहिं॥
दीप अनल रवि इन्दु अरु तारागण समुदाय।
मृगलोचनि विनु अवनि सब अन्धमई दरसाय॥
तरल नेत्र भृकुटी कुटिल पीन पयोधर भार।
अधरामृतहू ते व्यथा होति न करिय विचार॥
रोमावलि लखि ताप पै अधिक अधिक अधिकाय।
निज कर अक्षर पंक्ति जनु लिखी मैन चित लाय॥
गरुता कुचनि कठोर की सहि नहिं सकत सुतीय।
कटि लचाय पग मग धरति पुनि पुनि तकि तकि हीय॥

कठिन स्तन नव चारु मुख रे मन लख अकुलात।
जो चाहत ऐसहि प्रिया करु तप काह मिहात॥
सुजनि छाँडि मत्सर सकल करिये हिये विचार।
कार्य एक उत्तम परम अरु मर्याद करार॥
कै निनम्ब भू भूधरनि सेइय अति अनुराग।
मार भार घर तियन के कै तजि सब जप जाग॥
या ससार असार महँ चतुरन कहँ गनि दोय।
तरुन ज्ञान अमृत सुइक, पान करत नर कोय॥
नातर मदन विलासिनी जघन अग सुकुमार।
परसि लहत सुख द्वै विहति जग न आन आधार॥
चन्द्रकान्त आनन सुघर महानील सिर केश।
पद्मराग कर तरुणि के वदन रतनमय शेष॥
नारि निपट सब विधि प्रवल करत मनुज आधीन।
विहँसि मोह उपजाय पुनि प्रकटत कला नवीन॥
निर्भय रमत निलज्ज अति कारण वहुरि विषाद।
रमणी रमण सदैव करि राखत वशी प्रमाद॥
विरहानल सन्तप्त अति अञ्चल वाल उठाय।
व्याकुल सुधि बुधि सकल तजि विचरत इत उत धाय॥
उर शीतल रजनीश कर लागत शर इव आय।
वेगत थर थर कांप तनु आतुर हाहा खाय॥
प्रिय जब लग दरशति नहीं तब लगि जिय अकुलात।
आवत नयनन तर ज्योंहि मन औरहि होइ जात॥
आलिगन हित करत तन वहु प्रयत्न हरपाय।
भरत अक चह परस्पर तक न कबहुँ विलगाय॥
कटि केहरि कमनीय विधु आनन रूप रसाल।
प्राप्त जाहि सुन्दर नवल नाहि स्वर्ग सब काल॥
तिय स्वभाव ते नहि कहत भोग समय सुखमूल।
आश्रित तजि निज मान पै वनि आवत अनुकूल॥
करत वहुरि निशक सुट आदर स्निग्ध सुहाय।
पुलकित प्रेमाकुल रमत प्रीतम हीय लगाय॥
केश मुक्त उर द्विच पतित किञ्चित मुकुलित नैन।
परम रम्य मुसुकानि मृदु प्यारे कोमल वैन॥

सुरतजनित श्रमस्वेदकण छाये जासु कपोल।
वधू मधुर मधु पिवत है भाग्यवन्त नित लोल॥
आमीलित चञ्चल नयनि सुधा सुरतिरस एक।
सुखकर मनसिज शान्ति कर निश्चय सत्य विवेक॥
जरासु मदन विकार किय अति अनुचित विधि एह।
किय न स्तनपतनावधी जीवन कामिन देह॥
उभय चित्त अरु प्रीति जो सम ह्वै रहै हमेश।
तौ सुख जानिय नतरु सग शवसम विविधि कलेश॥
मृगनयनी चञ्चल चतुर वाणी मृदुल पुनीत।
कविवर कहि कहि थकि रहे पाय सुहृदय प्रतीत॥
रसमय सुखमय प्रेममय भाषण रुचिर विनीत।
मैनोदयकर छवि छकित सकहि जगत सब जीत॥
ज्ञानिन कहँ सुरसरी तट वास त्यागि मद काम।
तरुणी स्तन मन हरन ते कै सुन्दर विश्राम॥
युवति करहि पिय सन्मुखहिं लघु मध्यम गुरु मान।
मलय सुचन्दन सम्मिलित पवन सुखद सम जान॥
आवतही ऋतुराज के बहहिं वायु मृदुमन्द।
नवल पल्लवनि युत सकल सोहहिं तरुवर वृन्द॥
करहिं मधुर रव पिक प्रिय द्रुमनि द्वार हुलसाय।
पाय समय अस होहिं सब भोग सरस अति काय॥
पवन सुगन्धित कोकिला कल वसन्त महँ हाय।
विरहिन दुखद विपत्ति जिमि सुधा गरल ह्वै जाय॥
आवासिन रमणीय है मधु रस मोद निधान।
तरुणि अधर मकरन्द नित करहिं सदा जे पान॥
चन्द्र किरण शीतल रजनि अति विचित्र तिहि मास।
करहिं साज सुख के सुई प्रवासीन उपहास॥
लखि रसाल नवमजरी उत्कण्ठित पिक कूक।
विरहानल हुति सरिस मो देत हीय बिच हूक॥
वात कुसुमि सुदासमय हरनि सुश्रम समुदाय।
विप सम प्रिया वियोग ते लगि तन देति जराय॥
गुञ्जत अलिगण पुष्पमधु पीवत मधुर लुभाय।
ऋतुपति ललित लता निरखि किहि न काम सरसाय॥

अति शीतल श्रीखण्ड सम कामिन कर सुकुमार ।
सीकर सींचत भवन सब जलधि सुता सुतहार ॥
मरुत मन्द शुचि चाँदनी कुमुदिन कुसुमाकाश ।
मदनविवर्द्धक ये सकल ग्रीषम जबहि प्रकाश ॥
सुमन मनोहर मालवर व्यजन पवन पर्य्यंक ।
विमल सुजल कोमल शयन अरु निश किरण मयक ॥
धवल धाम ऊँची गची सरवर चन्दन चूर ।
मुख सरोजलोचनि लहंहि जे सुकृतिसह पूर ॥
सुघर भवन सुन्दर रचित अमल रश्मि शशि रैन ।
मलयज मृदुरज शुभ सुरभि खसखाने मुददैन ॥
श्वेत नवल पट सुमन स्रक प्रिया वक्त्र अम्भोज ।
क्षोभहिं तुरत रसज्ञ जन मन सञ्चाय मनोज ॥
कामोद्दीपक कमल तन कुच कठोर कटि छीन ।
पावस अति तरुणी कहिय काहि न हर्षित कीन ॥
श्याम जलद मय नभ भई अवनि हरी चहुँ ओर ।
कुटज कदव सुगन्धवर वक पगति चितचोर ॥
विपिन रम्यशिखि कल मधुर अरु झिल्लीझनकार ।
वरषा जग सभोग हित वश करि राखत मार ॥
घनोपटल आकाश घन नृत्य मयूरनि राग ।
वसुधा कदल ववल लखि धीर वियोगी त्याग ॥
विलसित वल्ली अकुरित जात केतकी फूल ।
गर्जनि घोर पयोद चहुँ दादुर रव सरकूल ॥
केकी पिक कोलाहलनि, पूरि जगत जब जाय ।
गजगामिनि विन रजनि तव विरह भरी न सिराय ॥
अन्धकार दीसहि नही कछहू नभ घनघोर ।
वरसत पुनि पुनि गरजि अति गिरत नीर करि शोर ॥
ता विच चचल दामिनी चमकि चमकि रहि जात ।
धन्य तिनहि जे भुज भरत प्रिया मुदित यहि गात ॥
पावस अगम विचारि मगु जो कदापि पिय गेह ।
शरद न बिछुरन हेत तिय आलिगन अति नेह ॥
श्रमहारक शीतल पवन नीकर स्वेत विभास ।
सुखकारक दुग्ध दिवस ह करत प्रिया जिहि पास ॥

शरद अर्ब्द निशि जे पुरुष सब विधि दैव बिहीन।
भोग आम तजि शिथिल तनु जरत बिरह दवदीन ।।
रजनी शुभ्र वितान इव निरखि मयक प्रकाश ।
बिन तिय उपल प्रहारि हिय ग्रहगण गिनत अकाश ।।
भाग्यवन्त घृत दुग्ध दधि प्राशन वर हेमन्त।
केशरि रस तन खौर अरु नवपट अरुग अनन्त ।।
पीनोरुस्थल कामिनी अक लाय सुख पाय।
आनन्दित सोवहि सुखी सब जगजाल बिहाय ।।
उडि कपोल चुम्बन करत केश झकोरनि बात ।
सीसी सब मुख ते कढत उर न वस्त्र ठहरात ।।
कपत थर थर थर उरू वायु वेग लगि गात।
मरुत दशा विरहीन सी शिशिर काल ह्वै जात ।।
पुनि अबलन सन पुरुषसम करत सोइ व्योहार।
आकर्षत कच बसनहू अग अग ते टार ।।
आकुठित करि दीठ कर विस्तृत रोमसु देह ।
सीसकार ते अधर जनु रीतत भरत सनेह ।।
विषय त्रिरस अति दुखमा त्याग्यो जानि असार ।
निन्दत जे यहि मन्द कहि निज विचार अनुसार ।।
आत्म तत्त्व थिर करि जबहि तिनहूँ बुद्धि सुजान ।
खोजत तब नहि कह सकत तिय महिमा बलवान ।।
श्रुति पुराण गुरु हित चहत यद्यपि चतुर प्रवीण।
वेद वारि वर महँ करत कवि कोविद मन मीन ।।
तदपि कहत भू है न कछु परहित पुण्य समान।
अरु सुन्दर भामिन सरिस रम्य न जग कछु आन ।।
युक्ति अनेक अनर्थ मय करिबो वृथा प्रलाप।
सेवनीय जग मैं अहहि अपर सकल परिताप ।।
तिय यौवन मद युक्त अरु नमित पयोधर पीन।
वा वन, जियव निरर्थ फिर जो वर युगुल विहीन ।।
साँची कहहुँ न और लै लीक यथारथ टेक ।
विपइनि की सतोप जर नवनितम्बिनी एक ।।
नित परमारथ साधहु मुनि समरथ कृपगात।
गहहि पन्थ वैराग्य जब मन इनते फटि जात ।।

दीप पुरु प्रज्वलित है निर्मलता अधिकाय ।
जब लगि तिय लोचन चपल अचल दे न बुझाय ॥
कवि कोविद मत्र मन करत बहु विधि वादविवाद ।
विषय त्याग मुख ही रहे मन ते तनिक न बाद ॥
रत्नखचित वर मेखला शोभित जिहि तन माँहि ।
ताहि विलग करि देन मे जग समर्थ कोउ नाँहि ॥
तरुणी निन्दत जे प्रवर ते वचन हठि लोग ।
तप फल स्वर्ग सुतासु फल अप्सरानि सभोग ॥
अति उनमत गजराज बल मथत प्रबल जे शूर ।
अरु मृगपति सुप्रचण्डहू मद करि डारत चूर ॥
दक्ष वलीन पुकारि पै कहहुँ होउ सो होउ ।
दलन दर्प कन्दर्प में समरथ विरला कोउ ॥
साधु समागम दमन तन इन्द्रिय अरु अज्ञान ।
हिय लज्जा धरिबो सकल आश्रय तब लगि जान ॥
आकर्षण कर भ्रू धनुष गारयो जब लगि तानि ।
लीलावति तकि नयन शर नहि छाँडे सन्धानि ॥
तिय सनेह युत वेगही आरम्भत जो काज ।
तामहँ विघ्न न कर सकहि विबह जो सुरताज ॥
ज्ञानी सुघर कुलीन नर तब लगिही आचारि ।
जब लग श्रत प्रविष्ट नहि मैन शरासन धारि ॥
वक्ता वेद पुरान वर, ज्ञाता शास्त्र सुजान ।
लहत परम पद गति क्वचित कोऊ पुरुष महान ॥
परम अनूपम कुञ्चिका तिय भृकुटीन विहाय ।
चहत खोलिबो अमरपुर द्वारो खुलि न सकाय ॥
मीन-ध्वज मुद्रा तिया बहु सम्पति दातार ।
मन्द त्याग तिय करहि जे पावहि दण्ड अपार ॥
क्रोधित मदन महीप कृत मुण्डित नग्न विरेह ।
कर कपाल लै भ्रमत नित दूषित नेह ने गेह ॥
विश्वामित्र मुनीश जिन अशन पवन अरु पान ।
सो मोहे लखि कमल मुख प्रगट सबहि यह बात ॥
मनुज दूध दधि घृत करत शाली अन्न अहार ।
ते न फँसहि यदि विषय तो तरहि पयोनिधि पार ॥

बदन तेज रजनीश सम कटि कृश अति कमनीय।
मध्य भाग तरुणी कुशल मैन कुम्भ र हीय॥
इनही हित नर बुद्धिवर दुप्टहु राज दुवार।
सेवत चित धरि धैर्यगत मानि विविध उपकार॥
सुघर गुहा रमणीय जहँ गिरजा शम्भु स्थान।
गगधार शोभित शिला तहँ धरिबे कहँ ध्यान॥
जात कौन मनमलिन तजि गृह सुत निज परिवार।
जो कुरग शावकनयनि व्यापति जग न विकार॥
कोमलागि मोहन प्रबल मत्रन यदि प्रकटात।
अति दुस्तर ससार तरि तौ सब पारहि जात॥
करि न उलघन सकत नर सागर आशा रूप।
परम मनोहर तरुणता यह सब भाँति अनूप॥
फिरि प्रवास किमि खोइयै भ्रगत अमित दुख पाय।
अन इच्छित आये जरा कर मीजबु रहि जाय॥
कहेहुँ प्रवलता मैन की मै नहि चाहहुँ ताहि।
ताते करि ताको बिरस बरणहुँ अब अवगाहि॥
यौवन दाहक निज वदन अरु बहु अनरथ हेत।
ज्ञानरूप विधु विमल कहँ घनसमपटल सचेत॥
बीज मोह उतपत्ति कर पचवान प्रिय मीत।
दुखप्रद नरकागार यह सबही विधि विपरीत॥
शृगारद्रुम नीरदा क्रीडा मेघ समान।
सींचि मधुर रस ते करत हाव लतादि वितान॥
मुकता फल अनमोल तिहि लागत फल चतुराय।
धन्य युवा जे नहि चलहि निज मर्याद भुलाय॥
पुरुष स्त्रिय जानत अशुचि तौहूँ ताहि निहारि।
निलज वहुरि मद युक्त ह्वै रमत न अतविचारि॥
अबुजनयने प्रियवरे पुप्टोच्चस्तन भाषि।
चन्द्रानने प्रवीन कहि हर्पंत हिय हँसि राखि॥
सुनत नाप उन्माद लखि छुवत पोह अविकाय।
तासु नाम किमि लीजिए प्रिया सुशील सुभाय॥
जब लगि नयनन ओट नहि तिय तब लग सुख जान।
विलग होत ही सो सकल विप इव चढत निदान॥

सुधागरल दोऊ रहत कामिन अंग समूल।
अमृतलता अनुकूल विषवल्लरीसु प्रतिकूल॥
अति दुस्तर जड यन्त्र है घोर मोह की पाश।
विघ्नकरी अमरावती अरु जग जीवन त्रास॥
संशय हिंसा कपट की भवन कुबुद्धि निधान।
सृष्टि माँहि अस नीच कछु दुखद न नारि समान॥
कविवर उपमा देत है मुख शशि सरसिज नैन।
कनक वदन भृकुटी कुटिल धनुष सुधा सम बैन॥
सुनत जाहि भूलत मनुज सब सुखमय अनुमानि।
सेवहिं हाडिन मासही मृगजल सरिस न जानि॥
अतिप्रिय मानत मन्द मति लीलावती विलास।
गुञ्जत आनन्दित भ्रमर जिमि कुमोदनी पास॥
अति कोमल वारिज सदृश शोभित आनन वाम।
पूरण विधु छवि हर सुघर सुदर सुखमा धाम॥
बिम्बाफल इव अधर जहँ सुधा कहत सब कोय।
यौवन बीतत ही सुई तुरत हलाहल होय॥
कान्ता सरिता जानिए जल अथाह गम्भीर।
चक्रवाक कुच पद्म मुख नाभि भँवर वर तीर॥
संसारार्णव माहि जो चहहु न मज्जन पान।
तौ दूरिहि ते याहि को त्यागहु सुमति सुजान॥
बोलत इकसन एकतन देखत हिय अभिलाखि।
चित ते चितत औरही प्रिय को सकिय न भाखि॥
मुखहि रहत मधु हृदय विष ताही ते यह रीति।
अधरारस पीवत समय हिय मर्दन युत प्रीति॥
वनिता अजगर रहत नर चतुर दूरि सब काल।
चितवत जाके क्षणक में आवत लहर कराल॥
सर्प सकल मुख ते डसत विषविमुक्त हू होय।
कबहुँ न उतरत जन्म भरि जो यह देखै जोय॥
नारी जाल जहान में धीमर काम प्रवीन।
फैलायो है युक्ति तें अधरामिष जा लीन॥
मनुज मीन के फसत ही आकर्षत अति हेत।
प्रीति अनल महँ डारि ..नि पचकत ताहि अचेत॥

कामिन काया वन सघन शिखर स्तन दुहुँ ओर ।
रे मन पथिक न जाइयो बसत मार नहँ चोर ॥
चतुर सुचञ्चल चपल अति गजगामिनि मदवन्त ।
पंकज बदन विलोकि कै जासु मयंक दुरन्त ॥
ताके नयन भुवंग कहुँ भूलि डसै न ।
भेषज मिलहि न तिन कबहुँ जिन घायल किय सैन ॥
मधुरादिक रस नृत्य अरु गायन सुखद सुगंध ।
परस पयोधर पाँच ये पचेन्द्रिय के बंध ॥
मूढ भ्रमत इन महँ फिरत देह मनुज की पाय ।
अविवेकी जड देति हैं परमारथहिं नसाय ॥
मदन सुव्याधि असाध्य है जासु निवारण नाहिं ।
औषध लगन न मंत्रहू वाके निकटहिं जाहिं ॥
शान्ति करत नहिं पावई कैसेहू सो नाश ।
मोहज्वर नर अंग महँ आवत करत प्रकाश ॥
सुन्दर वेश्या मैन की ज्वाला अति विकराल ।
कामी यौवन धन जहाँ होमत नित्य विहाल ॥
जन्म अंध दुर्मुख अशुचि जराजीर्ण सब गात ।
अविचारी अकुलीन खल कपटी कोल किरात ॥
अल्प द्रव्य हित जे रमत तिय इनहूँ सँग माँहि ।
ज्ञानी श्रेष्ठ गुणज्ञ जन तिन पै मोहित नाहिं ॥
वारवधू के अधर नहि सज्जन चुम्बन जोग ।
दूत चोर चेटक नटहु मुख लावत सब लोग ॥
पीन पयोधर चल तरल लोचन तन कमनीय ।
कर कोमल कृश उदर वर हार मनोहर हीय ॥
त्रिवलीलता अनूप लखि कछु लावत नहिं जीय ।
धन्य धन्य ते धन्य है सब प्रकार कथनीय ॥
बाले लीला करि कहा तू नैननि के बानि ।
छोडि व्यर्थ श्रम करति है चूकत देख निशान ॥
गुनित्रो मन महँ प्रथम सम उचित नाहिं अब तोहिं ।
विषय मोह माया सकल तृण इव दीसत मोहिं ॥
नील कमल छवि हरण ये युगुल नयन तरवारि ।
तकि तकि नित प्रति कत करत प्रबल प्रहार सँभारि ॥

ठानी कह समुभत नहीं जानी कछू न जाय।
ज्वाला चहहुँ अनग की मैं तन देहुँ बुझाय॥
निरमल गृह अति शुभ्र अरु तरुणी भोग विलास।
अग अनूपम वहुरि जो जग सुखदायक भास॥
इन सवही को जानियो प्रेमनतु कर जाल।
कामी कृमि फँसि जासु ते तलफत दुखित विहाल॥
योगाभ्यास अखण्ड ते आत्मा मन अपनाय।
सुखी निरन्तर जे अहहिं मायावध नमाय॥
तिनकह क्षोभि न सकत हैं तिय मुख स्वास सुवास।
अधरामृत भापण मधुर प्रेम पल्लवित हास॥
निज कोदड चढाय किमि ठनकारत तू मैन।
सिर धुनि धुनि बोलत वृथा कोयल हू मृदु वैन॥
री कटाक्ष चचल कहाँ मुग्धे पुनि पुनि मार।
चित्त शरण भगवन्त की गह्यो विनाश विकार॥
मोह अन्ध मदग्रस्त जव मदन हाथ विकि जात।
सकल विश्व तव नारिमय दशहूँ दिशा दिखात॥
वर विवेक अजन जवहिं लोचन लेत लगाय।
सकल भुवन भरि तिनहिं तव ब्रह्म एक दर्शाय॥
कृपा तिहारी के विना सो निलि सवहि सकै न।
विश्वविमोहन एक रस श्रीपति सुखमाऐन॥

॥इति॥

अथ श्रीमहिम्नस्तोत्रम्

भूमिका

योगप्रियाय भवसागरतारणाय,
कालान्तकाय कमलासनपूजिताय ।
नेत्रत्रयाय शशिशेखरधारणाय,
त्रैलोक्यतापशमनाय नमः शिवाय ॥

इस स्तोत्र की अनुपम काव्य और सरस वाणी को सुन किसका चित्त गद्‌गदित न हो जाता होगा और किसके मन में यह आकांक्षा न उत्पन्न होती होगी कि इसके मनोहर छन्दो में श्री पुष्पदन्ताचार्य गन्धर्वराज ने जो कुछ प्रकट भाव से दर्शाया है उसे समझकर कृतकृत्य होवें । परन्तु संस्कृत-विद्या में पूर्ण रूप से प्रवीणता न होने के कारण अनेक प्रेमीजन इस रस से वंचित ही रहते हैं । मैं स्वयं इस भाषा से परिचित नहीं । इसी से यह विचार बहुत दिनो से मेरे मन में था कि यदि अवकाश मिले और किसी गुणज्ञ का दैवयोग से मेरा संयोग हो जाय तो अपनी बुद्धि के अनुसार इसके आशय को जान यदि हो सके तो उसे प्रकाश भी करूँ । सो वह आज पूर्ण हुआ । इसका अनुवाद मैंने सन् १८८५ ई० मे, जिस समय मैं हुशंगाबाद में स्थित था, किया था ।

इस अनूठे स्तोत्र की रचना का कारण ऐसा सुना जाता है कि किसी राजा ने एक बहुत ही रमणीय पुष्प-वाटिका बनाई थी उसमे नाना प्रकार के सुवासित पुष्प सदैव विकसित रहते थे । किसी समय पुष्पदन्ताचार्य इस वाटिका की अत्युत्तम शोभा देख उसमे पधारे और जितने नूतन नूतन और सुगन्धित प्रसून पाये सब ले गये । उस दिन से उन्होंने नित्यप्रति वहाँ से फूल ले जाना आरम्भ किया । यह बात राजा को विदित हुई परन्तु कौन पुष्प ले जाता है यह कोई न बता सका क्योंकि गन्धर्वराज इस चोरकर्म को गुप्त रीति से करते थे । राजा ने गुणी जनो द्वारा यह प्रमाणित कराया कि यदि पुष्पचोर शिवनिर्माल्य का उल्लंघन करे तो निश्चय पकड़ा जाय । इस प्रकार का मन्त्र ठहराय एक रात्रि को वाटिका के चारो ओर शिवनिर्माल्य सिंचन कराया । पुष्पदन्त आये परन्तु जब लौटने लगे तब अपनी अन्तर्धान गमन की शक्ति नष्ट हुई जान चकित हुए और आशंकित होकर इस कष्ट से मुक्त होने के लिए शङ्कर की स्तुति करनी आरम्भ की जिससे श्रवण कर

श्री शिव जी ने प्रसन्नता प्रकट करके गन्धर्वाचार्य को पूर्ववत् शक्ति प्रदान कर उनका मनोरथ सुफल किया।

एक भाषा के छन्द को दूसरी भाषा के छन्द में उल्था करना कुछ तो आप ही कठिन होता है तिस पर इस पथ में प्रवेश करने का यह मेरा प्रथम ही साहस है, इस कारण मूल सस्कृत-छन्दो के यथार्थ भाव को मुझे शका है कि मै भाषा में तादृश न दर्शा सका हूँगा अर्थात् कही कही छन्द-रचना में आवश्यक वाक्यो की योजना करने में कुछ न्यूनाधिक हो गया होगा इसी से प्रत्येक श्लोक का भावार्थ भी लिखा है कि जिसमें मूल का अर्थ जानने में कुछ विरोध न हो। इस स्तोत्र के भाषान्तर करने में मूल कवि के अभिप्राय को भली भाँति प्रकट करने के हेतु से कही कही भावार्थ के प्रकरण में फेर-फार भी हुआ है सो अवलोकन से विदित हो जायगा। इसका छन्द-प्रवन्ध इस प्रकार मे है —

मूल		भाषा	
१से २९तक	शिखरिणी	१से१३तक	शिखरिणी
३०	हरिणी	१४ से २८ तक	भुजगप्रयात
३१ से ३४ तक	मालिनी	२९ से ३५ तक	हरिगीतिका
३५ से ३७ तक	अनुष्टुप्	३६ से ४३ तक	नाराच
३८ और ३९	मालिनी	४४ से ४९ तक	मालिनी
४०	वसन्ततिलका	५० से ५२ तक	तोमर
४१	अनुष्टुप्	५३ से ५५ तक	प्रज्झटिका
		५६	दोहा

इस कार्य में हुशगावादस्थ श्रीमद्वावू हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ का जो साम्प्रत मध्यप्रदेश राजधानी नागपुर मे विराजमान है मैं परम कृतज्ञ हूँ। उक्त महोदय ने वडी कृपापूर्वक पुस्तक के आशय और भावार्थ के जानने में सहायता देकर भाषानुवाद को शुद्ध किया। तदनन्तर श्रीमद्वावू सीताराम जी स्वामी इडियन मिडलेंड यन्त्रालय, झाँसी को मैं अनेकानेक धन्यवाद देता हूँ जिन्होने अपनी परम देशहितैषिता, स्वभाषानुराग और अनुपम मित्रस्नेह से इस पुस्तक को प्रकाश किया।

आशा है कि सद्गुण ग्राहक एक वार इसका अद्योपान्त पाठ कर मेरे परिश्रम को सफल करें।

झाँसी
१५ जनवरी, सन् १८९१ ई०। } महावीरप्रसाद द्विवेदी

श्री

अथ श्रीमहिम्नस्तोत्रम्

महिम्नः पारं ते परमविदुषो यद्यसदृशी
स्तुतिर्ब्रह्मादीनामपि तदवसन्नास्त्वयि गिरः ।
अथावाच्यः सर्वः स्वमतिपरिणामावधि गृणन्
ममाप्येष स्तोत्रे हर निरपवादः परिकरः ॥१॥

अहो शम्भू तेरी अतिव अपरम्पार महिमा ।
महाज्ञानी ध्यानी सकहिं नहिं मापी तिहि समा ।
वदी ब्रह्मा आदी गुणनि गणना औरहु करी ।
थकी वाणी गायी गिरिश तव गाथा गुणभरी ॥१॥

बखानै है तोही सकल निज बुद्धी सब नितै ।
स्तुती मेरी हू या ग्रहण करिहै श्री शिव चितै ।
सदा हेरै हीरे हियहि निज दासै अहहि जो ।
कुसेवे हू रीझै लखहि मन की भावनहि जो ॥२॥

हे शम्भु आपकी महिमा को भली भाँति जानना परम दुस्तर है, तथापि ब्रह्मादिकों अरु अपर महर्षियों ने निज निज शक्त्यनुसार आपके गुणानुवाद गाये हैं, और आपने उनके गुणकथन और स्तुति को ग्रहण किया है, इससे मुझे भी आशा है कि इस स्तोत्र को भी उसके दोषों पर ध्यान न देकर आप अंगीकार करेंगे। मुझे विदित है कि मैं, जिसको आपकी महिमा का लेशमात्र भी ज्ञान नहीं है, सब प्रकार से आपका स्तवन करने में अयोग्य हूँ, तथापि परम्परा से अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार सबने आपकी स्तुति की है, इसी से मैं भी दृढ़ विश्वास करके यथामति आपके गुण-गान करने में प्रवृत्त हुआ ॥१॥

अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयो-
रतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि ।
स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः
पदे त्वर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः ॥२॥

मनों बानी आहै अलग महिमा पन्थ हरते।
पुराणो औ वेदो चकित चित ह्वै कै सुडरते।।
कहै जैसे तैसे विलगि गुण ग्रामै प्रगटते।
शशी गंगाधारी अलख अविनाशी पशुपते।।३।।

सुताही के कैसे कहत बनि आवै गुण किते।
विषै का केते हैं मिलहिं नहिं ढूंढे युग बितै।।
न है आदो अन्तो अगम अति जाकी करणि का।
करै लीला कोऊ कवन विधि नाकी वरणि का।।४।।

आपकी महिमा वाणी और मन से परे है, अर्थात्, वाणी और मन में यह सामर्थ्य नहीं है कि पूर्णरीति से उसके पार जा सकें प्रत्यक्ष वेदवाणी भी आपके स्वरूप का प्रतिपादन भयभीत होकर करती है, आपके अनन्त गुण वर्णन करने में कोई भी समर्थ नही है परन्तु आपके लीलार्थं धारण किये हुए रूप के वर्णन में किसकी वाणी स्फुरित नही होती और किसका मन आर्कपित नही होता।।२।।

मधुस्फीता वाच परमममृत निर्मितवत-
स्तव ब्रह्मन् किं वागपि सुरगुरोर्विस्मयपदम्।
नम त्वेता वाणी गुणकथनपुण्येन भवत
पुनामीत्यर्थेऽस्मिन्पुरमथन बुद्धिर्व्यवसिता।।३।।

गुरू देवों केहू परम मृदु गभीर स्वर ते।
अमीरूपी जाके वचन सुखदाई हृदय ते।
भया भीता गीता सकुचि जिय सोऊ कहत हैं।
कृपासिन्धू वन्धू यदपि शिव प्रेमै गहत हैं।।५।।

कथा गैवो चाहो पुरमथन पुण्ये हिय धरो।
मिसी याही के मे वचन रसना पावन करो।
द्रवैगे मो पै श्री त्रिपुरअरि आशा यह मना।
सवै देतै आये शरण न गुणो औगुण गना।।६।।

हे पुरमथन! सव गुणसम्पन्न अमृततुल्य वेदवाणी के कर्त्ता आपके महिमा के वर्णन करने में सुरगुरु (वृहस्पति) की भी वाणी विस्मय को प्राप्त होती है। भला मेरी वाणी की कौन गणना है, परन्तु हे ईश! मेरी वाणी आपके स्तुति करने में इस हेतु से नहीं प्रवृत्त हुई कि वह किसी प्रकार से

आपको सन्तोष-दायक होवे किन्तु उसका अभिप्राय यह है कि आपके गुण-गौरव को वर्णन करके वह परम पावन हो जाय ॥३॥

तवैश्वर्यं यत्तज्जगदुदयरक्षाप्रलयकृत्
त्रयीवस्तु व्यस्तं तिसृषु गुणभिन्नासु तनुषु।
अभव्यानामस्मिन्वरद रमणीयामरमणी
विहन्तुं व्याक्रोशीं विदधत इहैके जडधियः ॥४॥

प्रभुत्व स्वामी ते जगत उपजै औ पलि मरै।
प्रलै ह्वै सारो धरणि पुनि सोई जल भरै॥
श्रुती तीनों नित्यै करत प्रतिपादन तव हरे।
त्रयी मूर्ति विष्णुर्विधिहु शिव शम्भू शशि धरे ॥७॥

यहै न्यारे न्यारे गुणनियुत राजै प्रभु जिते।
रावै मे ज्योना है विमल शुचि तेरी जगपते॥
करै निन्दा तापै कछुक इहलोके जड सदा।
न सो शोभा पावै लगति रमणीया तिन यदा ॥८॥

हे वरद ! जगत् के उत्पत्ति, पालन और संहारकारक, ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीन देवताओं की भिन्न भिन्न तीन गुणो से प्रकाशित तीन वेदो-द्वारा वर्णन की हुई आपकी महिमा को, इस लोक मे कोई कोई जड-बुद्धि मूर्ख, लोप करने का प्रयत्न करते है उनको अपने यह कृत्य, अपने दुराचरण मे यद्यपि सुहावने लगते है, तदपि, वास्तव मे वह सब भांति विपरीत ही है ॥४॥

किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनम्
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च।
अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः
कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः ॥५॥

विधाता है कैसो रचत त्रयलोकै किमि सुई।
धरे कैसी देही सकल किम वस्तू निरमई॥
कुतर्कै है मूर्खा कहि सुइमि माया भ्रम परे।
न जाने ऐश्वर्यो सकल नहि जो खडन धरे ॥९॥

आपके अतर्क्य ऐश्वर्य में जगत् मे बहुतेरे दुष्टबुद्धि, अज्ञानी मनुष्य इस प्रकार की कुतर्कना करते हैं कि विश्वोत्पत्ति ब्रह्मा ने की है। कल्पना किया कि

उनका कहना सत्य है, परन्तु उस देवता ने किस इच्छा से, किस शरीर से, किस उपाय से, किस आधार से और किस उपादान से जगदुत्पत्ति की ? इन प्रश्नो के उत्तर का आ ार उन्हे कही भी न मिलने से उनके सर्व दुष्ट कुतर्क जो केवल भ्रममात्र है नष्ट हो जाते है ।।५।।

अजन्मानो लोका किमवयववतोऽपि जगता-
मधिष्ठातार किं भवविधिरनादृत्य भवति ।
अनीशो वा कुर्याद्भुवनजनने क परिकरो
यतो मदास्त्वा प्रत्यमरवर सशेरत इमे ।।६।।

सुजन्मे हैं प्राणी अवयवनियन्ता कहुँ नही ।
विनाधिष्ठाता के जगत उतपत्ती किम कही ।।
अनीशोहू कैहूँ भुवन रचि जीवै करि सकै ।
वृथा चाहै कोऊ अपर विधि कलपै अमितकै ।।१०।।

सर्वको निर्मायो अमरवर लोकौ अरु नरा ।
असी शक्ती काकी अइहि बिनु तेरे शशिधरा ।।
महा ूढा ै जे करत कछु शका निज जिये ।
तिन्है सूझै नाही नयनयुगहीना अघ पि े ।।११।।

क्या यह लोक जो अवयवयुक्त है उत्पन्न नही हुए ? अर्थात् हुए हैं । क्या इनकी रचना बिना ईश्वर के सम्भव है ? अर्थात् नही है । क्या अनीश (जिसमें ईश्वरत्व न हो) भी भुवन और जन (जीव) की उत्पत्ति कर सका है ? अर्थात् नही कर सकता । हे 'अमरवर ! इससे स्पष्ट है कि ऐसी ऐसी कुतर्कना केवल मन्दमति ही किया करते है ।।६।।

त्रयी साख्य योग पशुपतिमत वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमद पथ्यमिति च ।
रुचीना वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुपाम्
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।।७।।

त्रयी वेदेमार्गी पशुपति उपासी पुनि जिते ।
सदायोगाभ्यासी तदुपरिच मास्यी सव तिते ।
मती जेते मारे निज निज प्रशसै कहि यहै ।
मतो येही साँचो कतहुँ जग दूजो नहि अहै ।।१२।।

रुची वैचित्र्येते सरल कुटिलो पन्थ सबही।
गहेहैं भावैं जो समुझि तिहि श्रेष्ठै धरत ही।
तिही भाँती जैसे सरित जल जावै जलधि मे।
मिलैंगे ते तोही सकल अवसाने पलक मे ॥१३॥

तीनो वेद, साख्य और योगशास्त्र, शिव और विष्णु-माहात्म्य-सम्बन्धी ग्रन्थ द्वारा निर्मित किये हुए भिन्न-भिन्न मतावलम्बियो को अपना-अपना मार्ग उत्तम भासता है, कारण, रुचि की विचित्रता से सरल और कुटिल पथ मे उन्हे अन्त नही समझ पडता, परन्तु अन्त समय जैसे सर्व ससारी जल टेढे और सीधे दोनो मार्गों से सागर मे जाकर सम्मिलन करते है इसी प्रकार यह विविध मतानुयायी आपही को आकर मिलते है ॥७॥

महोक्ष खट्वाग परशुरजिन भस्म फणिन
कपाल चेतीयत्तव वरद तन्त्रोपकरणम्।
सुरास्ता तामृद्धि विदधति भवद्भ्रूप्रणिहिताम्
नहि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति ॥८॥

महा उक्ष खट्वाग व्याला कपाला।
कुठारै धरे पाणिराजे दयाला॥
रमाये विभूती उमानाथ अगा।
मृगच्चर्म आसीन प्रेतादि सगा॥१४॥

समागन्य सामग्रि कामारि तेरी।
ऋधी सिद्धि दातार से भौंह फेरी।
सुरेशादि ब्रह्मादि सम्पत्ति सारी।
महाराज गौरीश दीन्हो निहारी॥१५॥

निजात्मा सुखी सम्भु आनन्दकारी।
किसी ना चहैं कबौ श्रीपुरारी॥
मृगाशा तृष्णा समा जानि ईशा।
हिये सो दिया त्याग तासो गिरीशा॥१६॥

हे वरद! नन्दी बैल, खट्वाग, परशु (कुठार), मृगछाला, भस्म (चिताभस्म), फणि (सर्प) और कपाल तो आपकी स्वय सामग्री है; परन्तु देवताओ की जो ऋद्धि-सिद्धि है सो आपकी केवल कटाक्षमात्र की कृपा से है। सत्य है आप तो, जो कि परमानन्द में सदैव निमग्न रहते है। यह विषय-वासनारूपी मृगतृष्णा कदापि मोहित नहीं कर सकती है ॥८॥

ध्रुव कश्चित्सर्व सकलमपरस्त्वध्रुवमिद
परो ध्रौव्याध्रौव्ये जगति गदति व्यस्तविषये।
समस्तेऽप्येतस्मिन् पुरमथन तैर्विस्मित इव
स्तुवन् जिह्लेमित्वा न खलु ननु धृष्टा मुखरता ॥९॥

ज ध्रू कहैहै नितै नित्य कोऊ—
अध्रू कोय ससार थापै सुदोऊ।
यही भाँति विस्मय जतावै सबी को।
अचम्भो वडो सो सुनै होत मोको ॥१७॥

करौं मै विनय नाथ कैसे तिहारी।
लजौहौं हिये माहिं हा हा पुकारी।
लहै अन्त नाही कह्यौ वेद जाको।
सु मै मन्दबुद्धी कहौं काह ताको ॥१८॥

हे पुरमथन! कोई तो कहता है कि यह ससार ध्रुव अर्थात् (स्थिर) सत्य जन्ममरणरहित है, कोई कहता है कि यह अध्रुव (अस्थिर असत्य) है, और कोई यह भी कहता है कि ध्रुव और अध्रुव दोनो है। ऐसी ऐसी वार्ताओ को सुनकर मै विस्मित की भाँति आपकी स्तुति करने में सलज्ज नही होता हूँ, कारण की वाचाल सदा धृष्ट हुआ करते है। तात्पर्य यह कि अनेक प्रकार से स्तुति करने में, मेरे मोहित होने से, लोग मेरी निन्दा करेंगे यह सकुच मैने तनिक भी मन में न ला करके आपकी विनय करने में, अपनी वाणी की योजना की ॥९॥

तवैश्वर्यं यत्नाधदुपरि विरिंचो हरिरध
परिच्छेत्तु यातावनलमनलस्कधवपुष ।
ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्या गिरिश यत्
स्वय तस्थे ताभ्या तव किमनुवृत्तिर्न फलति ॥१०॥

परीक्षा तवैश्वर्य की लेन हेता।
पतालै हरी उर्द्ध धाता सचेता।
गये हारि थाके लहो नाहिं पारा,
तवै ते भये भक्ति श्रद्धा अगारा ॥१९॥

कहो शम्भु सेवा कहू ना फलैहै।
त्रिशूलै गहे पाणि ताकी चलैहै।

दुराधर्ष कैलासवासी नमामी।
हरो मोह-माया व्यथा सर्व स्वामी ॥२०॥

हे गिरीश! आपके अग्नि-समान तेजपुञ्ज स्वरूप-सम्बन्धी ऐश्वर्य की परीक्षा लेने के लिए ब्रह्मा तो ऊपर आकाश और विष्णु नीचे पाताल को गये, परन्तु निराश होकर अन्त में भक्ति श्रद्धा समेत उनको आपकी विनय करनी पड़ी, तब आपने उनका मनोरथ पूर्ण किया। जिसके ऊपर आपकी कृपा हुई उसको कौन-सी वस्तु दुर्लभ है? अर्थात् कोई भी नहीं ॥१०॥

अयत्नादासाद्य त्रिभुवनमवैरव्यतिकरम्
दशास्यो यद्बाहूनभृत रणकण्डूपरवशान्।
शिरःपद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुहबले
स्थिरायास्त्वद्भक्तेस्त्रिपुरहर विस्फूर्जितमिदम् ॥११॥

दशग्रीव लै मुण्डमाला तुम्हें जो।
चढावैं अनेकानि बारैं हुमैं जो॥
फलाहूँ प्रसन्न प्रत्यक्ष दिखायो।
निजाशीश सो मार ताको बढायो ॥२१॥

महा ह्वै बली तीनहू लोक यामें।
भयो एक राजा बिना ही प्रयामें।
तऊ ना गई खाज बाहूनि वाके।
बडी युद्ध इच्छा बली हीय ताके ॥२२॥

हे त्रिपुरहर! दशानन (रावण) ने अनायास बिना किसी से वैर-भाव किये त्रैलोक्य का राज्य सम्पादन करके ऐसी ऐसी बड़ी भुजाओं को धारण किया कि जो युद्ध की सर्वदा इच्छा करती रहीं। उसने अपने ही हाथ से अपने सिर काट कमल-माला तद्वत् आपके चरणारविन्दों में अर्पण किया। यह सब आपही की स्थिर भक्ति के प्रताप का प्रभाव है ॥११॥

अमुष्य त्वत्सेवासमधिगतसारं भुजवनम्
बलात्कैलासेऽपि त्वदधिवसतौ विक्रमयतः।
अलभ्या पातालेऽप्यलसचलिताङ्गुष्ठशिरसि
प्रतिष्ठा त्वय्यासीद् ध्रुवमुपचितो मुह्यति खलः ॥१२॥

सुरारीश ता मोर माया चलायो।
तब त्याग कैलास भारी डरायो।

पतालै भयो आदरो ता अनूठा।
दबो ईश ज्योंही दबा ो अँगूठा ॥२३॥

अहे सो सबै भक्ति औ नाथ सेवा।
वशीभूत जो कीन लकेश देवा।
खलै जो मिलै नेक कैहूँ बडाई।
बनै आँधरो दुष्ट करमै अड़ाई ॥२४॥

आप ही की सेवा के प्रभाव से जिस रावण की भुजा इतनी बलवान् हुई उसी रावण ने बलात्कार से आपका वासस्थान कैलाश पर्वत बरजोरी उठाना चाहा परन्तु आपने अपने अँगूठे की नोकही से दबा कर रावण को ऐसी दशा को प्राप्त किया कि उसको पाताल में भी आश्रय मिलना कठिन हो गया। सत्य है, मूर्ख उपकार को भूल करके अपने बल का उपयोग करने लगते हैं ॥१२॥

यदृद्धिं सुत्राम्णो वरद परमोच्चैरपि सती-
मधश्चक्रे बाण परिजनविधेयत्रिभुवन ।
न तच्चित्र तस्मिन् वरिवसितरि त्वच्चरणयो-
र्न कस्याप्युन्नत्यै भवति शिरसस्त्वय्यवनति ॥१३॥

बली बाण चर्णाम्बुजानि प्रभावा।
नवौ खड जै को जु डका बजावा।
लयो जीत पादोच्चधारी सुरेशा।
न सोऊ अचमो कछू है महेशा ॥ २५॥

जपा नाम जै नाथ साँचे स्वभावा।
धरा ध्यान औ प्रीति से माथ नावा।
तिहूँ लोक लोकेशहू ताहि स्वामी।
कहै कपिकै हीय तुभ्य नमामी ॥२६॥

हे वरद! बाणासुर ने समस्त त्रैलोक्य को सेवक के समान अपने वश करके सुरेश (इन्द्र) के महदैश्वर्य को भी लज्जित किया सो सब इस बाणासुर को जो आपके चरणों में इतना प्रेम रखता था, कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं है। आपके भक्तों को कौन-सी वस्तु अलभ्य है? कोई नहीं ॥१३॥

अकाण्डब्रह्माण्डक्षयचकितदेवासुरकृपा
विधेयस्यासीद्यस्त्रिनयन विष सहृतवत ।

स कल्माष कंठे तव न कुरुते न श्रियमहो
विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवनभयभङ्गव्यसनिनः ॥१४॥

प्रलै होन ब्रह्माण्ड आई जबै है।
भयो देव दैत्यानि विस्मय तबै है।
विषै पान कीन्हा दुखी देख सारे,
भई श्यामता कंठ में जो निहारे॥ २७॥

जगत्राण के नाश में चित्त जाको।
विकारो सदा भूषणै नाथ ताको।
लहै काहू ना सोउ शोभा घनेरी।
नमामीश मेरी हरो ताप हेरी॥२८॥

हे त्रिनयन! समुद्रमथन के समय में हलाहल के निकलने से अकस्मात् ब्रह्माण्ड के नाश होने के भय से सुरासुरों को चकित हुआ देख, उनपै कृपा करके, विषपान करने से आपके कण्ठ में जो कालिमा हो गई है सो क्या शोभा नहीं देती है? देती है। जिनका व्यसन संसार के भय को भंग करना ही है उनको तो दूषण भी भूषण है ॥१४॥

असिद्धार्था नैव क्वचिदपि सदेवासुरनरे
निवर्तन्ते नित्यं जगति जयिनो यस्य विशिखाः।
स पश्यन्नीश त्वामितरसुरसाधारणमभूत्
स्मरः स्मर्तव्यात्मा न हि वशिषु पथ्यः परिभवः ॥१५॥

विजयी जगत सुप्रचण्ड शर नहिं होत निष्फल जाहि के।
व्यापित असुर सुर मनुज के मह विशिष तीक्षण ताहि के।
हे ईश सन्मुख जात तव जरि मारि छार सु है गयो।
करि कै अनादर महापुरुषहि भलो जग काको भयो।२९।

हे ईश! जिस मनसिज के जगत्विजयी बाण सुर, असुर मनुष्य किसी को लगकर असफल नहीं होते उसने आपको भी साधारण देव जान, आपके ऊपर भी बाणप्रहार किया, परन्तु आपने उसकी एक क्षण-मात्र में भस्म की ढेरी बना दी। सत्य है जितेन्द्रिय पुरुषों का अनादर करना भला नहीं होता ॥१५॥

मही पादाघाताद् व्रजति सहसा संशयपदम्
पदं विष्णोर्भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणम्।

जब यज्ञ पूरा होता है तब आप ही फल देते हैं आपकी आराधना बिना यज्ञकर्त्ता के सब कर्म नष्ट हो जाते हैं, जब कर्म ही नष्ट हो गये तो फल कहाँ से मिलेगा इसी कारण आपको यज्ञकृत कर्म का फलदातार जानकर, सुजन जन वेद से प्रतीत करके श्रद्धायुक्त बद्धपरिकर हो सर्व कार्य करते हैं ॥२०॥

क्रियादक्षो दक्ष क्रतुपतिरधीशस्तनुभृता-
मृषीणामार्त्विज्य शरणद सदस्या सुरगणा ।
क्रतुभ्रश स्त्वत्त. क्रतुपुफलदानव्यसनिनो
ध्रुव कर्तु श्रद्धा विधुरमभिचाराय हि मखा ॥२१॥

सब देह धारिन ईश मुनिन सहाय निपुण सुकर्म में।
जाके सभासद अमर शरणद दक्ष तत्पर धर्म में।
विध्वस वाहू को भयो मख गिरिश शुचि श्रद्धा बिना।
किमि सकत पूरण होन तव पद व्यसन नहि एकहु दिना ॥३५॥

हे शरणद ! क्रियादक्ष (कार्य्य में निपुण) दक्ष प्रजापति स्वय यज्ञ कर, सपूर्ण ऋषीश्वर यज्ञ करानेवाले और देवता सभासद् होने पै भी बिना आपकी श्रद्धा के यज्ञ विध्वस हो गया इससे स्पष्ट है कि आपकी भक्ति विहीन कोई भी शुभकर्म करने में कर्ता का विनाश होता है ॥२१॥

प्रजानाथ नाथ प्रसभमभिक स्वा दुहितर
गतं रोहिद्भूता रिरमयिषुमृष्यस्य वपुषा।
धनुष्पाणर्यात दिवमपि सपत्राकृतममु
त्रसत तेऽद्यापि त्यजति न मृगव्याधरभस ॥२२॥

जबै विरचि पुत्रि मग में रमै विचारियो।
सभीत त्रस्त तैं मृगी स्वरूप वेगि धारियो।
भयो मृगा सोऊ विलोकि हा हहा पुकारियो।
महा अधीन दीन ह्वै दुखी नमै निहारियो ॥३६॥

कह्यो समर्थ कोउ जो अहै सु हो उवारियो।
परी अधर्म फाँस बीच धाय दुख टारियो।
सुने सु जासु के दयालु शभु बान मारियो।
दियो चतुर्मुख्यो शरीर दै फलै प्रचारियो ॥३७॥

हे नाथ ! विरंचि ने जब कुदृष्टि से अपनी दुहिता (लड़की) को देख उसके साथ भोग की इच्छा प्रकट की, तब उसने धर्म-रक्षा के हेतु हरिणी का रूप धारण किया। ब्रह्मा भी हरिण होकर उसके पीछे धाया। इस अन्याय को देखकर आपने वधिक के समान बड़े आवेश में आकर उस मृगरूपी ब्रह्मा को ऐसा बाण मारा कि स्वर्ग में जाने से भी वह पीछा अभी तक नहीं छोड़ता और मृगशीर्ष नक्षत्र होकर तारागणों में प्रसिद्ध है ॥२२॥

स्वलावण्याशंसा धृतधनुषमह्नाय तृणवत्
पुरः प्लुष्टं दृष्ट्वा पुरमथन पुष्पायुधमपि।
यदि स्त्रैणं देवी यमनिरत देहार्धघटना-
दवैति त्वामद्धा बत वरद मुग्धा युवतयः ॥२३॥

जऊ अनंग को महेश भस्म कै दियो चितै।
लयो हतो गिरीशनन्दनी सुभेष जो हितै।
तऊ अशक्त ही कहै प्रिया जु अर्ध अंगिनी।
तिया न दोष योग सों सदा कुबुद्धि संगिनी ॥३८॥

हे पुरमथन ! हे वरद ! हे यमनिरत ! (योगादि नियमों में कुशल) पार्वती जी को, जो आपकी अर्धांगिनी हैं, विशेष सुन्दरता दिखाकर आपको मोहित करने के हेतु से जिस कामदेव ने आपके ऊपर पुष्पबाणप्रहार किया उस काम को आपने तृणसमान भस्म कर दिया यह वृत्तान्त विदित होने पर भी यदि वह पार्वती जी आपके अर्धांग में अपने को विराजमान जान आपको सकाम कहें तो यही समझना चाहिए कि स्त्रियों की यह मूर्खता है ॥२३॥

श्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहर पिशाचाः सहचरा-
श्चिताभस्मालेपः स्रगपि नृकरोटी परिकरः।
अमङ्गल्यं शीलं तव भवतु नामैवमखिलम्
तथापि स्मर्तॄणां वरद परमं मङ्गलमसि ॥२४॥

मसान वास जो पिशाच आदि ही सखा घने।
चिता विभूति अंग लेप मुण्डमाल है बने।
सदा कुनाम नाथ शील सर्वदा अमंगला।
तऊ परन्तु होत नाथ नाम ते जु मंगला ॥३९॥

हे स्मरहर ! हे वरद ! श्मशान तो आपका क्रीडास्थान है, पिशाच आपके सहचर हैं, चिताभस्म आपके अग का लेप है और मनुष्यो (भक्तो) के मुड आपकी माला है। यद्यपि आपके अखिल साज और समाज अमगलकारी है तथापि आपके भक्तो को, जो आपका स्मरण करते है यही सब मगल-मय हैं ॥२४॥

मन प्रत्यक् चित्ते सविधमवधायात्तमरुत
प्रहृष्यद्रोमाण प्रमदसलिलोत्सगितदृश ।
यदालोक्याह्लाद ह्रद इव निमज्यामृतमये
दधत्यतस्तत्त्व किमपि यमिनस्तत्किल भवान् ॥२५॥

मुनीश आत्मसाध् का जु वात जीतहू लियो।
सहर्ष जासु प्रेम नीर नैन ते वह्यो कियो।
समाधि लाय नित्य तत्त्व जौन ढूँढते रहै।
अहो उई तुम्है कृपानिधान वेद यो कहै ॥४०॥

योगीजन जिन्होने, मन से इन्द्रियो के आचरण को निहित करके, विधिवत् पवन को भी चित्त में वश कर लिया है और प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का त्याग करके योग साधन कर मन में जिस तत्त्व को देख गद्‌गद होते हुए और नेत्रो से आनन्दाश्रु की धारा बहाते हुए अमृतरूपी कुण्ड में तल्लीन होने के समान परमानन्दित होते है वह तत्त्व आप ही है ॥ २५॥

त्वमर्कस्त्व सोमस्त्वमसि पवनस्त्व हुतवह
त्वमापस्त्व व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।
परिच्छिन्नामेव त्वयि परिणता बिभ्रतु गिर
न विद्मस्तत्तत्त्व वयमिह तु यत्त्व न भवसि ॥२६॥

सु आप अर्क अग्नि सोम आप वायु रूप है
धरा पताल व्योम लोक आपही अनूप है।
गिनौ कितेक मूर्ति ईश सत्य ही कहौ खरै।
विना तुम्हे न वस्तु एकहू कहूँ लखी परै ॥४१॥

आप ही सूर्य हैं, आप ही चन्द्र हैं, आप ही पवन हैं, आप ही अग्नि हैं, आप ही जल हैं, आप ही व्योम हैं, आप ही पृथ्वी हैं और आप ही आत्मा हैं। महात्माजन इस प्रकार आपके परिमित स्वरूप का वर्णन करते है, परन्तु

मेरी बुद्धि तो यह कहती है कि ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जिसमें आप व्यापक नहीं ॥२६॥

त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरा
नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति ।
तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः
समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम् ॥२७॥

सदा महेश ध्यान ऊ समस्त व्यस्त गावई ।
अ ऊ मकार युक्त यों विभक्त कै बतावई ।
त्रिवेद वृत्तिदेव स्वर्ग मृत्यु औ रसातला ।
विकार सर्व हीन शंभु व्याप्त आपकी कला ॥८२॥

हे शरणद! ओ३म् जो अ उ म संयुक्ताक्षर है सो अकेला और भिन्न भिन्न किया विभक्त भी मन्द मन्द ध्वनि से तीनों वेद, तीनों वृत्ति (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) तीनों लोक और तीनों देवताओं के प्रति आप ही के निराकार स्वरूप का प्रतिपादन करता है ॥२७॥

भवः शर्वो रुद्रः पशुपतिरथोग्रः सहमहां-
स्तथा भीमेशानाविति यदभिधानाष्टकमिदम् ।
अमुष्मिन्प्रत्येकं प्रविचरति देव श्रुतिरपि
प्रियायास्मै धाम्ने प्रणिहितनमस्योऽस्मि भवते ॥ २८॥

महान भीम औ ईशान रुद्र जू पशुपती ।
भव सुशर्व उग्र आठ नाम एक है गती ।
तेहि नित्य नित्य वेद शोधि कै सुनावई ।
नवाय माथ दास पै उदार धाम ध्यावई ॥८३॥

हे देव! भव, शर्व, रुद्र, पशुपति, उग्र, सहमहान, भीम और ईशान इन नामाष्टक में से आप के प्रत्येक नाम को वेद भी गाते हैं, मैं तो ऐसे परम पुनीत नाम धारण करनेवाले आपको मन वच कर्म से नमस्कार करता हूँ ॥२८॥

नमो नेदिष्ठाय प्रियदव दविष्ठाय च नमो
नमः क्षोदिष्ठाय स्मरहर महिष्ठाय च नमः ।

नमो वर्षिष्ठाय त्रिनयन यविष्ठाय च नमो
नम सर्वस्मै ते तदिदमिति शर्वाय च नम ॥२९॥

सकल गुण निधाना एक त्रैलोक व्यापा।
चर अचर सबै में सिद्ध तेरो प्रतापा ।
जगत जनक रूपा दूर ह् नेर स्वामी।
त्रिपुर अरि दयाला अग ब्याला नमामी ॥४४॥

हे प्रियदव! (बनविहारी) आप समीप तथा दूररूपी को ननस्कार है। हे स्मरहर ! आप सूक्ष्म तथा स्थूलस्वरूपी को नमस्कार है। हे त्रिनयन, आप युवा नथा जरठ वेशधारी को नमस्कार है। इसी भाँति आप सर्तस्वरूपी तथा सर्वव्यापी को मेरा बारम्वार नमस्कार है ॥२९॥

वहलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमोनम
प्रवलतमसे तत्सहारे हराय नमोनम ।
जनसुखकृते सत्त्वोद्रिक्तौ मृडाय नमोनम
प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमोनम ॥३०॥

भव रज वहुधारी जीव उत्पत्तिकारी।
हर तन तन धारी क्रुद्ध ससार हारी।
प्रवल सत धनेशा ईश गौरीश गामी।
त्रिगुण पद विहीना चन्द्रचूड नमामी ॥४५॥

विपुल रज (वहुरजोगण) धारी, विश्वोत्पत्तिकारक, ब्रह्मस्वरूपी आप (भव) को नमस्कार है। प्रवल तम (प्रवल तमोगुण) सयुक्त सृष्टि सहारकारक, ईशरूपी, आप (हर) को नमस्कार है । जनसुखदायक, सत (सतोगुण) की मूर्ति, विष्णुस्वरू ी आप (मृड) को नमस्कार है। त्रिगुणविहीन माया रहित, परम पदस्थायी आप (शिव) को नमस्कार है ॥३०॥

कृशपरिणतिचेत क्लेशवश्य क्व चेद
क्व च तव गुणसीमोल्लघिनी शश्वदृद्धि ।
इति चकितममदीकृत्य मा भक्तिराधा–
द्वरद चरणयोस्ते वाक्यपुष्पोपहारम् ॥ ३१ ॥

कहँ मम बुद्धि दीना मोहसतप्तमन्दा ।
अकथ गुण तिहारे मो कहा विश्वकन्दा ।

तव पद रतही ने वाक्यपुष्पानिमाला ।
सचकित चढ़वाई प्रेरि मोको कृपाला ॥ ४६ ॥

हे वरद ! आपका, गुण की सीमा को उल्लघन करनेवाला, ऐश्वर्य कहां ! और मेरी क्लेशवश्य अत्यन्त अल्प बुद्धि कहां ! मुझको तो परम चकित जान आपकी भक्ति ही ने उत्कण्ठित करके यह वाक्यरूपी पुष्पमाल आपके चरणारविन्दो मे चढ़वाई ॥ ३१ ॥

असितगिरिसम स्यात्कज्जल सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी ।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकाल
तदपि तव गुणानामीश पार न याति ॥ ३२ ॥

असित गिरि बनावैं जो मसी सिन्धु दोनी ।
सुरतरु लिखनी औ निश्चला पत्र होनी ।
लिखहि यदपि लै कै शारदा जू सदा ही ।
तदपि गुण कथा को नाथ पारै न पाही ॥ ४७ ॥

हे ईश ! यदि श्यामवर्ण पर्वत के बराबर कज्जल (मसि, स्याही) करके सिन्धु का पात्र (दावात, मसिदानी) बनाया जाय और सुरतरु (कल्पवृक्ष) के शाखा की लेखनी कर पृथ्वीरूपी पत्र के ऊपर साक्षात् शारदा सर्वकाल लिखती रहें तो भी आपके अनन्त गुणों की गणना का अन्त न लगे ॥३२॥

असुरसुरमुनीन्द्रैरर्चितस्येन्दुमौले-
र्ग्रथितगुणमहिम्नो निर्गुणस्येश्वरस्य ।
सकलगुणवरिष्ठ पुष्पदन्ताभिधानो
रुचिरमलघुवृत्तैः स्तोत्रमेतच्चकार ॥३३॥

असुर सुर मुनीशा सिद्ध औ शारु चन्द्रा ।
नमत नित सप्रेमा शम्भु पादारविन्दा ॥
सब विधि गुणशाला पुष्पदन्त प्रवीना ।
रचि रुचिर छन्द स्तोत्र कीन्हो नवीना ॥४८॥

इस सुर-असुर और मुनीश सम्पूजित और इन्दु के धारण किये सदा की महिमा वर्णित, निर्गुणेश्वर के इस स्तोत्र की रचना सर्वगुणसम्पन्न पुष्पदन्ताचार्य ने रुचिर और अलघु अर्थात् बड़े बड़े वृत्तों (छन्दों) से की ॥३३॥

अहरहरनवद्यं धूर्जटे स्तोत्रमेत-
त्पठति परमभक्त्या शुद्धचित्तः पुमान्यः ।
स भवति शिवलोके रुद्रतुल्य स्तथाऽत्र
प्रचुरतरधनायुः पुत्रवान्कीर्तिमाश्च ॥३४॥

प्रतिदिन नर याही शुद्धि ह्वै जो सचेता ।
पढ़हिं अति हेता भक्ति श्रद्धा समेता ।
अघ सकल नसैहैं रुद्रलोकै सिधैहैं ।
धनवय अवगैहै कीर्ति सतान पैहैं ॥४९॥

जो कोई इस उत्तम स्तोत्र का नित्य नित्य शुद्ध चित्त होकर भक्ति-समेत प्रेम से पाठ करते हैं वे इस लोक में नवान्, पुत्रवान्, कीर्तिमान् और दीर्घायु होते हैं और अन्त को शिवलोक में जाकर रुद्रतुल्य आत्मा को प्राप्त होते हैं ॥३४॥

दीक्षा दान तपस्तीर्थं ज्ञान यागादिका क्रिया
महिम्नस्तवपाठस्य कला नार्हन्ति षोडशीम् ॥३५॥

तप होम तीरथ दान। दीक्षाति यज्ञ विधान।
इन ना महिम्न की जान। षोडस कलाहूँ समान ॥५०॥

दीक्षा, दान, तप, तीर्थ, हवन और यज्ञादि क्रियाओं का फल महिम्न के पाठ के फल के सोलहो भाग की भी बराबरी नहीं है ॥३५॥

समाप्तोय समस्तोत्र सर्वमीश्वरवर्णनम् ।
अनूपम मनोहारि पुण्य गन्धर्वभाषितम् ॥३६॥

तत देत मैं अव भापि। पदपद्म हर उर राखि।
मन हरन चरित अनूप। कहि वन्दि प्रभु गिर भूप ॥५१॥

यह गधर्व राजकृत स्तोत्र, जो परम मनोहर और अनुपम है और जिसमें श्री शकर ही का सर्वत्र वर्णन है, समाप्त हुआ ॥३६॥

महेशान्नापरो देवो महिम्नो नापरा स्तुति ।
अघोरान्नापरो मन्त्रो नास्ति तत्त्व गुरो परम् ॥३७॥

सुर शिव परे कहु है। विनती महिम्न परे न।
न अघोर छाँडि सुमत्र। गुरु परे तत्त्व न तन्त्र ॥५२॥

शंकर से विशेष कोई देव नहीं है, महिम्न से विशेष कोई स्तुति नहीं है, अघोर मंत्र से विशेष कोई मंत्र नहीं है और गुरु से विशेष कोई तत्त्व नहीं है ।।३७।।

कुसुमदशननामा सर्वगन्धर्वराजः
शशिधरवरमौलेर्देवदेवस्य दासः ।
स खलु निजमहिम्नो भ्रष्ट एवास्य रोषा-
त्स्तवनमिदमकार्षीद्दिव्यदिव्यं महिम्नः ।।३८।।

श्री पुष्पदन्त भव भक्त लीन ।
गुरु घोर क्रोध पै भ्रष्ट कीन ।
सुनि वर महिम्न शंकर सुजान ।
उद्धारि कीन गुणगण निधान ।।५३।।

कुसुमदशन (पुष्पदन्त) नाम गन्धर्वों के राजा श्री महादेव जी के सेवक ने, जिसका आचरण गुरु के रोष से भ्रष्ट हो गया इस महिम्न की रचना करके स्तवन करने से, दिव्य रूप पाया ।।३८।।

सुरवरमुनिपूज्यं स्वर्गमोक्षैकहेतुं
पठति यदि मनुष्यः प्राञ्जलिर्नान्यचेताः ।
व्रजति शिवसमीपं किन्नरैः स्तूयमानः
स्तवनमिदममोघं पुष्पदन्तप्रणीतम् ।।३९।।

कर युगल जोरि जो शिव समीप ।
पढ़िहैं हो है कुल माहि दीप ।
कैलाश जाइहैं मोक्ष पाय ।
यहि सम न आन जग कछु उपाय ।।५४।।

इस पुष्पदन्तप्रणीत अमोघ स्तोत्र, स्वर्ग मोक्ष के दाता और सुर-मुनियों द्वारा पूजित, को जो कोई एकाग्रचित्त होकर, हाथ जोड़ प्रेम से पाठ करते हैं वे अन्तकाल शिवपुर को जाते हैं और गन्धर्वादि उनकी स्तुति करते हैं ।।३९।।

श्रीपुष्पदन्तमुखपङ्कजनिर्गतेन
स्तोत्रेण किल्बिषहरेण हरप्रियेण ।
कण्ठस्थितेन पठितेन समाहितेन
सुप्रीणितो भवति भूतपतिर्महेशः ।।४०।।

गधर्वराज कृत विनय नित्य ।
श्री शकर मन्दिर शुद्ध चित्त ।
अघ जूह नसहि मुख पढत गाथ ।
अतिशय प्रिय है यह विश्वनाथ ॥ ५५ ॥

श्री पुष्पदन्ताचार्य्य के मुखारविन्द मे निकले हुए, पाप के नाश करनेवाले और शकर जी के परम प्रिय, इस स्तोत्र का जो कोई जिह्वाग्र पाठ करते है उनके ऊपर भूतनाथ श्री महादेव जी बहुत प्रसन्न होते है ॥ ४० ॥

इत्येषा वाङ्मयी पूजा श्रीमच्छकरपादयो ।
अर्पिता तेन मे देव प्रीयता च सदाशिव ॥ ४१ ॥

अर्पित शिव पद कमल मे वाणी पूजा एह ।
करहि निरन्तर हर कृपा मोपै सहित सनेह ॥ ५६ ॥

यह वाणीमयी पूजा श्री शकर के चरणकमल में अर्पित की है इससे सदा शिव मुझ पै प्रसन्न होय ॥४१॥

सुरसरि शेखर गिरिश हर चन्द्रमौलि कर जोर ।
भाषा करौ महिम्न की यथा बुद्धि लघु मोरि ।

इति

श्रीकान्यकुब्जवशोत्पन्नमहावीरप्रसादद्विवेदीप्रणीत प्राकृतभाषानुवाद-सहित श्रीपुष्पदन्तगधर्वराजविरचित श्रीशिवमहिम्नाख्य स्तोत्र सम्पूर्णम् ॥

ऋतुतरङ्गिणी

भूमिका

देवनागरी भाषा के काव्यो की पुस्तकमालिका में जहां तक मेरे अवलोकन में आया है विशेष करके दोहा, चौपाई, सोरठा, गीतिका, कवित्त (घनाक्षरी), सवैया इत्यादि साधारण मात्रावृत्तो के अतिरिक्त गणात्मक वृत्तो का बहुत ही कम उपयोग किया गया है। कहीं कहीं भुजगप्रयात तोटकादि छन्द दीख पड़ते हैं परन्तु ऐसी तो कदाचित् ही कोई पुस्तक होगी जिसमें आद्योपान्त संस्कृतयोग्य (गणवृत्त) छन्दो में ही काव्यकथन हुआ हो। हां, कविवर केशवदास जी ने अपनी "रामचन्द्रिका" काव्य में अनेक गणात्मक छन्दो का प्रयोग किया है और यह महाशय इस प्रकार की छन्दरचना में एक ही हो गये हैं।

(२) महाराष्ट्र भाषा देवनागरी से अच्छी दशा में है। इस भाषा के प्रसिद्ध काव्यो के निरीक्षण से यह विदित होता है कि उनमें गणवृत्त बड़े विस्तार से प्रयुक्त है। इस समय में इस भाषा के कवियो में विरले ही ऐसे हैं जो मात्राछन्दो का प्रयोग करते हैं।

(३) संस्कृतपद्काव्य की मनमोहनी और सर्वगुण-सम्पन्न पद्य-रचना ने मेरे मन को परम उत्साहित करके निज भाषा में गणात्मक छन्दो की योजना करने में असीम उत्तेजन दिया। प्रथम ही मैंने विहारवाटिका नामक १०० गणात्मक छन्दो की पुस्तक श्रीमत्कविवर जयदेवप्रणीत "गीतगोविन्द" के आशय पर लिखकर श्री बाबू सीताराम जी स्वामी इण्डियन मिडलैंड यन्त्रालय झांसी के प्रबन्ध से प्रकाशित किया और अब इस "ऋतुतरङ्गिणी" को लिखकर रसज्ञजनो की सेवा में अर्पण करने का द्वितीय प्रसंग आया देख चित्त में समाधान पाय पुस्तक को सम्पूर्ण करने में जहां तक हो सकी है शीघ्रता की है।

(४) इनमें बहुत-सा संस्कृतवाक्य प्रयोग होने से रोचकता में विरोध हुआ है परन्तु असाधारण छन्द होने के कारण नियत स्थान में शुद्ध हिन्दी-शब्द की योजना नहीं हो सकी। इस न्यूनता का मुझे बड़ा खेद है।

(५) यह मेरी सामर्थ्य के बाहर था कि मैं इसकी रचना किसी नवीन ढंग से करता और इसी कारण अपने पूर्व महाकवियों का आश्रय लेना पड़ा इससे [illegible] अनुराग आदि शब्दों के भाव [illegible] स्थान में

पाठकों के दृष्टिगोचर होगे। ऐसा होना किसी प्रकार अनुचित समझे जाने के भय से मै भाषाकविशिरोमणि तुलसीदास जी के रामायण बालकाण्ड के और संस्कृतमहाकवि कालिदास जी के रघुवश प्रथम सर्ग के वाक्यो का जिनमें इन महानुभावों ने स्पष्ट रीति से उन कविवरो के निर्मित मार्गों पर चलना स्वीकार किया है जो उनसे पहले हो गये है स्मरण करना सामयिक समझता हूँ।

(६) क्रमप्राप्त ऋतुवर्णन में वसन्त आदि में आना चाहिए परन्तु ग्रीष्मऋतु प्राणीमात्र को दुखदाई होने के कारण उसका वर्णन प्रथम ही करके वसन्त में पुस्तकपूर्ति की है।

(७) भूमिका के पूर्ण करने के पहले मैं उन महाशयो से जिनके समीप यह पुस्तक पहुँचे नम्रतापूर्वक अपना हृदयभाव प्रकट करता हूँ कि यद्यपि ये क्षुद्र छन्द उनको रुचिकर होने में सर्वथा असमर्थ है तथापि मेरे परिश्रम की ओर ध्यान देकर मुझे अनुगृहीत करने के हेतु से एक बार इनका अवलोकन करना उनके प्रशंसित कार्यों के अतिरिक्त न होगा।

झाँसी,
१ फरवरी १८९१

महावीरप्रसाद द्विवेदी

ऋतुतरङ्गिणी

सौन्दर्य्यातिशयागार
नीलाम्भोधरवत्तनुम् ।
सप्रियाकुञ्जपुञ्जस्थ
वन्देऽहं श्यामसुन्दरम् ॥

अथ ग्रीष्मवर्णनम्

(१)

समक्ष वैश्वानर[1] ज्वाल ज्वाला,
फैली महा तीक्ष्ण मरीचि[2] माला ।
सारे भये वारिविहीन ताला,
आयो कृतांतेव[3] निदाघ[4] काला ॥

(२)

न देखि तोयाशय[5] क्लान्त चेता,
पसारि जिह्वा गुरु[6] श्वास लेता ।
मरीचिमाली[7] प्रखरांशु[8] जारी,
भई वराही महिषी दुखारी ॥

(३)

दिनेश दावानल तप्त भारी,
[illegible] निहारी ।
निदाघ बाधाकुल ध्यान लागे
तृषार्त [illegible] ॥

(४)

[illegible],
[illegible] ।
[illegible],
[illegible] ॥

(५)

वसुन्धरा चण्डकरांशु[१] व्यापी,
प्रचंड ज्वालालय[२] तुल्य तापी।
वितप्तझंझानिल[३] रेणु संगा,
करे बटोही हठि अंग भंगा ॥

(६)

मार्तण्ड भूमण्डल खंड ताकी,
तीव्राग्नि वर्षा करिकै न थाकी।
वात प्रसंगोपल[४] युक्त छारा,
धारा गिरावै अति ही अपारा ॥

(७)

विशुष्क[५] पत्र द्रुम में अनेका,
घसे धसे कीचक[६] एक एका।
अनन्त जीवान्तक दु:खदाई,
दशौ दिशा पावक देत लाई ॥

(८)

सप्ताश्व[७] तीव्रकरतप्तदुखी विहंगा,
मध्याह्नकाल बलवीर्यविहीनअंगा।
उद्विग्न वैठि वट पीपर नीम डारा,
श्वासा परित्यजत व्याकुल वार बारा ॥

(९)

मनुष्य आराम[८] आराम[९] रामा[१०],
विहाय आशास्थित धाम कामा।
फलार्थ सेवैं सहकार[११] बागा,
सुपर्णशाला सजि सानुरागा ॥

१—सूर्य की किरण, २—अग्नि का घर, ३—झंझा, अनिल (वायु)। ४—उपल (पत्थर), ५—सूखे हुए, ६—बाँस। ७—सूर्य, ८—उपवन, ९—सुख, १०—स्त्री, ११—आम।

(१०)

निदाघ संतप्त नमन्त देहा,
दिनेश सदग्ध विहाय गेहा।
दिनान्त सेवैं मृगची[1] न जाई,
शशांक[2] ज्योत्स्ना[3] जब हर्ष पाई॥

(११)

स्वेदाम्बु[4] युक्त जन रैनि निदाघ जारे,
रुद्धानिलाकुलित[5] देह दशा बिसारे।
देवैं तुरन्त तन ते पट फेंकि कैसे,
नारी नई कुचनि ते पिय हस्त जैसे॥

(१२)

अत्यन्त सूक्ष्म विशदुज्ज्वल[6] वस्त्रधारी,
तत्काल के बकुल माल हिये सँभारी।
दावाग्नि श्राम[7] समग्राम सुवास लाय,
राजै निशामुख[8] जनोपवनानि[9] आय॥

(१३)

अत्युग्र ग्रीष्म खर-आतप में तमाने,
लै लै युवा सुमन संग सखा सयाने।
कल्लोल[10] लोल अवलोकन चित्त चाई;
सेवैं दिनान्त[11] सरि तीर समीर जाई॥

(१४)

शुचि हिमोदक[12] वारि बनाय कैं,
व्यजन[13] स्निग्धन गेह सजाय कैं।
स्वजन सो पवनायन[14] दाह कैं,
जन सबै दिन मैं सुख पाय कैं॥

(१५)

कुमुद पुष्प सुवास सुवासिता,
वकुल चम्पक गन्ध विमिश्रिता।
मृदुल वात प्रभात भये बहै,
मदनवर्द्धक अद्ध कला[1] कहै ॥

(१६)

दुखद दुप्रहरागम[2] देखि कै,
तलघरोदर[3] शीतल लेखि कै।
मनुज सुन्दर सेज सजाय कै,
मुख सने खस कै खस लाय कै ॥

(१७)

अतर सुन्दर मदिर मालिका,
चहल चन्दन अगन नालिका।
गुल गुलाबनि आब भरी बही,
गरम ग्रीषम में सुख देवही ॥

(१८)

कुकुभ की चिक चित्रित सोहही,
सुजलयंत्र महा मन मोहही।
धननि गेहनि मजुल मालती,
दहनि ग्रीषम अग्नि बुझावती ॥

(१९)

भुजग श्वासेव[4] समीर ज्वालसी,
लसी स्वधामोदर[5] अगना बसी ॥
बजाय जारै सिगरी घरी घरी,
घरी टरीसी स्थिर ताप ते भरी ॥

(२०)

पूर्णेन्दु आनन सरोज समान रग,
भ्रू देखि होहि यमुनाम्ब, तरग भग ॥

१—घडी, २—दुपहरी की अवाई, ३—तलघर के अन्दर
४—श्वासा + एव ५—स्वधाम + उदर (अपने घर में)

उत्फुल्लकंजदललोचनि[1] ग्रीष्म काले,
पाटीर[2] पंक करि चर्चत अंग वाले ॥

(२१)

कर्पूर चूर्ण करि शीतल वासि वारी,
मातंगमौक्तिक[3] मनोहर हार धारी ।
शय्या समूल सरसीरुह ते सजाई,
पाटम्बरोत्तमनि[4] सूक्ष्म[5] शरीरधारी ॥

(२२)

चामीकराभरण[6] शुभ्र सुवास धोरे,
अल्पाल्प सर्व करि भूषित[7] अंग गोरे ।
धारे नये बकुल चंपक चारु माला,
शीतांशु[8] रश्मि[9] निशि सेइ निदाघ काला ॥

(२३)

शय्येश चन्दन रसाम्बु बनाय न्हाई,
गुच्छ प्रसून कर कंजनि लै सुहाई ।
नारी प्रसादतल[10] रैनि सुखार्य पाई,
ग्रीष्मांशु ज्वाल विकराल दई नसाई ॥

(२४)
(विशेषक)

पुष्ट स्तन प्रचुर चन्दन चर्चि नीके,
वेणी विशाल बिन गूंथि प्रसून जी के ।
शीतोपचार शतन करि लोभकारी,
ग्रीष्मातपोग्र[11] (दनि) नाशन[12] नित्य नारी ॥

(२५)

[illegible],
[illegible] ।

सौन्दर्य मूर्ति सह वल्लभ सेज साजी,
वीरागना[1] निशिमुखागन[2] में विराजी ॥

(२६)

तारा निशान्त कमलीन समस्त होही,
क्षीण प्रभेन्दु नभमण्डल देखि सोहो ।
उत्तिष्ठ सृष्टि इमि भावत सुप्रभाता,
होवै चिरायु यह काल[3] सदा विधाता ॥

(२७)

आकाशगामी घन में कहूँ कहूँ,
आकुञ्चितार्कांशु[4] परै लगी चहूँ ।
इतस्तत[5] शीतल वायु निर्मई,
ग्रीष्मान्त मेघागम सूचना भई ॥

(२८)

करि हरित जवासा न्यून (शीतांशु) भासा[6],
सहित शुचि सुवासा शीतलागार[7] वासा ।
जल जलज सनाला रैनि शीतांशु जाला,
मनुज मन निहाला कीजियो ग्रीष्मकाला ॥

इति प्रथम तरंग ।

१—वेश्या, २—निशि मुख (सन्ध्या), अगन (आँगन) ।
३—प्रात काल (अर्थात् इस ऋतु में सदा ही प्रात काल ही बना रहे)
४—सिमटी हुई सूर्य की किरणें, ५—इहाँ वहाँ ६—सूर्य ७—शीतल घर ।

अथ वर्षावर्णनम्

(१)

सवारि जीमूत[१] मतंग मान,
सुरेन्द्र-चापायुध[२] वृन्द वान।
सशस्त्र देशेश्वर[३] सो सुहायो,
विलोकियो पावसकाल आयो ॥

(२)

नीलोत्पलाभा[४] जलदा[५] अपार,
बर्षैं पृथ्वीतल घोर धार।
रह्या न ज्वाला तप लेश लागा,
शोभामयी राजत दिग्विभागा ॥

(३)

हरित्तृणाच्छादित[६] भूमि सोहै,
धरै कलापी[७] सुखमा नई नई।
अनेक ह्वै इन्द्रवधूटिका[८] गई,
मनो सुहागी पथिकांगना[९] भई ॥

(४)

सुपक्व जम्बूफल[१०] पुञ्ज लागे,
झरैं उठी स्याम घटा [illegible]।
[illegible] चारु,
[illegible] ॥

(५)

मेघानि मारुद्वहि[१] आन लेवै,
न व्योम कैसे ठहरान देवै ।
जैसे नितम्बाम्बर[२] वाम केरे,
टारै युवा मैन महीप प्रेरे ॥

(६)

खद्योतरासि प्रमदा प्रमादा,
केकी पपीहा बक भेक नादा ।
सत्क्रौञ्चमाला नद नीर नारे,
पानी भरे वर्द्धित होत सारे ॥

(७)

कारे करालाकृति सर्प भीमा,
भेकाकुलानेक तडाग सीमा ।
उन्मत्त नृत्यांगन मध्य मोरा,
देखे परै दृष्टि भये सजोरा ॥

(८)

घरा घरे धावत वारिवाह[३],
वहै चले जात जल प्रवाह ।
सुअंक लावै निशि नारि नाह,
अनग अगाग भरे उछाह ॥

(९)

हरी हरी बाल लता हिलाई,
सुकेतकी पुष्प सुगन्ध छाई ।
पयोद वर्षा जल संग पाई,
दशो दिशा वायु वहै सुहाई ॥

(१०)

निशा अँधेरी न दिसै कछू कहू,
वहै सर्पा जल नालिका चहू ।
सुयौवनी पंकजलोचनी भली,
सवेग मानो अभिसारिका चली ॥

१—पवन चल कर, २—नितम्ब के ऊपर के वस्त्र । ३—मेघ ।

(११)

छाई घटानि अवलोक अकाशकारी
नाचैं मयूर मदमत्त महा सुखारी ।
झिल्ली पुकार वरणैं कविश्रेष्ठ लोगा,
उच्चाटनार्थ परदेशिन नुप्रयोगा ॥

(१२)

गावैं न कोकिल न मोर सिखी सुनावैं
नावैं प्रभा न चपला चमकैं न पावैं ।
काता कहै जनि घटा घन घेरि छावैं,
प्यारे प्रवास तजि जो न निकेत आवैं ॥

(१३)

सीमन्तिनी वदत वारिदवृन्द बाना,
सौदामिनी नवल धार धरी कृपाना ।
केकी कठोर रव घोर पुकारि शूला,
हे प्राणनाथ कब ह्वैहहु मानुकूला ॥

(१४)

मेघ प्रघोर रव होत हितेऽनुरागी
शोकाम्बुपात दृग ते लखि धीर त्यागी ।
पत्नी सरोजनयनी सहवास आसी,
आवैं स्वगेह अब वेगि विदेशवासी ॥

(१५)

गाजैं निनाद पिय प्रानि [illegible] बाना,
देवैं [illegible] प्रधि फाना ।
दाहैं वियोगिनि [illegible]
[illegible] ॥

(१७)

आघात शब्द करि वारिद वारिधारा,
आवै धराधरनि[१] ते धरणी मझारा।
दीपैव[२] देखि सवरी सुखिरी करारै,
केकी[३] कदम्ब चढ़ि स्वस्ति सुखी पुकारै ॥

(१८)

धारा हरिद्गिरनद्वै बिच[४] शुभ्र सोहै,
शोभा बिलोकि न हँसै अस विश्व को है।
मध्यस्तनद्वयसकचुकक्रूद्वरेरी[५],
मानो लसै सुलर मौक्तिकमाल केरी ॥

(१९)

वल्ली शिला शिखर शेखर[६] शस्यशाला,
आरण्य दिग् द्रुमलता सहिताल बाला।
सपूर्ण युक्त हरिताखिल वस्तु वाना,
सोहै हरी अवनि सब्जपरी समाना ॥

(२०)

अम्भोधर स्खलित[७] सीकर वारि भारा,
आनम्र अम्ब कचनार कदम्ब डारा।
वातावधूत[८] तर ऊपर ह्वै सुहाई,
देवेन्द्रवृक्ष[९] जनु मौक्तिक वृष्टि लाई ॥

(२१)

जाती कदम्ब कुसुमान्वित[१०] चारु शाखा,
शाली[११] समूह कृषि खेतन मध्य राखा।
नाना नवीन तृण सवृत[१२] भूमि भागा,
आलोक काहि नहि होहि महानुरागा ॥

१—पर्वतो मे, २—दीपक की आकृति का, ३—मयूर, ४—हरिद्गिरनद्वैविच—दोहरे रग के पर्वतो के बीच, ५—हरित रग की कचुकी सयुक्त दोनो स्तनो के बीच में, ६—पर्वत, ७—(अम्भोधर स्खलित) मेघो से गिरी हुई बूँदो के पानी के बोझ से नम्र (नीचे) हो गई है जो, ८—हवा ने हिलाया है जिनको, ९—कल्पवृक्ष, १०—फूली हुई है जो, ११—धान, १२—छाये हुए है जो।

(२२)

श्यामा मयंक-वदनी कृशलंक[1] वामा,
विद्याधरी सहचरी[2] संग लै ललामा ।
हिंडोर राग अति प्रेम समेत गावे,
कोटीन किन्नरवधू सहसा लजावे ॥

(२३)

पीनोन्नतस्तनि मनोहर रूप नारी,
जीमूत[3] दूत इव मन्मथ के निहारी ।
लीलातरंगित कटाक्ष कला दिखाई,
मोहै महान मुनि मेघ सहाय पाई ॥

(२४)

मेघान्धकार परिपूरित रैनि कारी,
वर्षाम्बु धार सरपात विलोकि नारी ।
शृंगार सर्व सजि वल्लभप्राणप्यारी,
संभोगहेत रतिमंदिर में सिधारी ॥

(२५)

अत्यन्त तीक्ष्ण मकरध्वज[4] बाण मारी,
व्योमाम्बुवाह सह घोर निशा निहारी ।
नारी विलास हित प्रीतम पास जायी,
विद्युत् प्रकाश सों अंग प्रभा [illegible] ॥

(२६)

[illegible] के बनाये[5],
फेना समेत सब वारि भरे सुहाये ।
[illegible],
[illegible] की सुधि रैनि आवैं ॥

(२७)

[illegible],

आलोक सभ्रमित ह्वै इमि कैकहीना,
कैधो नदी कि पिय पास चली प्रवीना ॥

(२८)

सवेत गोपजन गोगण सग जावै,
आछे कछार नियराय सुखी चरावै ।
कोपे पयोद जल जोर जबै गिरावै,
भीजै भजै सकन पादप छाह् आवै ॥

(२९)

वापी तडाग सरि सागर बारि बोरे,
नाना विधानि तृण धानि मुखानि जोरे ।
सानन्द भेक बक मोर चकोर कीन्हे,
वर्षा न काहि मुद मोदक दान दीन्हे ॥

(३०)

सतडित नभचारी छाय आकाशकारी,
प्रिय पिय सहनारी कौन सारी सुखारी ।
रवितपननिवारी वर्षि सर्वत्र वारी,
पुनि पुनि रवकारी मेघमाला सिधारी ॥

(३१)

अगणित गुणधारी निश्चला[१] तापहारी,
दिशि विदिश विहारी सुप्रशसाधिकारी ।
जगजनमनभाई लाल लीला दिखाई,
जलद ऋतु सुहाई हूजियो मोददाई ॥

इति द्वितीय तरग

अथ शरद्वर्णनम्

(१)

कै कै निरभ्र नभ मार्ग शुभ्र पाई ।
नीके निशापतिमयूखछटानि छाई ॥
आकाशदेवसरितेव गली बनाई ।
देखो मनोहर शरद्-ऋतु आज आई ॥

(२)

शुभ्राभ्रगात परिरंभित शंपनारी ।
विद्युल्लतेव अति शोभित जासु नारी ॥
राधा समेत मनमोहन मोदकारी ।
शृंगाररास रसनायक श्री बिहारी ॥

(३)

स्वच्छाच्छ अब्ज[1] उरमाल अनूप धारी ।
स्निग्धा गानि वर वेणु धरे मुरारी ॥
लावण्य लोल ललनागण संग आई ।
सन्देह याहि ऋतु रास रच्यो कन्हाई ॥

(युग्मक)

(४)

अम्भोधर प्रचण्ड वायु प्रसंग पाई ।
गौराङ्ग वर्ण जलभार भरी गिराई ॥
स्वस्थान त्याग जनि सूक्ष्म भये प्रयासा ।
शैलाधिराज[2] शिखरैर[3] धरै जगाशा ॥

(६)

जाती जया सुमन सुन्दर वास[१] गाते ।
नाना लता ललित मध्य ल` सुहाते ॥
अन्यान्य पुष्प शुचि शष्प[२] समेत जो है ।
आरामभूमि[३] सहसा मनसा[४] विमोहै ॥

(७)

शीतांशु[५] रश्मि[६] रुचिरा तनतापहारी ।
वाला वियोगविरहानल ज्वालजारी ॥
संतापि सर्व सहसा कृशदेह दाहै ।
प्राणोपहार अविचारि प्रचारि चाहै ॥

(८)

पीनस्तनोरु रुचिरानन दिव्य नारी ।
शोभा समूह शुचि अम्बर अगवारी ॥
सम्भोगग्लानिनिधनार्थ[७] श्रमान्तकारी[८] ।
ज्योत्स्ना[९] सअम्बुकण[१०] सेवन को सिधारी ॥

(९)

शुक्लाम्बुवाह[११] कमनीय अकाश छाये ।
माभोज शुभ्र सर सुन्दरता समाये ॥
सम्पन्न शालिकुल देश दिशा विभागा ।
को है करै न जग जासु मनोज[१२] जागा ॥

(१०)

वेणी विदारि मृदु मालन मोरि खोई ।
पाटीर[१३] खौर दृग कज्जलरेख धोई ॥
वाला विलोकि जल क्रीड़त क्रुद्ध भारी ।
मानो भयाकुलित कपत उर्मि[१४] सारी ॥

१—सुगन्ध, २—नवीन घास, ३—उपवन, ४—मन, ५—चन्द्रमा ६—किरण, ७—नाश करने के हेतु से, ८—ज्योत्स्ना का विशेषण ९—चन्द्रिका, १०—[illegible]ने के कण (ओस) सहित, ११—शुक्ल (सफ़ेद

(११)

राजीव[1] जाल जँह कपत मीन मारें।
पानी पराग युत वर्ण सुवर्ण धारे॥
कादम्ब[2] कोक रव राग भरी सुनाई।
नारी मनुष्य मन वश्य करे बजाई॥

(१२)

शुभ्राम्बु धार जँह शैल मिलानि लागी।
विन्ध्याद्रि[3] आदि गिरिरोन्नत भाग त्यागी॥
वर्षा पयोद रव एव करें सजोग।
आश्चर्य मोर तँह देखहिं व्योम ओग॥

(१३)

गगन तारन[4] तारन[5] सयुन।
जलज[6] जीवन[7] जीवन[8] ते न्युन*॥
लखि सुधाकर[9] धार रह्यो बहि।
प्रमुद[10] मानस[11] मा न समावहि॥

(१४)

सुचित कन्त[12] कै रव[13] गाजहीं।
रत[14] सना रसना[15] रस लाजहीं॥
सुनत सारस सारस[16] गानहीं।
बधिक बान नवान[17] न तानहीं॥

(१५)

विशद दामिन सुन्दरता रता।
असित[18] वारिद वारि भरा भरा॥
असित सतापन[19] सज्ज रति सा शिरा[20]।

(१६)

स्फुट सरोज सरोज[१] निशा गते ।
शुचि पराग परा गलि पेखते ॥
चलित मारुत मारु मनौ करे ।
स्वगुन साधुनि[२] सा [३] निरादरै ॥

(१७)

शुचि दिवाकरता[४] कर[५] तालकी ।
प्रसरि जात प्रभात प्रभालही ॥
जनु शरच्छवि श्री सुखमा सनी ।
अरुण बादर[६] सी दरसी तनी ॥

(१८)

स सौम्य कंकेलि प्रसूनशालिनी ।
मन्दापगा[७] शालि समूह मालिनी ॥
मृगाक[८] भा[९] भूमि लता नई नई ।
घनागमश्री विजयी शरद् भई ॥

(१९)

न क्रौंच सानन्द कहूँ उडाही ।
सशक्रधन्वा[१०] घन घोर नाही ॥
तथापि शोभामय भा अकाशा ।
विना निजार्थै जिगि अर्जनाशा[११] ॥

(२०)

ससस्य[१२] शालीकुल पीत रगा ।
शुकावली आकुलिताङ्ग अगा ॥
विनम्र सन्तुष्ट तऊ सुखारी ।
असाधु साधून न क्लेशकारी ॥

१—सर+ओज, २—अच्छे, ३—मज्जन, ४—सूर्य, ५—किरण, ६—वस्त्र, ७—मन्द+आपगा (नदी), ८—चन्द्रमा, ९—चन्द्रिका १०—इन्द्रधनुषसहित, ११—अर्जन (सञ्चय)+आशा १२—धान्यसहित ।

(२१)

द्रुम प्रकाण्डानि[१] वनानि चारी[२] ।
लता विराजै परिरंभि[३] नारी ॥
विलोलनैना स्मर[४] की सताई ।
रही मनो प्रीतम अंक लाई ॥

(२२)

नीलारविन्दामित[५] युक्त ताला ।
नई नई मध्य मराल माला ॥
प्रसून संयोजित काम डारें ।
नारीन को धीर ध्वजा उखारें ॥

(२३)

मन्द वाही[६] सरिता कृशोदरी[७] ।
अत्यन्त शुद्धोदक स्वच्छ ते भरी ॥
गाम्भीर्य तोयार्णव[८] प्रान्त प्रस्थगी ।
सानन्द [illegible] प्रमदा सो लगी ॥

(२४)

कुसुम्भ उद्दिप्त[९] सुगन्ध वानी ।
नदी तुषारोर्मिन[१०] में सनानी ॥
पराग पुष्पोत्पल ते गिराई ।
बहै [illegible][११] [illegible] ॥

(२५)

कुन्द अम्भोज नव प्रकाश ।
[illegible][१२] [illegible] ॥
निरम्बरा [illegible] ।

(२६)

अपंक[१] उर्वी[२] मनमोहनी महा।
जल प्रवाहोज्ज्वल जो जहाँ बहा॥
सुवस्त्रधारी प्रमदा गली गली।
इतस्तत शुक्ल पयोधरावली[३]॥

(२७)

शनै शनै[४] शुभ्र नदी प्रवाहा।
सरोज सयुक्त सरावगाहा[५]॥
समीर सचालित पद्मजाला।
महा प्रसन्नानन मीनमाला॥

(२८)

मनोज्ञशाली सह दिग्विभागा।
जहाँ तहाँ सारस हस रागा॥
सपुष्प वन्धूक लता विताना।
सुकैरवेन्दीवर अग नाना॥

(२९)

निशीथिनी[६] श्रीनिशिनाथ[७] कौमुदी[८]।
अकाशगगाग प्रभा जुदी जुदी॥
शेफालिका मजुल मालती कली।
लखै न काकी पुलकावली चली!

(३०)

अयि शरद्! सुहंसा चारु चन्द्रावतसा।
धवल कमल वशा तेरियै दीप्त अशा॥
कुमुदनि विकसाई वर्ष सीमा वताई।
जग रुचिर वनाई भ.वती होहु आई॥

इति तृतीय तरग.

१—कीच नहीं है जिसमें, २—पृथ्वी, ३—मेंघमाला, ४—मन्द मन्द, ५—सर (तालाव) + अवगाह (स्नान), ६—रात्रि, ७—चन्द्रमा, ८—चन्द्रिका।

अथ हेमन्तवर्णनम्

(१)

विहीन पद्माम्बुज मीन दीना ।
गोधूम[1] धान्याङ्कुर मे नवीना ॥
चन्द्राननी नारि [illegible]प्रवीना ।
हेमन्त के [illegible] [illegible] [illegible]ीना ॥

(२)

हेमन्त आवनहि [illegible] [illegible] [illegible] ।
जलाशयानि[2] परिहानि[3] प्रभात जागी ॥
स्नेही समेत शिशु [illegible] [illegible] [illegible] ।
आदित्य[4] तनु[5] [illegible] [illegible] ॥

(३)

निशा बढ़ै पुष्ट[illegible] [illegible] ।
कुमारि [illegible][6] अंग [illegible] ॥
उठै पिया पास [illegible] [illegible] ।
[illegible] रहै [illegible] ॥

(४)

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥

(६)

जितै विलोको उतही सुहाई।
जुवारि[१] पाई परिपक्वताई।
मही हरेरी यव[२] जाल छाई।
भई नई सर्षप[३] रासि राई॥

(७)

न शुक्ल अम्भोधर व्योम छावै।
न मालतीमाल तियान भावै॥
न न्दुज्योत्स्ना उपयोगकारी।
न निम्नगा[४] मज्जहि भूलि नारी॥

(८)

शीलोच्चयोच्चत्तर[५] ओर जेते।
प्रालेय[६] ते पूरित सर्व तेते॥
निशान्त[७] बालार्क[८] प्रकाश माही।
रूप्येव[९] रूपान्तर मे लखाही॥

(९)

हिमर्तु[१०] आये स्मर[११] दीप्तकारी।
जु दैव इच्छा भ्रम ते बिसारी।
विलासिनी शुभ्र विलास खोवै।
प्रसूनधन्वा[१२] असहाय होवै॥

(१०)

दृगस्फुरिन्चक्वल चारु कारे।
लखै लजै मीन मृगा विचारे॥
दीनान्त रत्युत्सव[१३] हेत वाला।
करै शलाकाञ्जन[१४] ते विशाला।

१—ज्वार धान्यविशेष, २—जव धान्यविशेष, ३—सरसों। ४—नदी, ५—शीलोच्चय (पर्वत) + उच्च (ऊँचे) + उत्तर, ६—हिम बर्फ़, ७—प्रात काल, ८—बाल-सूर्य, ९—रूप + इव, १०—हिम + ऋतु = हेमन्त, ११—काम, १२—काम, १३—रति + उत्सव, १४—शलाका (सलाई) + अंजन।

([illegible])

[illegible] नागी [illegible] ।
[illegible] नागी ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥

([illegible])

[illegible] ।
[illegible] ॥
पीयूष [illegible] ।
[illegible] ॥

([illegible])

[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥

([illegible])

[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥

(१६)

कृषिजन मनभानी सर्व सत्‌शस्य दानी ।
हिमऋतु हिमखानी आय नीके सयानी ॥
सुख दिवस दिखावौ कंत कान्ता मिलावौ ।
सब जग अपनावौ सार सत्कार पावौ ॥

इति चतुर्थं तरंग

अथ शिशिरवर्णनम्

(१)

मारुत्तुषार कण मिश्रित लागि वात ।
कंपायमान नर-नारि करै प्रभात ॥
संतोषकारि सबकी रवि रश्मि लाल ।
सेवै निशांत जन शीतल शीत काल ॥

(२)

निशा निशाआनन[१] प्रातकाला ।
मनुष्य सोत्साह[२] जराय ज्वाला ॥
तपाय सारी तन बार बारा ।
शनै शनै शीत व्यथा विदारा ॥

(३)

धरे हसंती[३] जन पास पासा ।
गरू गरू वस्त्र भरे कपासा ॥
सजाय पर्यंकनि शंक त्यागे ।
स अंगना[४] सोवत प्रेम पागे ॥

(४)

विहाय बाला ऽऽ नन[५] मन्द हास ।
अभाग्यशाली जन जे निरास ॥
बनै विदेशी दिशि दूर जाई ।
मनुष्य देही तिन व्यर्थ पाई ॥

१—सायंकाल, २—स + उत्साह, ३—अँगेठी, ४—स्त्री
५—बाला + आनन ।

(५)

[illegible] पनार [illegible] ।
[illegible] वारी [illegible] वारा ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥

(६)

[illegible][1] [illegible][2] [illegible] पावै ।
सदा [illegible][3] [illegible] मनावैं ॥
भुजग [illegible] धौलं होता ।
बगी [illegible] निशानि [illegible] ॥

(७)

[illegible][4] ताज [illegible] ।
[illegible] समदा[illegible] ॥
[illegible] गरैं [illegible] ।
[illegible][5] ॥

(१०)

सम्भोग श्रान्त[1] प्रमदा[2] प्रभाता ।
सच्छिन्न विम्बाधर खिन्नगाता ॥
निशा जगी सालस[3] खेद खाई ।
लसैं स्वगेहांगन मध्य आई ॥

(११)

बिम्बाधरी चम्पक चारु देही ।
लीलावती मन्मथ को सनेही ॥
नितम्बिनी चन्द्रमुखी सुकेशी ।
सन्दर्शनीयोत्तम नाभिदेशी ॥

(१२)

पीनस्तनी कोकिलकण्ठ बाला ।
सम्भोगशीला तरुणी विशाला ॥
सौन्दर्य सौभाग्यवती सुशीला ।
सीमन्तिनी सस्मित लोल लीला ॥

(१३)

विलोलनैनी कमनीय वामा ।
सुमध्यभागी ललना ललामा ॥
प्रमादपूरी भृश[4] भासमाना ।
प्रदीप्त कन्दर्प कला समाना ॥

(१४)

सुवासकाला गुरु वासिताम्बरी ।
कृशोदरी प्रेमभरी उजागरी ।
विनोदिनी दाडिम्दन्त भामिनी ।
सुमानिनी हास्य सुवाग्साननी ॥

(१५)

शुभाननी मत्तमतंगगामिनी ।
तडिल्लता सुन्दरगात कामिनी ॥
शीतर्तु आये जन जे भुजा भरैं ।
स्वजीव की ते सुकृतार्थता करैं ॥

१—श्रमित, २—स्त्री, ३—स + आलस, ४—अत्यन्त ।

(१६)

सोहै दयार्द्र सिय नो अनुकूलभोगा ।
कोदंड[1] भ्रू भृकुटी नदि औ प्रयागा ॥
सोहै मयूर नरना नव विनजात ।
नागन[2] नैन चन्दा नवि नीलकान्त ॥

(१८)

हालार्थ प्राण गुनकामुन[3] मान[4] पान ।
मोहार्थ नम्र रन मानन मन्न मान ॥
मनार्थ गीत मतु मदु मुरातनान[5] ।
यान मदाक पन्मोरनि मुनमान ॥

(१९)

विरहिन दुखकारी पनिनी[6] पुण्य नारी ।
मकरन्दवगुन बारी मन्दधीमन्न[7] धारी ॥
अधनिन न ननारी रैनि मोरी विनावी ॥
सिसिर ऋतु सुनारी सीन अनाद नारी ।

इति पञ्चम तरङ्ग

———

(२)

न्दीवरानार निवार न्यारे।
चम्पा चमेली कचनार सारे।
सर्वत्र में चित्र विचित्र माजा।
दीन्ह्यो जबै दर्श वसन्त राजा॥

(३)

आयो वसन्त सुखकारक सर्व भायो।
फूले प्रसून चहुँ ओर सुगन्ध छायो॥
झोरैं मदान्ध अलियूथ सुवास माते।
उत्फुल्ल कंज सर मध्य न हैं समाते॥

(४)

उन्मत्त भृंगरव दुन्दुभि दीह बाजै।
मेना प्रसून चहुँ ओर अनूप गाजै॥
कुञ्ज प्रवेशि चहुँ मारुत[१] द्रुत भाजै।
सौभाग्यवन्त सुवसन्त मजी समाजै॥

(५)

शाखा पलाश शुचि श्याममयी बनाई।
सौन्दर्य सार करि पुष्पनि की ललाई॥
सप्रेम जानि ऋतुनायक की अवाई।
दीपावली[२] मुदित मैन मनो कराई॥

(६)

सोत्कंठितागम[३] प्रमदा सिगरी सकामा।
भायो करै जलविहार विलोल वामा॥
गम्भीर हीर वर कुङ्कुम रङ्ग गोरी।
मोहैं दुकूल[४] अनुकूल सबै सजोरी॥

(७)

माला मनोहर सुगन्धित पुष्प के हैं।
राजैं सुमध्य कुच मंडल मे सजै है॥
सानन्द धारि ऋतुराज अनेक साजा।
हाहा दुखी तिय करैं विरही समाजा॥

(८)

कुसुम्भ रगी कुच कुम्भ कचुकी।
निहारि निर्मीलित लाल ह्वै चुकी॥
गई नई आन समान मान की।
सहर्ष धारै पिय प्रेम प्रान की॥

(९)

अपूर्व शोभा अहिफेन[१] फूल।
नितान्त[२] शुक्लारुण[३] सानुकूल॥
हरै प्रवासी प्रमदान हीय।
नवीन गेंदा दल दर्शनीय॥

(१०)

प्रफुल्ल अम्भोज जलानि निर्मला।
रसालशाखाश्रय फलेन्द्र कोकिला॥
सुपुष्प संकीर्ण नवीन निर्गता।
सह सहा सुन्दर माधवी लता॥

(१३)

मत्तातुरानन्दित[१] चचरीक[२] ।
पी पी परागाम्बुज मंजु नीक ॥
सूर्यास्त में पंकजबद्ध कैसे ।
उन्मत्त कामातुर जार जैसे ॥

(१४)

मलिन्द माला मकरन्द प्यासी ।
सुगुंजरैं प्रात निशा उपासी ॥
प्रवाल आलकृति पुष्पिता में ।
लची लजी सी ललिता लता में ॥

(१५)

जूही रु जाही गुलनार नाना ।
सुवल्लरी व्योम बनी विताना ॥
गुलाब दूर्वादल मध्य भ्राजै ।
सुवाटिका स्वच्छ बनी विराजै ॥

(१६)

वरोरु[३] वाला रति रूप अंशा ।
अमूल्य माला श्रवणावतंसा ॥
सुरेख वस्त्राभरणानि शोभा ।
कहो वसन्तर्तु न काहि क्षोभा ॥

(१७)

फूले अशोक अवलोकत शोक होवै ।
हाहा सखी कुटिल कोकिल धीर खोवै ॥
दावा दहै मनहु किंशुक साख मारी ।
भावै वियोग व्यथिता वनिता दुखारी ॥

(१८)

आम्र प्रसून श्रवणस्थ पराग पूरे ।
वाला कपोल कमनीय बनाय थूरे ॥
लोभो मलिन्द[४] मुख छावत दुखदाई ।
जैसे ग्रसै शशिहि सन्निध[५] राहु जाई ॥

---

१ मत्त+आतुर=आनन्दित, २—भ्रमर, ३—वर+उरु (अच्छी है (उरु) जघा जिनकी) ४—भ्रमर, ५—निकट ।

(१९)

मत्तालि यूथ मलयानल मन्द वाता ।
पुष्प प्रयुक्त तरु कामिनि गीत गाता ॥
मोहैं न जाहि मनु मान विकास पाये ।
गीतोपदेश[1] अथवाद्रि[2] इने बनाये ॥

(२०)

ताम्रप्रवालवृत कुञ्ज स्थानि माही ।
कूजैं द्विरेफ[3] पिक प्रेम भरे जहाँ हीं ॥
योगीश्वरानि मन मानत जो भुलावैं ।
ऐसे स्थलानि कुसुमानि न को बखानैं ॥

(२१)

रक्त स्फुट प्रचुर सादि[4] मुनालि मल्ला ।
वायु प्रवाह मृदु जाम प्रसून जाला ।
[illegible] कोकिल रम्य अलाप नाला ।

४—अर्थगौरव के कारण महिम्नस्तुति तो सब स्तुतियो में श्रेष्ठ गिनी ही जाती है परन्तु गगालहरी भी एक परमोत्तम स्तुति है और महिम्न के समान नही तो कुछ ही कम कहना चाहिए—'इसमें कही कही अत्यन्त ही करुणारसपूरित स्तवन कवि ने किया है। इसके मनोहर छन्द विद्वानो के मुंह से बराबर निकला करने है। वास्तव में है भी ऐसे कि पढने से मनुष्य के हृदय मे अक-सा हो जाता है और आँखें साश्रु हो जाती है। इसमें आदि के ४८ शिखरिणी और अन्तिम आठ क्रम से पृथ्वी, शार्दूल विक्रीडित, स्रग्वरा और उपजाति छन्द है।

५—भाषा के कवियो ने अपने अपने गगास्तवन मे विशेषत सवैये और दडक ही का प्रयोग किया है। शिखरिणी का अर्थ छोटे छन्द में आ भी नहीं सकता इसी लिए मैंने भी ५० श्लोको तक का भाषान्तर सवैये में कर अन्तिम २ का क्रम से दडक और वसन्ततिलका में किया है। भावार्थ भी प्रत्येक का भाषा छन्द के साथ लिख दिया है जिसमें कवि का अभिप्राय जानने में कठिनाई न पडे। आशा है कि भाषारसिक त्रुटियो पर ध्यान न देकर पुस्तकावलोकन से मुझे कृत-कृत्य करेंगे।

झाँसी,
१ जुलाई, १८९१ ई०

महावीरप्रसाद द्विवेदी

श्रीगंगालहरी

समृद्ध सौभाग्य सकलवसुधाया किमपि तन्
महैश्वर्य लीलाजनितजगत खण्डपरशो ।
श्रुतीना सर्वस्व सुकृतमथ मूर्तं सुमनसा
सुधा सौन्दर्य ते सलिलमशिव न शमयतु ॥१॥

जो भुव के ऋद्धि सिद्धि सुभाग को सत्य सदैव बढावन हारो ।
भ्रू जिनकी फिरतै सब विश्व बनै तिन शकर को घनसारो ॥
वेदन की सर्वस्व निरन्तर देवन पुण्य पताक विचारो ।
सो जल गग तिहारो सुधा मम नाशहि पातक सर्व हमारो ॥

हे गगे ! जो, सर्वत्र पृथ्वी का अखड सौभाग्य, जो, निज लीला से विश्वोत्पत्ति करनेवाले शकर का महत् ऐश्वर्य, जो श्रुतियो अर्थात् वेदो का सर्वस्व और जो देवताओ का पुण्यस्वरूप, ऐसा यह तेरा अमृत के तुल्य शुभ्र सलिल (जल) हमारे पापो को शमन करे।

दरिद्राणा दैन्य दुरितमथ दुर्वासनहृदाम्
द्रुत दूरीकुर्वन्सकृदपि गतो दृष्टिसरणिम् ।
अपि द्रागाविद्याद्रुमदलनदीक्षागुरुरिह
प्रवाहस्ते वारा श्रियमयमपारा दिशतु न ॥२॥

जो इक बार अचानकहू कहुँ आवत जात मे दीठहि भेवै ।
पापिन पाप दरिद्रिन केरि दरिद्रता वेगि सबै हरि लेवै ॥
मोहमयी द्रुम तोरन को गुरु मत्र समान है जो नर सेवै ।
सो तव धारा प्रवाह हे गग ! अपार हमे सुख सम्पति देवै ॥

जो, एक बार भी दृष्टिगोचर होने से दरिद्रियो की दरिद्रता और पापियो के पाप तत्काल नाश करता है और जो, अविद्यारूपी वृक्ष के शीघ्र ही उखाडने को गुरु के सदृश उपदेश देता है सो यह ऐसा तेरा जल प्रवाह हमे अतुलित ऐश्वर्य देवे।

उदचन्मार्तण्डस्फुटकपटहेरम्बजननी
कटाक्षव्याक्षेपक्षणजनितसंक्षोभनिवहा ।
भवन्तु त्वंगन्तो हरशिरसि गंगातनु भुवः
तरंगाः प्रोत्तुंगा दुरितभयभंगाय भवताम् ॥३॥

जो गिरिजाकृत कोपकटाक्ष प्रभात के बाल पतंग समाना ।
देखत ही अति क्षोभ बढावत मत्सर ठानि बडेक प्रमाना ॥
नाचति ईश के शीश में जो तिहि के भय मानि मनो हतनाना ।
सो तव तुंग तरंग हे गंग ! सुभंग करैं मम पातक नाना ॥

तुम्हें शंकर के मस्तक पै विराजमान देख मत्सरभाव से पार्वती (हेरम्बजननी) को प्रातःकाल के नूतनोदित सूर्यसमान लाल नेत्र किये हुए अवलोकन करने से ही मानो भयभीत हो जो महेश्वर के शिरोभाग में कंपायमान होनेवाले तेरे विशाल तरंग, सो, हे गंग ! हमारे सांसारिक भयों को भंग करें।

तवालम्बादम्ब स्फुरदलघुगर्वेण सहसा
मया सर्वेऽवज्ञासरणिमथ नीताः सुरगणाः ।
इदानीमौदास्यं भजसि यदि भागीरथि तदा
निराधारो हा रोदिमि कथय केषामिह पुरः ॥४॥

मन ठानि भरोस तिहारो ही मातु बडो करि गर्व हियो न सकाई ।
सहसा इक वारहि हेलना मारग में सब देवन दीन दिखाई ॥
यहि औसर जो भला भागीरथी करि चित्त उदास रहै अनखाई ।
कहु तो तुही हाहा निराश्रय मैं जग में किहि सन्मुख रोवहुँ जाई ॥

हे माता ! केवल तेरा ही अवलम्बन करके मैंने बिना ही विचार व अहंकार से सर्व देवताओं की अवज्ञा (अवहेलना) की, इसमे, हे भागीरथी अब जो इस समय तू उदासीनता को धारण करेगी तो तू ही कह कि मैं हा, खाते हुए इस लोक में और किसके सम्मुख जाकर रुदन करूँ।

स्मृतिं याता पुंसामकृतसुकृतानामपि च या
हरत्यन्तस्तन्द्रां तिमिरमिव चन्द्रांशुसरणिः ।
इयं सा ते मूर्तिः सकलसुरसंसेव्यसलिला
ममान्तःसन्तापं त्रिविधमपि पापं च हरताम् ॥५॥

सपने जिन पुण्य क्रिया न करी तिन ध्यान मे जो इक वारहु आई ।
हम ज्यो विनसाय मयक ते त्यो मन मोह् कलक को अक विलाई ।।
तव मूरति सो यह जाके प्रवाहहि सेवत देव हिये हर्पाई ।
त्रिविधात्मक ताप औ पाप समस्त ममान्तस मध्य ते देहि वहाई ।।

जिन मनुष्यों ने सुकृत (पुण्य) कभी किया ही नही उनके भी स्मरण में आने से जो उनके समस्त अज्ञान को, जैसे चन्द्रमा अन्धकार को नाश करता है, तैसे छेदन करती है सो ऐसी यह तेरी मूर्ति जिसके सलिल को देव सदैव पूजते है, मेरे अन्त करण के त्रिविध सन्ताप और पाप का नाश करें ।

अपिप्राज्य राज्य तृणमिव परित्यज्य सहसा
विलोलद्वा नीर तव जननि तीर श्रितवताम् ।
सुधात स्वादीयस्सलिलभरमातृप्तिपिवताम्
जनानामानद परिहसति निर्वाणपदवीम् ।। ६ ।।

तृण तद्वत त्यागि महीपति राज अखड वसुन्धरा मण्डल केरो ।
तव नीर के तीर सप्रेम वसै वहै नीर जहाँ सब ओरनि घेरो ।।
मन तृप्ति भये लौं करै जलपान पियूष समान सुगपगा तेरो ।
तिहि आनन्द ते मिलै हे जननी निरवान सुखै उपहास घनेरो ।।

हे माता ! वडे वडे भूमडल के अखण्ड राज्य सपादन करनेवाले राजा अपने राज्य-वैभव को तृण समान त्याग करके तेरे तीर मे, जहाँ वेतस वृक्ष पवन के वेग से हिलते है वास करते है और जब तक मन की तृप्ति नही होती तब तक तेरे सुधा से भी विशेष स्वादिष्ट जल का पान करते है, इससे उन्हें जो आनन्द प्राप्त होता है वह निर्वाण सुख (मोक्ष) को भी उपहासास्पद करता है अर्थात् मोक्ष को तुच्छ समझता है ।

प्रभाते स्नातीना नृपतिरमणीना कुचतटी
गतो यावन्म तर्मिलति तव तोयैर्मृगमद ।
मृगास्तावद्वैमानिकशतसहस्रै परिवृता
विशति स्वच्छन्द विमलवपुषो नदनवनम् ।। ७ ।।

उठि प्रात नहान को तेरे तिया नरनाह की साथ उछाह सिधारी ।
तिनके कुच की जबलौ कसतूरिका जाय मिलै तव तोय में सारी ।।

तबलौ मृग जाकी हती वह वे सुर मग अनेक लये नभचारी।
बिन रोक बने धरि सुन्दर रूप पुरन्दरवाटिका मध्य विहारी॥

हे माता! प्रभातसमय राजस्त्री तेरे जल में जब स्नान करती है तब उनके कुचप्रदेश में लगा हुआ मृगमद (कस्तूरी) ज्यों ही तेरे जल में मिलता है त्यों ही वे मृग जिनका यह मद था तत्काल सहस्रों देवताओं सयुक्त विमान में बैठे सुन्दर शरीर धारण कर स्वच्छन्द इन्द्र के नन्दनवन में विहार करने लगते हैं।

स्मृत सद्य स्वात विरचयति शान्त सकृदपि
प्रगीत यत्पाप झटिति भवताप च हरति।
इद तद्गगेति श्रवणरमणीय खलु पद
मम प्राणप्रान्तर्वदनकमलान्ते विलसतु॥ ८॥

मन ते सुमिरे जिहि एकहि वार मिलै सुविचार सुबुद्धि की खानी।
जिहि जाप करै भवताप औ पाप की नेकु रहै नहि एकु कहानी॥
यह सो मनभावनो शब्द अनूपम "गगा" कहै जिहि विश्व की बानी।
प्रिय प्रानन प्रान्त नितान्त समै मम आनन मे विलसै महरानी॥

जिनके एक बार भी स्मरण करने से शीघ्र ही अन्त करण में शान्तता प्राप्त होती है और जिसके गान करने से समस्त पाप और सासारिक (कायिक, मानसिक, वाचिक) दुख नाश हो जाते है सो यह श्रवणसुहावना गगा शब्द प्राणान्त समय मेरे मुख मे विलास करै।

यदन्त खेलन्तो बहुलतरसन्तोषभरिता।
न काका नाकाधीश्वरनगरसाकाक्षमनस।
निवासाल्लोकाना जनिमरणशोकापहरणम्।
तदेतत्ते तीर श्रमशमनधीर भवतु न॥९॥

जिन पै पद धारि विहारि करै बनि काक महासुख भाक अपारा।
मघवापुर पावन पावन को मन मे नहि आवन देत विचारा॥
नर वास थली करिकै जिनपै मरणान्तक जन्म को शोक निवारा।
सुई तीर तिहारे हमारे शरीर की पीर पछारि करै श्रमछारा॥

जिनके ऊपर गमन मात्र करने से काक भी विपुल सन्तोष को प्राप्त हो पर अमरावती में जाने की तनिक भी नहीं आकाक्षा करते और जिन पै

निवास करने से जन्म-मरण आदि दु खो से विमुक्त होकर मनुष्य आवागमन से रहित हो जाते है, सो ऐसे ये तेरे तीर हमारे श्रम के शमन करनेवाले होवे ।

न यत्साक्षाद्वेदैरपि गलितभेदैरवसित
न यस्मिन् जीवानाम् प्रसरति मनोवागवसर ।
निराकार नित्य निजमहिमनिर्वासिततमो
विशुद्धय तत्त्व सुरतटिनि ! तत्त्व न विषय ॥१०॥

वरणै जिहि वेद पुराण परन्तु निदान मे अन्त न पावत गाई ।
गुरु ज्ञानी मिले तऊ जीवन की जिहि में मन वानी सकै न समाई ॥
नित हैं निराकार अपार प्रकाश की जै निज शक्ति ते ज्योति जगाई ।
सुइ शुद्ध सनातानतत्त्व तू गग न इन्द्रियगोचर मो मते माई ॥

हे सुरतटिनि गगे ! जिसका प्रत्यक्ष भेदरहित वेद भी वर्णन करने में अन्त नही पाता, जिसकी महिमा के जानने में महात्मा जनो की भी वाणी कुठित है, जो नित्य और निराकार है, जिसने अपनी शक्ति से मायामय अन्धकार का नाश कर दिया है ऐसा जो विशुद्ध तत्त्व है सो तू ही है; तू इन्द्रियगोचर नहीं ।

महादानैर्ध्यानैर्बहुविधवितानैरपि च यन्
न लभ्य घोराभि सुविमलतपोराशिभिरपि ।
अचिन्त्य तद्विष्णो पदमखिलसाधारणतया
ददाना केनासि त्वमिह तुलनीया कथय न ॥११॥

न मिलै महादान औ ध्यान अनेकन यज्ञ विधान करै बहुवाता ।
जग पावत जाहि न कै तप घोरहु जोर चलै न पचै नरगाता ॥
सुई देहि अचित्य तू विष्णु को लोक लखै लघु, मध्यम, उच्च न नाता ।
बहु ताते तिहारो बरावरी मैं किहि ते करौं विश्व उजागरी माता ॥

जो, महादान, ध्यान और विविध प्रकार के मख यज्ञादि तथा घोर तपश्चर्या करने से भी नही प्राप्त होता, वही विष्णुलोक तू सब प्राणी मात्रो को न्यूनाधिक भाव न रख कर देती है, इससे तू ही कह कि हम इस लोक में तेरी और कौन देवता से तुलना करें ।

नृणामीक्षामात्रादपि परिहरन्त्या भवभयं
शिवायास्ते मूर्ते क इह महिमान निगदतु ।

अमर्षम्लानाया परममनुरोध गिरिभुवो
विहाय श्रीकंठ शिरसि नियत धारयति याम् ।।१२।।

अवलोकत जाहि किहू विधि लोक में लोगनि शोक समूल नसाही ।
भवभीति समस्त जो अस्त करै प्रिय है जिहि नीति की रीति सदाही ।
गिरिजा जउ कोपित होति तऊ गिरजापति जाहि उतारत नाही ।
तिहि मंगलमूरति की महिमा वरणै असि शक्ति अहै किहि माही ।।

जिसके दर्शनमात्र से मनुष्यो के समस्त भवसागरजनित भय नाश पाते है और पार्वती जी के निरन्तर क्रोधायमान होने से भी जिसे शंकर अपने शीश मे नही उतारते है ऐसी इस तेरी जल-प्रवाहरूपी मूर्ति की महिमा वर्णन करने की किसमें सामर्थ्य है।

विनिन्द्यान्युन्मत्तैरपि च परिहार्याणि पतितै-
रवाच्यानि व्रात्यै सकुलकमपास्यानि पिशुनै ।
हरन्ती लोकानामनवरतमेनासि कियता।
कदाप्यश्रान्ता त्व जगति पुनरेका विजयसे ।।१३।।

जिन पाप प्रमत्तनि त्यागि दयो जिनको उनमत्तहुँ निंद्य बतावत ।
जिनते रहैं धर्मविहीनहूँ रुष्ट सु जे नर दुष्टनहू को न भावत ।।
तिनहूँ कृत पातक भार महान् नसावति मातु कछार मँझावत ।
श्रम लेश न होत इते कहु पै यश देशनि मे अधिकाधिक छावत ।।

जिनको उन्मत्त निन्द्य कहते है, जिनको पापी परित्याग योग्य बताते है, जिनका व्रात्य अर्थात् संस्कारहीन नाम तक नही लेते और जिन्हें दुष्ट भी निकट नही आने देते ऐसे ऐसे अनेक पातकी मनुष्यो के पातक, निरन्तर तू अकेले नाश करती है इतना करने ' भी तुझे तनिक भी श्रम नही होता किन्तु इस जगतीतल में तू अधिकाधिक जय पाती है।

स्खलन्ती स्वर्लोकादवनितलशोकापहृतये
जटाजूटग्रन्थौ यदसि विनिबद्धा पुरभिदा ।
अये निर्लोभानामपि मनसि लोभ जनयताम्
गुणानामेवाय तव जननि दोष परिणत ।।१४।।

जगतीजन शोकनिवारण को सुरलोक ते ार गिरी जब तेरी ।
त्रिपुरारि पसारि जटा तिनमें तिहि धारि धरी न करी कछु देरी ।।

यहि दोष को मूल है मातु तिहारे ही भूल गुरू गुण गौरव केरी।
सनतागत जे, निरलोभिनह ममता मन लोभ की देत घनेरी।।

हे माता! पृथ्वीतल के निवासी मनुष्यों के शोकहरणार्थ तू जब स्वर्गलोक से चली तब महादेव जी ने बीच ही में तुझे अपने जटा-मंडल में रोक लिया। यह तेरे त्रैलोक्यव्यापक गुणों ही का दोष है। यदि तेरे गुण शंभुसदृश निर्लोभी के चित्त में लोभ न उत्पन्न करते तो ऐसी घटना ही क्यों होती।

जडानन्धान्पङ्गून्प्रकृतिबधिरानुक्तिविकलान्
ग्रहग्रस्तानस्ताखिलदुरितनिस्तारसरणीम् ।
निलिम्पैर्निर्मुक्तानपि च निरयान्तर्निपततो
नरानम्ब त्रातुं त्वमिह परमं भेषजमसि ।।१५।।

श्रुति इन्द्रिय लोचनहीन महाजड मूकमलीन औ जे पगभंगा।
अनिवारक पाप हजारक बार करे जिन जे ग्रहपीडित अंगा।।
जिनको नहिं जोवत देव सुने जिन रोवत रौ व सोचि प्रसंगा।
तिन तारन को तू सजीवनिमूरि सी पूरि रही जननी जग गंगा।।

हे अम्ब! हे माता! इस संसार में, महामति मन्दों को, पंगुओं को, बहिरों को, मूकों को, ग्रहपीडितों को, जिनके पातकों का निवारण शास्त्र में भी नहीं कहा उनको, देवताओं के परित्याग किये हुओं को और भी नरकपतनोन्मुखों को, रक्षणार्थ केवल एक तू ही महौषध है।

स्वभावस्वच्छानां सहजशिशिराणामयमपा
मपारस्ते मातर्जयति महिमा कोपि जगति ।
मुदायं गायन्ति द्युतलमनवद्यद्युतिभृत
समासाद्याद्यापिस्फुटपुलकसान्द्राः सगरजाः ।।१६।।

अतिनिर्मल है जो स्वभावहि ते धरती तल शीतल जो सहजौंही।
धरि धूरि तें दिव्य शरीर महापुलकावलिपूरि प्रसन्न हमौंहीं।।
गुणगावत सानुजवर्ग सबै सगरात्मज स्वर्ग में जासु अजौंही।
तिहि तोय की नीरे अपार कितो महिमा जगती लगती जनमौंही।।

हे माता! जो स्वभाव ही से स्वच्छ और सहज ही शीतल है और जिसके गुणानुवाद सगर राजा के पुत्र दिव्यदेह धारण कर अब तक स्वर्ग में परम

पुलकित तनु हो सानन्द गाते है, ऐसे इस तेरे उदक (जल) की कोई कोटि अपार महिमा ससार में जगमगाती है।

कृतक्षुद्रैनस्कानथ झटित सन्तप्तमनस
समुद्धर्तुं सन्ति त्रिभुवनतले तीर्थनिवहा ॥
अपि प्रायश्चित्तप्रसरणपथातीतचरितान्
नरान् दूरीकर्तुं त्वमिव जननि त्व विजयसे ॥१७॥

कै लघु पाप तुरन्त जे त्यागत जागत मानस में पछिताई।
तारन को तिन आज त्रिलोक मे आहि हजारन तीरथराई॥
हे जननी पै करै नित जे उठि पातक घोर कठोर अघाई।
तापनिवारन को तिनको जग तेरी समान तुही सुनि पाई॥

हे माता! जिन्होने छोटे छोटे पाप करके पश्चात्ताप पाया उनके उद्धार करने को त्रिभुवन में अनेक तीर्थ है परन्तु जिनका प्रायश्चित्त भी नही होता ऐसे अघोर पातक करनेवालो को भवसागर के पार ले जाने को तेरी समान एक तू ही जाग्रत है।

निधान धर्माणा किमपि च विधान नवमुदा
प्रधान तीर्थानाममलपरिधान त्रिजगत ।
समाधान बुद्धेरथ खलु तिरोधानमधियो
श्रियामाधान न परिहरतु ता तव वपु ॥१८॥

अमलीन नवीन प्रमोद निधान विधान है धर्म को कर्म सुधारै।
परिधान त्रिलोक को जो जग जा कहँ तीरथमध्य प्रधान पुकारै॥
मतिमदनि को तिरोधान सदा बुधि को समाधान सु जो मनधारै।
धनवान महान तिहारो स्वरूप सो ताप हमारि हूँकारि उतारै॥

जो सर्व धर्मो का निधान (आश्रय), जो परम प्रसन्नता का विधान (कारण), जो तीर्थो मे प्रधान, जो त्रिलोक का परिधान (वस्त्र आभूषण), जो बुद्धि का समाधान, जो मतिमन्द मनुष्यो का तिरोधान (आच्छादक), और जो लक्ष्मी का आधान (सम्पादक), ऐसा जो यह तेरा स्वरूप सो हे मातु हमारे तन की ताप का हरण करै।

पुरो धावं धावं द्रविणि मदिरा घूर्णित दृशा
महीपाना नानातरुणतरखेदस्य नियतम् ।

ममैवाय मन्तु स्वहितशतहन्तुर्जडधियो
वियोगस्ते मातर्यदिह करुणात क्षणनपि ॥ १० ॥

वलशालि महा अपनी प्रभुता मदिरा मदलोचन लालि भुवाला ।
उठि जाँचि वृथा तिन द्वारन नाचि कमायहु केवल क्लेश कराल। ॥
इतनो मतिहीन मैं कौन कत्रो अवलो सुधि तोरि न कीनेहु काला ।
सव मोरहि मो अपराव अहो अव मातु क्षणार्व लौं होहु दयाला ॥

तेरा अवलवन न करने के कारण मेरे देहाभिमानी जड वृद्धिरूपी स्वहित शत्रु ने द्रव्यरूपी मदिरा के मद से जिन महीपालो के नेत्र आरक्त वर्ण हो गये हैं उनके द्वार ै जाय जाय वडा खेद पाया । यह सव मेरा ही अपराव है इससे हे माता ! इस अवसर पर यदि वहुत नही तो क्षणमात्र ही मेरे ऊपर करुणा कर ।

मरुल्लीलालोल लहरिलुलिता भोजपटली
स्खलन्त्या मुन्नातच्छुरणविसरत्कौकुमरुचि ॥
सुरस्त्रीवक्षोजक्षरदगरुजवालजटिल
जल ते जवाल मम जननजाल जरयतु ॥ २० ॥

वहु वायु ते वीचि उतग उठे सव रग के लाल मृणाल हलाए ।
मकरद खिले अरविंदनि कै गिरि कुकुम की सम जो छविछाए ॥
सुर सुन्दरी पीन पयोवर लीन सुगधित चन्दन पक वहाए ।
स सिवार तवोदक सो मम दूसरा जन्मनिवार करे मसलाए ॥

पवनोद्गत तरगा के हिलाये कमलजाल मे गिरे मकरन्द के मिश्रण से कुकुम के समान शोभायमान और देवागनाओ के पयोवर भाग चर्चित कालागरु चन्दन के पक मे मिश्रित यह तेरा शैवालमयुक्त उदक मेरे पुनर्जन्मो का नाश करे ।

समुत्पत्ति पद्मारमणपदपद्मामलनखा-
न्निवास कन्दर्पप्रतिभटजटाजूटभवने ।
अथाय व्यासङ्गो हतपतितनिस्तारणविधौ
न कस्मादुत्कर्षस्तव जननि जागर्तु जगति ॥ २१ ॥

प्रगटी कमलापति के कमलामल पाद ते लोकविपादविदारन ।
पुनि मार मँहारनहार के सीस वमी वनि सुन्दरता कर कारन ॥

दूर दूर चले गये और तेरे भक्तो से पूर्ण असख्य विमानो ने स्वर्ग-लोक में देवताओ के आवागमन के मार्ग तक वन्द कर दिये।

स्फुरत्कामक्रोधप्रवलतरसञ्जातजटिल—
ज्वरज्वालाजालज्वलित वपुषा न प्रतिदिवम्।
हरता सन्ताप कमपि मरुदुल्लास लहरी—
छटा चचत्पाथ कणसरणयो दिव्यसरित ॥२६॥

कृत काम औ क्रोध विकार अपार उतार कहे न कवौ जिनके रे।
विषम ज्वर ज्वालनि ते तिनकी सब अग जु लालि वने रहे मेरे॥
तिनकी हरै ताप निरन्तर ते शुचि जह्नुसुता जल सीकर तेरे।
अति चचल तुग तरगनि ते प्रसरै उडि जे मरुदचल प्रेरे॥

पवन वेगोत्पन्न भागीरथी के उर्ध्वगामी तरंगो के जल-कण, अधिकाधिक प्रवर्धनीय प्रवल काम-क्रोध-जनित विषम-ज्वर-ज्वाल मे प्रज्वलित मेरे शरीर के समस्त सन्तापो को निरन्तर नाश करें।

इद हि ब्रह्माड सकलभुवनाभोगभवनम्
तरगैर्यस्यातर्लुठति परितस्तिदुकमिव।
स एष श्रीकठप्रविततजटाजूटजटिलो
जलाना सघातस्तव जननि ताप हरतु न ॥२७॥

जननी जिहि पिण्ड मे लोक चतुर्दश रुडविनास विकाश समाही।
वहि बूडि तरै फिरि तिंदुक तुल्य सो वीचन वीच परे जिहि माही॥
रहि विस्तृत शम्भुजटानि मे जो जटिली जगभासनु है सव काही।
तव तोय समूह सो जीय हरै मम सर्व शरीर की पीर सदाही॥

चतुर्दश भुवनो का वासस्थान यह ब्रह्माण्ड तिन्दुक की भाँति तरगो की हिलोरो से जिसमें गोता खाता है और जो सदाशिव के जटा-जूट मे रहने से स्वय जटाधारी-सा देख पडता है, सो यह तेरा जल-समूह हमारा सब ताप हरे।

त्वत्तीरे तोयानि त्वरितमिह यस्योद्धृतिविधौ
कर कर्णे कुर्वन्त्यपि किल कपालिप्रभृतय।
इम त मामव त्वमियमनुकम्पार्द्रहृदये
पनाना सर्वेषामघदलनदर्प दलयसि ॥२८॥

मम तारन अर्थं समर्थ न तीरथ हारेहु तीरथराजु जुहारी।
कर कान मे कीन महान महेशहू ने कु सुनी विनती न हमारी।।
अस मो मैं महा कलुपालय मातु दया करि ताहि तुरत उवारी।
अघनाशन गर्व गरू इन सर्वको डारहु आजु अवश्य उतारी।।

हे परम दयालु माता ! जिनके उद्धार करने में तीर्थं लज्जित होते हैं और शकरसमान महान् देव भी जिसका शब्द सुनते ही कान मे तर्जनी रख लेते हैं ऐसे इस मुझ महापापी को तारने से इन सब देवताओ तथा तीर्थों के अघनाश करने के अहकार का आज परिहार हो जावेगा।

श्वपाकाना व्रातैरमितविचिकित्साविचलितै-
र्विमुक्तानामेक किल सदनमेन परिषदाम्
अहो मामुद्धर्तु जननि घटयन्त्या परिकर
नव श्लाघा कर्तुं कथमिव समर्थो नरपशु ।।२९।।

श्वपचादिन सोचि विचारि तजे जिन पापनि आपनि बाँह उठाई।
तिनकी महाखानि मैं और कहीं कह कौन सदा उठि जो जिय भाई।।
अस मैं तिहि तारन को कटि साजि विराजति जो जननी मन लाई।
महिमा तिहिकी किमि गाइ सकौं पशु ह्वौ नरदेह वृथा जग पाई।।

हे जननी ! जिनका करना चाण्डालो ने भी नही अगीकार किया ऐसे ऐसे पापसमूहो के निवासस्थान मुझ पातकी के उद्धारकरणार्थ तुझ कटिवद्ध होनेवाली की स्तुति करने में मै नरदेहधारी पशु कैसे समर्थ हो सकता हूँ।

न कोप्येनावन्त खलु समयमारभ्य मिलितो
यदुद्धारादाराद्भवति जगतो विस्मयभर ।
इतीमामीहा ते मनसि चिरकाल स्थितवती
मय सम्प्राप्तोऽद्य सफलयितुमम्ब प्रणय न ।।३०।।

विश्व सविस्मय अँगुरि दत मे दार्बहि जाहि तुरन्त उधारे।
ना अन एकहु आज लौं पातकी आयहु नीर के तीर हमारे।।
लालसा जो यह है मम मातु बसी चिरकाल ते चित्त तिहारे।
तारि हमैं मन की ललुहारि सो पूरण आजु करो निज द्वारे।।

जिसके शीघ्र ही उद्धार करने से सर्व ससार विस्मित हो जावे ऐसा हापापी आज पर्यन्त हमें एक भी न मिला। इस प्रकार की जो आकाक्षा चरकाल से तेरे चित्त में वसी हुई है उसे हे माता! आज हमें तू तार ुफल कर॥

श्ववृत्तिव्यासङ्गो नियतमथ मिथ्याप्रलपन
कुतर्केष्वभ्यास सततपरपैशुन्यमननम्।
अपि श्राव श्राव मम तु पुनरेव गुणगणान्
ऋतेत्वत्को नाम क्षणमपि निरीक्षेत वदनम्॥ ३१॥

भ्रमिबो उठि श्वान समान सप्रेम असत्यहि भाषण नेन-निवेरो।
लखिवो परदोप सदा सुख सो करिबो हियमाँहि कुतर्क वसेरो॥
सुनिकै असि दुर्गुण मोरि करोरि अहै इतनो किहि केर उजेरो।
अव आजु दिना इक तेरे विना पलहू भर जो मुख देखहि मेरो॥

श्वानवृत्यनुकरण, असत्यभाषण, कुतर्काभ्यास, परदोषनिरीक्षणादिक मेरे अगणित अवगुणो को श्रवण कर तेरे अतिरिक्त इस ससार मे दूसरा ऐसा कौन है जो मेरा मुख एक क्षण भर भी देखे।

विशालाभ्यामाभ्या किमिहनयनाभ्या खलु फलं
नयाभ्यामालीढा परमरमणीया तव तनु।
अय हि न्यक्कारो जननि मनुजस्य श्रवणयो-
र्ययोर्नान्तिर्यातिस्तव लहरिलीलाकलकल॥ ३२॥

सव भाँति अकारथ ने अनमोल अपूरव लोचन लोल विशाला।
जिन ना अवलोकन कीन कवौं जननी तव सुन्दर रूप रसाला॥
धिक् वार हजार है कानन को जिन ना तजि के सिगरे जग जाला।
तव तुग तरगनि के सुनि कोरनि मानि हिए वनि भे न निहाला॥

हे जननी! इस लोक में मनुष्यो के जिन नयनो ने तेरी परमरमणीय मूर्ति का दर्शन नही किया वे निष्फल है और उनका विशालत्व वृथा है और इसी प्रकार जिन श्रवणो ने तेरे तरगो के कुलाहल को नही सुना उनको धिक्कार है, श्रवण शब्द उनको कदापि शोभास्पद नही है।

विमानै स्वच्छन्द सुरपुरमयन्ते सुकृतिन
पतन्ति द्राकपापा जननि नरकान्त परवशा।

विभागोऽयं तस्मिन्नशुभमयमूर्तौ जनपदे
नयत्रत्वल्लीला दलितमनुजो शेपकरुपा ॥ ३३ ॥

सुरलोक सिधारत शोकविहीन सुखी सुकृती जन वैठि विमाना ।
नरकान्त गिराय कृतात के दूत दुखावत पापिन के प्रिय प्राणा ॥
यह भेद है केवल ही तिन देशनि कोटि कलेश कसे विविनाना ।
न जहाँ अपशूल समूलविनाशक तेरे विचित्रचरित्र विधाना ॥

हे जननी ! सुकृती जन (पुण्यवान्) विमानस्थ हो स्वच्छन्द सुरलोक को जावे और पापी परवश नर्क-यातना भोगें, इस प्रकार का न्याय केवल उन्हीं अशुभ देशो मे है जहाँ मनुष्यो के समस्त पातक नाश करनेवाली तेरी लीला नही ! (अर्थात् जहाँ तू है वहाँ प्राणीमात्र स्वर्ग ही को जाते है) ।

अपिघ्नतो विप्रानविरतमुशतोगुरुमती
पिवन्तोमैरेय पुनरपि हरन्तश्च कनकम् ।
विहाय त्वय्यन्ते तनुमतनुदानाध्वरजुपा
मुपर्यंवक्रीडत्यखिलसुरसभावितपदा ॥३४॥

जे विनु शक वधै बहु विप्रनि जे गुरुनारि पर्यंक विहारी ।
पान करै मदिरा मदनीय जे हेम हरै नित नेम निकारी ॥
अत तवोदक में तनु त्यागत तेऊ तुरन्त विषाद विसारी ।
स्वर्ग मे भोगत भोग महा सुरवर्ग वनाय स्वपाद पुजारी ॥

हे अम्व (माता) ! जो, विप्रघात, गुरु-स्त्रीसेज-शयन, मदिरापान और कनक चोर कर्मादिक अघोर पातक करते हैं वे भी यदि अन्त समय तेरे प्रवाह में देह त्यागते हैं तो देवताओ के पूज्यपाद हो श्रेष्ठ यज्ञकारो को जो भोग कठिनता मे सुलभ होते हैं उन भोगो का उपभोग लेते हुए स्वर्गसुख मे क्रीडा करते हैं ।

अलभ्य सौरभ्य हरति सतत य सुमनना
क्षणादेव प्राणानपि विरहशस्त्रक्षतहृदाम् ।
त्वदीयाना लीलाचलितलहरीणा व्यतिकरात्
पुनीते सोपिद्रागहह पवमानस्त्रिभुवनम् ॥३५॥

इति भोर अलभ्य प्रसूनन की शुचि सौरभ चोरत जो मनभाई ।
विरहक्षतव्याकुल प्राणिन को क्षण माहि निपातत जो न सकाई ॥

तव नीर की वीचि विलोल छुए दुखदाय त सोई समीर सुहाई ।
ततकाल त्रिलोक पवित्र करै यह कैसी विचित्र अहो प्रभुताई ॥

जो अलभ्य पुष्पो की सौरभ (सुगन्ध) को सतत हरण करता है और जो विरहरूपी शस्त्रजनित हृद्वेदनाकुलितो के प्राण क्षण में शरीर से पृथक् कर देता है, ऐसा वह सोई पवन तेरी विलोल बीचिमाला के स्पर्श से त्रिभुवन को तत्काल पवित्र पदवी को पहुँचाता है, यह क्या ही आश्चर्य है !

कियन्त सत्येके नियतमिह लोकार्थघटका
परे पूतात्मान कति च परलोकप्रणयिन ।
सुख शेते मातस्तव खलु कृपात पुनरय
जगन्नाथ शश्वत्त्वयि निहितलोकद्वयभर ॥३६॥

करि कोऊ महा उपकार इतै यहि लोक की कीरतिसारकमाही ।
परलोक सुधारत कोऊ कहूँ करि दान दया सनमान सदाही ॥
धरि तोहि पै भार त्रिलोकनि के तजि सर्व विचार जहाँ के तहाँही ।
यह सेवक सोइ रह्यो सुख सो इक तेरी कृपा जननी जगमाही ॥

कोई सत्पुरु नाना प्रकार के निरन्तर उपकार कर इस ससार में विमल कीर्ति सम्पादन करते है और कोई अनेक जप, तप, दान, सन्मान आदिक से अपने परलोक-साधन में सदैव तत्पर रहते है परन्तु, हे माता यह जगन्नाथ तो दोनो लोको का भार तेरे ऊपर रख तेरी कृपा से सुखपूर्वक सतत शयन कर रहा है ।

भवत्याहि व्रात्याधमपतितपाषडपरिषत्
परित्राणस्नेह श्लथयितुमशक्य खलु यथा ।
ममाप्येव प्रेमा दुरितनिवहेष्वव जगति
स्वभावोऽय सर्वैरपिखलु यतो दुष्परिहर ॥३७॥

पतिताधम धर्मविहीनन के अघतूल समूल नसावन काजा ।
निज प्रीति की रीति न त्यागति तू जग मातु विचारति रक न राजा ॥
तस नेम ते मै हूँ सप्रेम करौ उठि पाप सदा सजि आपनि साजा ।
जग मे न अभाव स्वभावप्रभाव को होहि चहै सर्वस्व अकाजा ॥

हे अम्ब (माता) ! जैसे सस्कारहीन अधम, पतित और पाखडी प्राणियों के उद्धार करने मे तेरे स्नेह का न्यून होना सर्वथा असभव है तैसे ही नित्य पातक-

मूह उपार्जित करने में मेरे नेम का भी कम होना सम्भव नहीं, क्योंकि इस संसार में सब जीवधारियों को स्वभाव का त्याग करना परम दुस्तर होता है।

प्रदोषान्तर्नृत्यत्पुरमथनलीलोद्धृतजटा
तटाभोगप्रेङ्खल्लहरिभुजसन्तानविधुति ।
बिलक्रोडक्रीडज्जलडमरुटङ्कारसुभग-
स्तिरोधत्तां तापं त्रिदशतटिनी ताण्डवविधि ॥३८॥

नित्य प्रदोष की बेर गिरीश के नृत्यत शीशजटा तट लागी।
वीचि विलोल भुजा उठि जा मँह मानहु भाव कहै रसपागी॥
तीर के खोहनि में डमरू सम जामे करै रव नीर विभागी।
सो तव तांडव की विधि मातु हरै मम ताप हिए अनुरागी॥

प्रदोष समय शंकर के नृत्यलीलोद्धृत जटाओं का प्रहार तट पै लगाने से जिनमें चंचल तरंगरूपी भुजा हाव भाव-सा करते हैं और तीर के खोहों में वेग पाकर नीररूपी डमरू के मनोहर शब्द जिसकी शोभा को बढाते हैं सो वह भागीरथी की ऐसी ताण्डवविधि मेरा सकल ताप हरै।

सदैव त्वय्येवार्पितकुशलचिन्ताभरमिम
यदि त्वमामव त्यजसि समयेऽस्मिन्सुविषमे।
तदा विश्वासोऽयं त्रिभुवनतलादस्तमयते
निराधारा चेयं भवति खलु निर्व्याजकरुणा॥३९॥

धरि तोपै सबै कुशलात को भार अनिष्ट विहार करे मनमानी।
यह दुस्तर बेरि विलोक कै जो तजिहै मोहि मातुनराधम जानी॥
तव पापिन तारन की उठि जाय है बानी त्रिलोक ते तौ महारानी।
निजि वासन तेरे हिए लखिकै करुणा करि है करुणा बिलखानी॥

हे माता! अपनी भविष्य कुशल का सारा भार मैंने तेरे ऊपर रख इस दिन पर्यन्त मनमानी की, अब इस ऐसे महादुर्धर समय में यदि तू मेरा अंगीकार न करेगी तो, तूही, समझ देख तेरा पापोद्धारविषयक समस्त त्रैलोक का दृढ विश्वास आज अस्त-सा हो जावेगा और यह निर्व्याज करुणा तेरे हृदय में अपना वास न पाय निराधारत्व को प्राप्त होवेगी।

कपर्दादुल्लस्य प्रणयमिलदर्धाङ्गयुवते
पुरारेः प्रेङ्खन्त्यो मृदुलतरसीमन्तसरणौ।

भवान्या सापत्न्यस्फुरितनयन कोमलरुचा
करेणाक्षिप्तास्ते जननि विजयता लहरय ॥४० ॥

कढि कै जटली जटाजूटन ते अतिप्रेम प्रभाव नगेशजाधारी।
त्रिपुरारि के कोमल भालप्रदेश मे जे उतरी निज सौति निहारी ॥
जिनको करकज ते टारन कीन सरोप पहारनराजकुमारी।
जननी तव ते लहरी बिजयी जग होंहि यहै कहनूति हमारी ॥

हे माता! अधिक प्रीति के कारण अर्द्धाङ्गिनी पार्वती को वाम अग में स्थान देनेवाले त्रिपुरारी के जटामडल से निकल जो उनके कोमल भाल में अपनी सपत्नी के अवलोकनार्थ उतरी और गिरिजा ने सापत्न्यभाव से लाल लोचन कर अपने करकमल मे जिनका निवारण किया ऐसी तेरी लहरें जगत में जय पावै।

प्रपद्यन्ते लोका कति न भवतीमत्र भवती–
मुपाधिस्तत्राय स्फुरति यदमीष्टं वितरसि ।
शपे तुभ्य मातर्मम तु पुनरात्मा सुरधुनि
स्वभावादेवत्वय्यमितमनुराग विधृतवान् ॥ ४१ ॥

जननी जगपूजित तू तिहिको नहिं को दरबार जुहारत जाई।
शरणागत स्वागत जागत जो तव सो मोहि कारण देत दिखाई ॥
सुरलोकनदी शपथप्रतिसत्य कहौ न करौ निज व्यर्थ बडाई।
अनुराग तौ मो मन को अति लाग स्वभावहि ते तव माहिं सुहाई ॥

हे सुरसरिता! तुझ जगत्पूज्या माता की शरण मे कौन नही जाता है? तू वाञ्छित फलदात्री है, यही तेरे अवलम्बन करने का एक मुख्य कारण है। मेरे मन ने तो तेरे अनुराग का सम्पादन स्वभाव से ही किया है (प्रशसा सुन के नहीं) यह मै तेरी शपथ खाकर कहता हूँ।

ललाटे या लोकैरिह खलु मलील तिलकिता
तमो हन्तु धत्ते तरुणतरमार्तण्डतुलनाम ।
विलुम्पन्ती सद्यो विधिलिखितदुर्वर्णसरणिं
त्वदीया सा मृत्स्ना मम हरतु कृत्स्नामपि शुचम् ॥४२ ॥

तजि शोक मरै यहि लोक में आय लगावत लाय लिलार मझारा
तन जारि युवा नवितासमता निन नाशति जो नुधि के तम भार

पल माहिं निशंकित मेटति जो विधि अंकित अक्षर वक्र विकारा।
जननी तव तीर की सो शुचि रेणु हरै हमरे भव पीर प्रकारा॥

जो इस लोक में मनुष्यों के ललाट में प्रेमपूर्वक तिलकित होने से बुद्धि-विकार का, जैसे मध्याह्नकालस्थित अत्यन्त तीक्ष्ण किरणोंवाला सूर्य अंधकार को अस्त करता है वैसे नाश कर देती है और जो ब्रह्मलिखित अशुभ कर्माक्षरों को भी मिटाती है सो यह ऐसी तेरी मृत्तिका हमारे सब शोक हरै।

नरान् मूढान् तत्तज्जनपदसमासक्तमनसो
हसन्तः सोल्लासं विकचकुसुमव्रातमिषतः।
पुनानाः सौरभ्यैः सततमलिनो नित्यमलिनान्
सखायो नः सन्तु त्रिदशतटिनी तीरतरवः॥४३॥

निज देशनि जे मतिमंद बसैं मनमानि अनन्द तुम्हें बिसराई।
विकसी कुसुमावलि के मिस जे तिनकी करैं हेरि हँसी मुसकाई॥
जिनकी सुचि सौरभ शुद्धि करै सब भाँति मलीन अलीन सुहाई।
तव तीरन के तरु सो जननी मम होहिं सदैव सदा सुखदाई॥

स्वदेशवास ही से सन्तुष्ट होकर जो मूढ़ मनुष्य उन प्रदेशों को जहाँ होकर तू निकली है तेरे दर्शनार्थ नहीं जाते उनकी, अपने प्रफुल्लित फूलों के मिस से, जो हँसी सी करते हैं और जो आत्ममलिन भ्रमरों को भी अपनी सौरभ से पावन करते हैं सो ये ऐसे तेरे तीर के तरुवर मेरे निरन्तर मित्र होवें॥

यजन्त्येके देवान् कठिनतरसेवास्तदपरे
वितानव्यासक्ता यमनियमरक्ताः कतिपये।
अहं तु त्वन्नामस्मरणकृतकामस्त्रिपथगे
जगज्जालं जाने जननि तृणजालेन सदृशम्॥४४॥

चित धारत देवन सेवन में सहिकै कोउ नित्य नई कठिनाई।
मख ठानत कोउ सप्रेम कोऊ नर मानत हैं यमनेम निकाई॥
जपि नाम तिहारो पथत्रयगामिनि मैं अभि काम तमाम बिहाई।
जगजालनि को भव कालनि मे तृणजालनि तद्वत देखहुँ माई॥

हे त्रिपथगामिनी! इस लोक में कोई तो अत्युग्र सेवा करके अनेक देवाराधना करते हैं, कोई यज्ञानुष्ठान में प्रवृत्त होते हैं और कोई यमनियमादिकों का साधन करते हैं। परन्तु, हे माता! मैं तो इस प्रकार के जितने धर्म हैं

उनसे अपना हाथ खींच केवल तेरा नामस्मरण कर जगत् के सर्व जंजाल को तृणवत् देख रहा हूँ।

अविश्रान्त जन्मावधिसुकृतजन्मार्जनकृता
सता श्रेय कर्तुं कति न कृतिन सति विबुधा ।
निरस्ता लम्बानामकृतसुकृताना तु भवतीं
विनामुष्मिल्लोके नपरमवलोके हितकरम् ॥४५ ॥

निज जन्म ते उत्तम जन्म निमित्त करी बहुपुण्य परिश्रम पाई।
तिन तारनहार करार ते केतिक जागत हैं जग में सुरराई ॥
यहि लोक मे पै अघ खानि निराश्रित लोगनि के हित हेत सहाई।
नहिं दूसरो मोहि दिखाय परै कहुँ जह्नुसुता इक तोहि विहाई ॥

जो जन्म ही से उत्तम पदप्राप्त्यर्थ अनेक सुकृत (पुण्य) कृत्य करते हैं उन सत्पुरुषो को सुगति देने की किस देवता मे सामर्थ्य नही ? परन्तु निराधार महापापी प्राणियो को अंगीकार करने मे तत्पर एक तेरे अतिरिक्त इस लोक में मुझे और कोई नही देख पडता।

पय पीत्वा मातस्तव सपदि यात सहचरै
विमूढै सरन्तु क्वचिदपि न विश्रान्तिमगमम् ।
इदानीमुत्सङ्गे मृदुपवनसचारशिशिरे
चिरादुन्निन्द्र मा सदय हृदये शायय चिरम् ॥४६ ॥

पयपान कै मातु तिहारो सखानि महाधम ज्ञानविहीन बटोरी।
भमि देश अनेकनि नित्य नवीन मलीन कुतूहल कीन करोरी ॥
अब मन्द समीर ते शीतल नीर पै मातु दयालु विनै सुनि मोरी।
चिर काल उनींदित मोहि सदैव को निद्रित आजु करो बरजोरी ॥

हे दयालु माता ! तेरा जलपान करके महामूढ मित्रमंडली संयुक्त देश विदेश जाय अनेक कुतूहल किये परन्तु विश्राम कहीं भी न मिला, इससे अब मृदुल समीर ने शीतल किये हुए अपने इस नीर पै मुझ चिरकाल निद्राविगत को सदा के लिए निद्रित कर।

बधान द्रागेव दृढिमरमणीय परिकर
किरीटे बालेन्दु नियमय पुन पन्नगगणै ।

न कुर्यास्त्वं हेलामितरजनसाधारणतया
जगन्नाथस्यायं सुरधुनि समुद्धारसमयः ॥४७॥

बाँधियो वेगि महादृढ कै कटि साधियो आपनि सुन्दर गाता।
लीजियो पन्नगजालनि लाय मिलाय किरीट ते चन्द्र सुहाता॥
कीजियो हेलना भूलि न दूसरे पापिन को मन में गुनि वाता।
है जगन्नाथ उधारन की यह दुस्तर बेर बडी सुन माता॥

हे सुरसरि! शीघ्र ही अपने परिकर को दृढतर बाँध, भाल के बाल चन्द्रमा को सर्पजाल लगाय किरीट से साध, और साधारण पापियों का-सा मेरा हाल जान हेलना न कर। यह अधीर पातककार जगन्नाथ के उद्धार करने का समय है।

शरच्चन्द्रश्वेतां शशिशकलश्वेतालमुकुटां
करैः कुम्भाम्भोजे वरभयनिरासौ च दधतीम्।
सुधाधाराकाराभरणवसनां शुभ्रमकर-
स्थितां त्वां ये ध्यायन्त्युदयति न तेषां परिभवः॥४८॥

तनु श्वेत शरदृतु चन्द्रसमान किरीट मयंक कला छबि छाये।
वर कुम्भ सरोज, महाभयभंजन, आयुध हस्त धरैं मनभाये॥
उजरे मकरस्थित, अमृतधार-से भूषण वस्त्र सिंगार बनाये।
तव ध्यान धरैं नर जे तिनको अपमान न होहि कहौं जग आये॥

जिनका अंग वर्ण शरद्चन्द्र समान श्वेत है, जिसके मुकुट की प्रभा शशिवत् उज्ज्वल है, जिसके कर-कमल, कमल, कुम्भ (घट) वर और अभय इन चारों आयुधों से आभूषित हैं, जिनके वस्त्राभरण सिंगार अमृतधाराकार शोभायमान हैं और जो शुभ्र मकर (मगर) पै विराजमान हैं; ऐसी इस तेरी मनोहर मूर्ति का जो कोई ध्यान करते हैं उनका स्वप्न में भी इस लोक में पराभव नहीं होता।

दरस्मितसमुल्लसद्वदनकान्तिपूरामृतै-
र्भवज्वलनभर्जितानिशमूर्जयन्ती नरान्।
चिदेकमयचन्द्रिकाचयचमत्कृतिं तन्वती
तनोतु मम शन्तनोः सपदि शन्तनोरङ्गना॥४९॥

मृदु हास विकासित आनन की अति सुन्दर भाष पीयूष पियाई।
जगज्वाल विशाल जरैं जन जो सब काल जिआवति ताप नसाई॥
निज चेतनचन्द्रप्रकाशचमत्कृति जे जगती तल में प्रकटाई।
नृपशतनुनारि पियारि सुई मम होहि सदा मुदमंगलदाई॥

मनोहर मुसुकानि समय अपने प्रफुल्लित मुखारविन्द के प्रकाशरूपी अमृत से जो विश्वाग्निजालज्वलित मनुष्यों को जीवनदान देती है और जो निज चेतनचन्द्रिका से सबको चकित करती है सो यह ऐसी शतनु राजा की रानी हमारा सदैव कल्याण करे।

मन्त्रैर्मीलितमौषधैर्मुकुलितं त्रस्तं सुराणां गणैः
स्रस्तं सान्द्रसुधारसैर्विदलितं गारुत्मतैर्ग्राविभिः।
वीचिक्षालितकालियाहितपदे स्वर्लोककल्लोलिनि
त्वं तापं निरयाधुना मम भवज्ज्वालावलीढात्मनः॥५०॥

मन्त्र विलुप्त भये सिगरे बिगरे गुण सर्व महौषधि केरे।
त्रस्त भे सुरत्रस्त सुधारस नष्ट भई मणि मो तन हेरे॥
हे हरिपादपखारनहारिनि देवनदी अपने तट नेरे।
विश्व कृशानु दहे मम अंग के भंग करौ तुम ताप घनेरे॥

मुझे देखते ही मन्त्र लुप्त हो गये, महौषधियों ने अपने गुणों का गर्व त्याग दिया, देवतागण डरे, अमृतादिक रस गिर गये, और गारुत्मत के समान मणियाँ भी नष्ट हो गईं, अब और तो कोई रहा ही नहीं कि जिससे मैं कुछ कहूँ इससे हे हरिपादप्रक्षालनी सुरसरि! मुझ जगत्ज्वालादग्ध आत्मा-वाले की सर्व ताप तू वेग ही शान्त कर क्योंकि ऐसा करने को एकमात्र तू ही समर्थ है।

द्यूते नागेन्द्रकृत्तिप्रमथगणमणिश्रेणिनन्दीन्दुमुख्यं
सर्वस्वं हारयित्वा स्वमथ पुरभिदि द्राक् पणीकर्तुकामे।
साकूतं हैमवत्या मृदुलहसितया वीक्षितायास्तवाव
व्यालोलोल्लासिवल्गल्लहरिनटघटीताण्डवं नः पुनातु॥५१॥

एक बार गिरजा सग खेलन महेश द्यूत नदी नागेश चन्द्र प्रमथ कृत्य हारे।
दांव माहिं आपहिं तव लायबो विचार कीन्ह सर्ववित्त हीन खीनवृत्ति चित्त धारे॥
भाव भरी नैन तों तब और शिवा दीठ करी मन्दी मुसकानयुक्त जीतिबो विचारे।
[illegible] अति चंचल तरंग उठी गंगवरे पावन सब अंग तो हमारे॥

हे अम्ब (माता)! पार्वती के सग द्यूत खेलने मे फणीश, वाघम्बर, पारपद, मणिमाला, नन्दी और चन्द्रमादिक अपना सर्व वस्त्र हार जब शकर ने अपने को दाँव पर रखना चाहा तो गिरजा ने मन्द मुसकान गूढाभिप्राय (तेरे जीत लेने के विचार) से तेरी ओर अवलोकन किया, इस प्रकार का आक्षेप होता देख महाचचल हो जो सदाशिव के जटामडल में नृत्य-सा करने लगे ऐसे यह तेरे तरग हम पावन करें।

विभूषितानङ्गरिपूत्तमाङ्गा सद्य कृतानेकजनार्त्तिभङ्गा।
मनोहरोत्तुङ्गचलत्तरङ्गा गगाममाङ्गान्यमलीकरोतु॥५२॥

आभूषित तनुविनाशक श्रेष्ठ अगा। शीघ्र कृतामितमनुष्यकलेशभगा॥
सौन्दर्यमान अतितुग चलत्तरगा मो अग सो करहि पावन मातु गगा॥

जिसने अपने निवास से शकर का शिरोभाग आभूषित किया है, जो ससार के अनेक मनुष्यो के अनेक दुखो का शीघ्र ही छेदन करती है और जिसके ऊँचे ऊँचे चचल तरग परम शोभायमान लगते हैं ऐसी यह श्री गगा हमारे सर्वांग को पावन करै।



देवीस्तुतिशतक

भूमिका

सस्कृतभाषा मे जिनका प्रयोग प्राय सर्व छोटे-बडे ग्रन्थो में किया गया है ऐसे गणात्मक छन्द देवनागरी की दो-चार ही पुस्तको में उपयुक्त हैं यह सब सुज्ञ वाचको को विदित है। ऐसा होने पर भी प्रस्तुत समय में हमारे विद्वज्जन इस ओर ध्यान नही देते यह खेद का विषय है। क्या वे यह समझते है कि इस प्रकार के छन्दो का प्रचार होने से हमारी भा ा को विशेष शोभा न प्राप्त होगी ? जो हो, मुझे तो भगवती का स्वतन करना ही था और सस्कृत मे विशेषत सर्वस्तुति विषयगणात्मक वृत्तो ही में वर्णन किये भी गये है अतएव मैने ऐसे ही छन्दो का प्रयोग करना योग्य समझा।

झाँसी,
२२ जनवरी, १८९२ }

महावीरप्रसाद द्विवेदी

श्री

देवीस्तुतिशतक

वसन्ततिलका छन्द

(१)

व्योमाम्बु भूमि अनिलानल तत्त्व माँही,
जाकी कला कुशल व्यापक हैं सदाही।
विश्वेश्वरी जननि सो जग आदिमाया,
राखैं निरोग सब काल हमारि काया॥

(२)

धाता[1] स्वरूप धरि कै रचि सृष्टि सारी,
पालौ प्रजा अखिल अच्युत[2] भेषधारी।
नाशौ बहोरि सब शंकर अंक आई,
लीला अपार तव अम्ब न जाय गाई॥

(३)

नागेन्द्र[3] इन्द्र रवि चन्द्र उपेन्द्र[4] देवा,
जाकी सदा करत प्रेम समेत सेवा।
सो शक्ति जासु सबके उर में बसेरो,
होवै शरीर सुखसाधक हेतु मेरो॥

(४)

धूमावती[5] त्रिपुर सुन्दरि मातु तारा,
पद्मातिकारु भुवनेश्वरि सावतारा।
मातंगि छिन्नशिर भैरवि भव्यनामा,
काली कराल बगलामुखि को प्रणामा॥

(५)

तेरी प्रभा बिन प्रभाकर[6] तेज-हीना,
ताराधिनाथ[7] तव शीतलता अधीना।
दूजे अनेक ग्रह जे नभकाशकारी,
होवें प्रदीप्त द्युति है जननी तिहारी॥

१—ब्रह्मा, २—विष्णु, ३—शेष, ४—विष्णु, ५—दश महाविद्याओं के नाम इस श्लोक के अन्तर्गत, ६—सूर्य, ७—चन्द्र।

(६)

ब्रह्मा महेन्द्र निधिनायक[१] नीरनाथा[२],
सानन्द जासु गुण गावत जोरि हाथा।
सत्कीर्ति तासु यह पामर ज्ञानहीना,
हा हा कहै किमि महामति मन्दहीना ॥

(७)

स्वेच्छानुसार वर माँगन में भवानी,
सेवा कछू करब सेवक धर्म जानी।
देवौं त्वदर्थ कवितामय दीन दासी,
लै लेहु ताहि नतु होहि हमारि हासी ॥

(८)

रे रे दिवाकर बहोरि प्रकाशकारी,
दैहौं अवश्य अब दण्ड अतीव भारी।
यों नवतवान महिषासुर को पछारी,
राजी शिवा जु हरु सोइ व्यथा हमारी ॥

(९)

आरक्त[३] नेत्र करि शस्त्र समस्त साधी,
दैत्याधिराज तनु मध्य कृपाण आधी।
वेगि प्रवेशि कृत जो रव घोर वानी,
देवै शरीरसुखसम्पति सो भवानी ॥

(१०)

इन्द्राणि अम्बुपति-पत्नि[४] कुवेरजाया[५],
होवौ सुखी वचन यों कहि योगमाया।
धाई मृगेन्द्र चढ़ि जो असुरारि आगे,
तासो डराय मम रोग भगैं अभागे ॥

(११)

हा हा हमैं महिषदानव दण्ड भारी,
हे देवि देतु हरु तासु शिर प्रचारी।
जावों तथास्तु इति वादिन[६] इन्द्रपाही,
चण्डी हमारि रुज[७] चूर्ण करैं सदाही ॥

१—कुबेर, २—वरुण, ३—लाल, ४—वरुण की स्त्री, ५—कुबेर की स्त्री, ६—कहनेवाली, ७—रोग।

(१२)

तीक्ष्ण त्रिशूल महिषासुरकूल माही,
पैठे विलोकि तकि तासु शरीर काँही।
सक्रोध पृष्ठि-तट ऊपर मारि लाता,
गर्जी जु घोर करु मोर निरोग गाता॥

(१३)

पादारविन्दतल[१] ते शिरमोक्ष[२] हेता,
व्यर्थ प्रयत्न रिपु के लखि मध्य खेता।
तारी बजाय विहँसी जगदम्ब जोई,
कल्याणकारिणि सदा मम होहु सोई॥

(१४)

अत्युग्र गर्जि निज विस्तृत वक्त्र[३] वाई,
वाहद्विषासुरहि[४] आवत देखि धाई।
नाराच जासु प्रविशे सुरशत्रु अगा,
मत्ताप सो करहि श्री जगदम्ब भगा॥

(१५)

युद्धप्रसग महँ जासु अनन्त वाना,
चण्डांशु[५] छाय करि रैनि घनी समाना।
आनन्द दीन कुल कैरव को अपारा,
सन्ताप सो जगतमातु हरै हमारा॥

(१६)

शक्ति त्रिशूल असि पाश गदा कुठारा,
धन्वा धुरीण युत केहरि पै सवारा।
जासो समस्त महिषासुर सैन्य हारी,
ता अष्टवाहु जननीहि नमो हमारी॥

(१७)

सग्रामभूमिगत दैत्य अनेक मारी,
रक्तप्रवाह सब ओर वहाय भारी।
कल्लोलिनीश[६] जिहि लोहित[७] रग कीन्हे,
मद्दुःख सो हरहि भैरवि नभ्र लीन्हे॥

१—चरण-कमल के नीचे से, २—छूटना ३—मुख, ४—महिषासुर, ५—सूर्य, ६—समुद्र, ७—लाल।

(१८)

स्वर्लोकदेवपतिशत्रु चमू मझारा,
जासु प्रचण्ड हरिनायक[१] दन्त द्वारा।
सोये अनन्त मृतदानव मत्तदन्ती[२],
सो रक्ष मोहि महिषासुरमर्दयन्ती॥

(१९)

पचाननोपरि[३] दृढासन सिद्ध पाई,
सव्यापसव्य[४] दिशि शक्ति चलच्चलाई।
रुण्डावशेषकृत जे सुरशत्रु[५] मारे,
काटैं जगज्जननि संकट सो हमारे॥

(२०)

आलोक जासु दृग रोष भरेऽरुणारे,
कम्पायमान अति भे सुर शत्रु सारे।
जाके भुजानि महिषासुर शृङ्ग पारे,
सो अम्ब सर्व मम अंग करैं सुखारे॥

(२१)

घंटानिनाद सुन जासु अखण्ड एका,
ध्योमोहव्याप्त रजनीचर भे अनेका।
सो देवि जाहि निज दास सदा सुहावै,
हस्तारविन्द मम मस्तक पै लगावै॥

(२२)

पद्मानुकारि पद ते अथवा हमारे,
मेटौ महेश्वरि अवश्य अरिष्ट सारे।
सोऊ बनै न यदि तौ रज तासु डारी,
भारी भयाब्धि[६] सन लेहु हमैं उबारी॥

(२३)

सेना समस्त सुरईश्वरशत्रुवारी,
अट्टाट्टहास जिहिकी मुनि भीतिकारी।
भागी अगम्य बनि बोलत दीन बानी,
राखै सुखी हमहिं सो नित रुद्ररानी॥

१—सिंहराज, २—मत्त हस्ती, ३—सिंह के ऊपर, ४—दाहिनी बाईं ओर, ५—दानव, ६—भारी भयरूपी समुद्र।

(१८)

स्वर्लोकदेवपतिशत्रु चमू मझारा,
जासु प्रचण्ड हरिनायक[१] दन्त द्वारा।
सोये अनन्त मृतदानव मत्तदन्ती[२],
सो रक्ष मोहि महिषासुरमर्दयन्ती ॥

(१९)

पञ्चाननोपरि[३] दृढासन सिद्ध पाई,
सव्यापसव्य[४] दिशि शक्ति चलच्चलाई।
रुडावशेषकृत जे सुरशत्रु[५] मारे,
काटैं जगज्जननि सङ्कट सो हमारे ॥

(२०)

आलोक जासु दृग रोष भरेऽरुणारे,
कम्पायमान अति भे सुर शत्रु सारे ।
जाके भुजानि महिषासुर शृङ्ग पारे,
सो अम्ब सर्व मम अंग करैं सुखारे ॥

(२१)

घंटानिनाद सुन जासु अखण्ड एका,
व्योमोहव्याप्त रजनीचर भे अनेका ।
सो देवि जाहि निज दास सदा सुहावै,
हस्तारविन्द मम मस्तक पै लगावै ॥

(२२)

पद्मानुकारि पद ते अथवा हमारे,
मेटो महेश्वरि अवश्य अरिष्ट सारे।
सोऊ बनै न यदि तौ रज तासु टारी,
भारी भयाब्धि[६] सन लेहु हमैं उबारी ॥

(२३)

सेना समस्त सुरईश्वरशत्रुवारी,
अट्टाट्टहास जिहिकी मुनि भीतिकारी।
भागी अगम्य वनि बालन दीन बानी,
रागै सुगी हरहि मो नित रुद्ररानी ॥

१—सिंहराज, २—मत्त हाथी, ३—सिंह के ऊपर, ४—दाहिनी बाईं ओर
५—दानव, ६—भारी भयरूपी समुद्र ।

(२४)

रोमालि[1] जासु छुदतै हरिचक्रधारा,
भै वक्रता महिष के ऽखिलास्थिसारा।
चूर्णीकृताति वत पादतलप्रहारा,
काको अहै अस पराक्रमताधिकारा ॥

(२५)

पद्दैव पादमृदुता क्व[2] महा घनेरी,
काठिन्यता क्व महिषासुरपृष्ठ केरी।
कीन्ह्यो तथापि जिन[3] चूर्ण सुरारिगाता,
मेटै अरिष्ट मम मो सतत प्रभाता ॥

(२६)

देवाधिनाथ अरिपृष्ठ कठोर कारी,
तापै स्वपाद अरुणाम्बुज तुल्य धारी।
शोभा ऽद्‌भुत प्रकट कत्रि त्रिलोकमाता,
मद्देह हेत नित देहि निरोग नाता ॥

(२७)

अत्यन्त तीव्र नख रश्मिन ते तपाई,
पद्माङ्घ्रि[4] जासु महिषासुर को दवाई।
पकद्रवार्थ[5] जनु दीन पठै पताला,
नाशै सदा जननि सो मम रोग जाला ॥

(२८)

खड्गप्रहार लगि रक्त नदी वहाई,
जौलौ मरे महिषदैत्य पछार खाई।
तौलौं सुरेश किय पूजन जासु आई,
मद्रोग[6] देहि जगदीश्वरि मो नसाई ॥

(२९)

हुंकारशब्द करि कोपकृशानु लाई,
धूम्राक्षदेह द्रुत भस्ममयी वनाई।
देवेन्द्रकाज, हर हेत विभूति ढेरी,
माथै द्वऊ करनि जै जगदम्ब तेरी ॥

मपक्ति, २—कहाँ, ३—अर्थात् चरणद्वय, ४—कमलरूपी पद,
५—कीच में क्रीडा करने के लिए, ६—मेरा रोग।

(३०)

शैलाधिराजशिखरोपर शस्त्र साजी,
घोर स्वरूप निज वाहन पै विराजी।
है चण्डमुण्ड यह यों मनमाहिं जानी,
सुस्मेरकर्त्रि[1] जयतु त्रयलोकरानी॥

(३१)

चण्डीललाटतट ते कढि क्रोध पाई,
कीनाशदेश[2] अमरारिअनी[3] पठाई।
सन्तोषवृत्ति चितधारिणि भद्रकाली,
देखै दयासहित मो तन तापघाली॥

(३२)

जाके प्रचण्डनखदन्तप्रहार खाई,
देवारिसैन्य[4] पल माहिं गई विलाई।
मो सिर है जननि वेग तुम्है चढाई,
होवै ममाङ्गसुखसाधन में सहाई॥

(३३)

नाही सहाय कर काज कछू दिखावै,
भार्‍यो प्रमादवश मैं यह चित्त आवै।
लक्षावधि प्रबल दैत्यन जे पछारा,
मद्दुःख नाश महँ ताहि कितेक बारा॥

(३४)

ज्यों शब्दमात्र करि शुम्भ अनीश[5] मारा,
संहार त्यों न सबको करिबे विचारा।
काली क्षुधार्त उदरातरभक्ष्यहेता,
शस्त्रप्रहार करि कौतुक कीन्ह एता॥

(३५)

पृथ्वी अकाश बिच जे न सके समाई,
ते रक्तबीज निज आनन माहिं नाई।
दंष्ट्रा[6] दबाय सब काहि लयो चबाई,
काली किनो अटट त्वद्विभुताधिकाई[7]॥

१—मन्द हास करनेवाली, २—यमलोक, ३—दैत्यसैन्य, ४—दैत्यों की
[illegible]

(३६)

शुंभप्रतापरुजपीड़ित स्वर्गस्वामी[1],
त्वत्कीर्ति गाय बहुवार कही नमामी।
मैं तौ मनुष्य ग्रह कष्ट कृशानुजारो,
हे देवि द्वार किहि भाँति तजौं तिहारो॥

(३७)

पक्षीशपृष्ठ[2] पर बैठि सवेग आई,
सर्वास्त्र शस्त्र धरि पैठि रणाङ्गनाई।
काटे सुरारि सिर जो सब ओर धाई,
सो वैष्णवी हरहि मद्दुज दुखदाई॥

(३८)

हारे हजार विधि जासन लोकपाला,
जाके प्रतापमय भानु भयो विहाला।
ता शुम्भ दैत्यपति के पल माहिं प्राना,
लीन्ह्यो अहो तव प्रभुत्व महामहाना॥

(३९)

कोदण्ड[3] कर्ण लगि तानि मुरारि ताकी[4],
वेगि प्रचण्ड शर मग्न माहि जाकी।
टेढ़ी विलोकि भृकुटी अरिसैन्य थाकी,
भागे हमार दुख देखि कृपाण ताकी[5]॥

(४०)

दैत्येन्द्रयुद्ध महँ लोहित नेत्र री,
पूर्णेन्दु वक्त्र विच वारिकण प्रसारी।
वाणावली हनन हारि शिवा तिहारी,
सकृद्रमूर्ति मम दुःख दहै प्रचारी॥

(४१)

वृत्रारिवज्र[6] यमदण्ड अति प्रचण्डा,
भे जासु अङ्ग महँ लागत खड खडा।
ता शुम्भ दैत्य कहँ काटन में प्रवीना,
कात्यायिनी करहि मोहि व्यथाविहीना॥

१—इन्द्र, २—गरुड की पीठ, ३—धनुष, ४—तक के, ५—तिसकी,
६—इन्द्र का कुलिश।

(४२)

आकर्ण[1] चापगुण[2] औ पद वाम आगे,
द्वौ स्कन्ध नम्र दृग क्रोध कृशानु पागे।
संग्रामशालि अस उग्र स्वरूप तेरो,
सन्धानि तीव्र शर छेदहि रोग मेरो॥

(४३)

कै रक्तवीज सम उद्भट दुष्ट मारे,
काकी सहाय रण में निज शस्त्र धारे।
कीन्ही हरीन्द्र विधि शक्तिनहूँ भवानी,
तेरी समान इक तू यह सत्य बानी॥

(४४)

मै प्रेमपूरि जगदम्ब त्वदीय गाथा,
गावौ जऊ विपुल बार नवाय माथा।
जावै तऊ न ज्वर जीवन दु:खदाता,
आश्चर्य याहि कहु को कहिहै न माता॥

(४५)

दुर्गे दशा जु असि होइहि देश माही,
राखी बताउ फिरि को तव भक्त काही।
कारुण्यनीरनिधिईश्वरि[3] नाम पाई,
काहे न अम्ब अवलम्बन देहि आई॥

(४६)

तोको अयुक्त कहिबो जडता हमारी,
कीन्हे ऽपराध कछु मैंहि महान भारी।
जाते विलम्ब भइ भाषत कीर्ति तेरी,
देवि क्षमस्व[4] अब सो सब भूल मेरी॥

(४७)

सस्नेह पूजि जिनको नर नेमधारी,
पावैं कवीन्द्रपद पावन कीर्तिकारी।
नावैं नृदेव[5] जिन पायन पै स्वमाया,
दण्डप्रणाम तिनको मम जोरि हाथा॥

१—कर्णपर्यन्त, २—धनुष की डोरी, (ज्यावन्ध) ३—करुणारूपी स की स्वामिनी, ४—क्षमा कीजिए, ५—नर और सुर।

(४८)

वालार्कविम्बरुचिरारुणअंशुमाला[१],
उत्फुल्लकोकनदकोमलता[२] विशाला।
होवै सलज्ज गुणि जासु गुणानुवादा,
त्वत्पादयुग्म सुइ मोर हरै विषादा ॥

(४९)

शोभाभरी त्रिपुरसुन्दरि देवि तोरी,
जंघा महानुपम स्वर्ण[३] समान गोरी।
रम्भाप्रकाण्ड[४] हित माहिं अनेक वाराऽ-,
हभाव[५] त्यागु मि बोलि करै दरारा॥

(५०)

लावण्यतासरित[६] त्वत्त्रिवली भवानी,
दाया अभीति वरदानवरिष्ठवानी।
ये तीनि अर्थ त्रयरेखनि ते पुकारी,
धैर्यविलम्ब जनु भक्तहिं देहि भारी ॥

(५१)

त्रैलोक्यजीवजननीकुचकुम्भ दोऊ,
सामान्य नारि अनुमानि कहै न कोऊ।
काव्यप्रयोक्त तिहि कारण मैं न गावौं,
वात्सल्यभाव निज काढि कहाँ दुरावौं॥

(५२)

नक्षत्र व्योम विच रैनि भये दिखाही,
कल्याणि पै तव कुशेशयकण्ठ[७] माही।
कार्तस्वराभरण[८] मध्य सदा समाना,
तारास्वरूप सितरत्न प्रकाशमाना॥

१—बालसूर्य्य की मनोहर और अरुणरंगी किरणे, २—कुसुमित कमल की कोमलता, ३—सुवर्ण, ४—कदलीस्तम्भ, ५—मैथुन, ६—सौन्दर्यतारूपी सरिता, ७—कमल का कोमल दंड ८—सुवर्ण के अलंकार।

(५३)

आभीर नीर महँ ज्यों रवि सिद्धि साधै,
त्यों जो सरोज निशि में शशिहू अराधै।
तो पाय भाग्यवश कोमलताधिकाई,
होवै त्वदीय कर को उपमान आई।।

(५४)

विम्बाफलाल्प समयोत्तर शुष्क होवै,
आरक्तता नवलपल्लव नित्य खोवै।
तातें तवोष्ठ उपमा निज युक्ति द्वारा,
ढूंढ़ौं यदि श्रम वृथा मम होहि सारा।।

(५५)

चन्द्रप्रभा मलिन होहि विलोकि जाही,
शुभ्रामृत स्वगतगर्व तजै सराही।
शर्वाणि सो तव महोज्ज्वल[१] मदहासा,
नाशै मदीय विविध ज्वरज्वालत्रासा।।

(५६)

राकेन्दु धोय स्वकलङ्क भले प्रकारा,
शोभासमुद्र महँ स्नान सहस्रवारा।
कै कै कढ़े जिहि विलोकत शक मानै,
देवि त्वदीय मुख सो कहु को बखानै।।

(५७)

फुल्लारविन्द विजयी दृग देवि केरे,
टेढ़े कटाक्ष तिनके विशिखेव[२] प्रेरे।
देखि व्यथाकुलित होत दुरै दुखारे,
हैं जे हमारि रुज जेतिक होनहारे।।

(५८)

भ्रूवक्रभाव तव देवि अनङ्गचापा,
लज्जावश त्वरित टूट सही न दापा।
मेरे मते मदन ता दिन ते सकाई,
कोदण्ड[३] पुष्पमय कीन गुणी बुलाई।।

१—महा उज्ज्वल, २—विशिख (बाण) के समान, ३—धनुष।

(५९)

ताटकलोललहरी जननी तिहारी,
सौन्दर्यसारसुखमा उपमानवारी।
प्रातप्रभासमय मो तनतापटारी,
देवै शुचिस्मरण आपन विघ्नहारी॥

(६०)

पीवै शताब्द[1] दश धूम धुरीणधारा,
व्यापार और तजि जो नित अन्धकारा।
त्वत्केशपाश उपमा तिहिकी भवानी,
देवै सशक तउ कोविदवर्गवानी॥

(६१)

सेवा महान् चिरकाल करै सनेमा,
होवैं प्रसन्न सुर अन्य विलोकि प्रेमा।
जातै परन्तु तव सम्मुख सिद्धि सारी,
आवै तुरन्त यह रीति इहै निहारी॥

(६२)

दै दै यथेष्ट फल भक्तन को सदा ही,
अत्यन्त शुभ्र यश पूरि अकाश माही।
कीन्ह्यो स्वय तुमहि सूचित सर्वकाहीं,
गाये चरित्र मम दुख विचित्र जाही॥

(६३)

इच्छा नितान्त[2] जब तेरिहि या प्रकारा,
काहे न जाय जग धाय त्वदीय द्वारा।
मोको भवानि येहिते अतिही दृढाशा,
देहौ चहौं जु इमि बोलि कहौं प्रकाशा॥

(६४)

होवै महाजन निज स्तुति ते मरोषा,
जानौं न सो यह न लागत मोहि दोषा।
द्वारे परन्तु सुनि याचक दीन वानी,
देवै न देवि कहु को कछु ताहि आनी॥

१—अब्द सवत्सर वर्ष, २—अत्यन्त।

(६५)

भक्तेप्सित[1] त्वरित दान विधान केरे,
दृष्टान्त जो न जग होति अजौं घनेरे।
ताको त्वदीय विनती करि देवि तारा,
इच्छानुकूल वर माँगत बारबारा॥

(६६)

सत्स्तोत्रकार विधि इन्द्र गिरीन्द्र[2] वासा,
अर्थीष्टदान[3] महँ दिव्यदया विकासा।
त्रैलोक्य व्याप्त यश देवि कहौ विचारो,
होवै यथार्थ तुलना किहिते तिहारो॥

(६७)

हस्तप्रसारि अरु बोलि विनम्रवानी,
दण्डप्रणाम शिरसा[4] करि इन्द्ररानी।
सीमतदेश[5] महँ त्वत्पदधूरि लाई,
अत्यन्त होति कृतकृत्य प्रमोद पाई॥

(६८)

जै नम्रमाथसुरनारिन[6] अंग गोरे,
देवै बनाय जनु कुंकुमरंग बोरे।
बालार्कदीप्ति निज सन्मुख दीन सोई,
देवि त्वदंघ्रि[7] मम संकट देहि खोई॥

(६९)

भोगी[8]चितारज पिशाच नृमुण्डहारा,
ऐसो अमांगलिक शंकर साज सारा।
ईशान पाय सहवास अहो तिहारा,
मांगल्यमूलमय होहि महा अपारा॥

१—ईप्सित अभीष्ट, २—हिमालय, ३—अर्थी याचक, इष्ट अभीष्ट, ४—सिर से, ५—सीमन्त-केश-वेश, ६—नवाये है माथ जिन्होने ऐसी देवांगनाओं को, ७—चरण, ८—सर्प।

(७०)

आधार लोक त्रय की सुविकारहीना,
मोहान्धकार कहँ नाशन मे प्रवीना।
कालैव क्रुद्ध पशुवारिन पाय सौहीं[1],
सन्तापदाप अपहारिनि नौमि तोही॥

(७१)

चैतन्य तूहि चतुरा गुणज्ञानखानी,
सौन्दर्यसार इक तू सबमें समानी।
सत्या तुही सतत सौम्यतर स्वभावा,
लोकोत्तर प्रखर तेरहि है प्रभावा॥

(७२)

वाणी तुही बुधि तुही वरब्रह्मरूपा,
तूही विशिष्ट वरदायिनि है अनूपा।
तूही विशाल परमेश्वरि तूहि थोरी,
वृद्धा युवा शिशु तुही शुचि श्याम गोरी॥

(७३)

भावी व्यतीत अरु सम्प्रति[2] काल ज्ञाता,
तूही सतोरजतमोगुण पूर्णगाता।
आद्यतहीन अखिलेश्वरि तूहि एका,
है तूहि जाहि जपते तपसी अनेका॥

(७४)

नित्या तुही निखिललोकनिवासदेहा,
स्वर्गापवर्गसुखदा सबसिद्धिगेहा।
सृष्टिस्थितिप्रलयकारिणि तूहि माया,
तूही दिवारजनिकारण तूहि दाया॥

(७५)

विद्या तुही विधु[3] दिनेशहु तूहि सोहै,
ब्रह्मा हरीश यहँ तेरहि शक्ति मोहै।
दिव्यप्रकाशमय तूहि तपप्रसादा,
देवै तुही जननि तूहि हरै विषादा॥

१—सन्मुख। २—वर्तमान। ३—चन्द्रमा।

(७६)

पद्मा[१] तुही परमरम्य शिवा[२] विधात्री,
तूही जलस्थलथिरा जगमुक्तिदात्री।
तन्त्रोक्तमन्त्रमय तूहि श्रुति प्रमाना,
त्रैलोक्यगम्यगति तेरिहि सुप्रधाना॥

(७७)

तूही धरा धन धुरन्धर धर्मधारा,
सत्कर्म सामयजुऋग्वरवेदसारा।
आकाश तूहि पय पावक तूहि बाता[३],
सर्वत्र विश्वबिच व्यापक तूहि माता॥

(७८)

तेरी कृपा बिन तवस्तुनिवृत्त माही,
लागै न चित्त श्रमजात सबै वृथा हीं।
ताते शिवाजु कछु मो मुख ते कहावो,
स्वीकार तासु करि देह व्यथा बहावो॥

(७९)

अत्यल्पअर्भक[४] समान बिना विचारे,
गाये सुने जु गुणग्राम शिवा तिहारे।
देहौ हमैं अधिक जो अबहूँ सिखाई,
सूक्ति[५] प्रयोग करिहौं तव हेत माई॥

(८०)

कीन्हे महत्त्वपरिपूरितकाज नाना,
दीन्हें अनन्त अबलौं अभयप्रदाना[६]।
मच्चित्तवृत्ति अनुलक्षितकृत्य माही,
संकोच तोहि भुवनेश्वरि योग्य नाही॥

(८१)

नाना उपाधि जिन दैत्यन कीन्ह मोऊ,
दीन्ह्यौ पठाय सुरलोक बचे न कोऊ।
दाया तिहारि जब दुष्टनहू न त्यागै,
तौ भक्तभाग्य फिरि को कहि पाग लागै॥

१—लक्ष्मी, २—पार्वती, ३—पवन, ४—बालक, ५—सु उक्ति—अच्छी उक्ति, ६—अभयदान।

(८२)

कालानुरूप[1] अवलोकि न यत्न मेरो,
ह्वै हैं सहास्य मुख नास्तिकवर्ग केरो।
मोको परन्तु तजि और उपाय माता,
भायो तव स्तवन मङ्गलमूलदाता ॥

(८३)

त्वच्छक्तिहीन[2] भुवनेश्वरि कौन देवा,
को को न कीन करजोरि तिहारि सेवा।
चाहै वृथा वनहि औरन केरि गाथा,
सोहै परन्तु विनती तव नाम साथा ॥

(८४)

स्वस्वेष्टदेव गुणवर्णन बात दूजी,
काको परन्तु विन त्वत्पद आश पूजी।
दैत्येन्द्र शम्भु महिषासुर त्रेर आये,
काहे न और सुर शस्त्र सुधारि धाये ॥

(८५)

त्वद्वदना करि सगद्गदकण्ठवानी,
पैहौं अभीष्ट निज जो न गिरीशरानी।
जैहौं कहाँ शरण श्रेष्ट विहाय तेरी,
देखौ विचारि करुणावति मातु मेरी ॥

(८६)

योगेश्वरी विपुल वैभवदा[3] सुकेशी[4],
दिग्वस्त्रयुक्त[5] अतिउच्च उरोजदेशी[6]।
हे भक्तकल्पलतिका जगमातु काली,
देरी दुराय हनियै मम व्याधिव्याली ॥

१—आजकल जैसा समय लगा है वैसा, २—त्वत्शक्ति व त्वच्छक्ति, ३—बहुत वैभव को देनेवाली, ४—अच्छे हो केश जिसके, ५—दिगम्बर, ६—अत्यन्त उच्च है कुचप्रदेश जिसका।

(८७)

शर्वाणि त्वच्चरण चारु सरोज माही,
भृंगायमान[1] जन जे तिनको सदाही।
विद्याविवेक बुधि वित्त विशिष्ट भोगा,
आवै प्रसन्नमन सर्वंडराहि रोगा॥

(८८)

विष्णु त्रिनेत्र विधि जासु न अन्त पावा,
ताकी कथा कथन मे चित मैं लगावा।
हे हे भवानि यह मोर महा ढिठाई,
पै हौं करौं कहु न त्वत्पदप्रीति जाई॥

(८९)

तेरी कृपा तनिक होतहि वागधारा[2],
काढै कवीन्द्र मुखमार्ग ते अपारा।
देवी प्रसाद फिर जा कहँ चित्त लाई,
सौभाग्य तासु शतशेष सकै न गाई॥

(९०)

त्वत्पादपद्म युगचिन्तन चित्त लाई,
कीन्ह्यो न आजु लगि मानुष देह पाई।
लीन्ह्यौ मुहूर्त[3] भरि मातु न नाम तेरो,
चण्डि क्षमा करहु मो अपराध मेरो॥

(९१)

लोकप्रशंसित महौषधि निर्विकारी,
खाये जऊ प्रथम रोग असाध्य भारी।
रोगी तऊ न तब लौं गुण तासु गावै,
जौ लौं शरीर रुज दुःख न मो नसावै॥

(९२)

जौ लौं सुनी शिशु[4] सखागण सग पाई,
तौ लौं न मातु पहँ रोवत आय धाई।
देवै परन्तु जननी तउ अंक ताही,
देवै न दोष हरनी दुसह व्यथा ही॥

१—भ्रमर के समान आचरण करनेवाले, २—वाग (शुद्ध संस्कृत वाक्) वाणी, ३—पल, ४—बालक।

(९३)

सौन्दर्यमान वर बालक शुद्धदेहा,
चाहैं समस्त नर नारि मने सनेहा ।
जे रूपहीन नितरोगिहि लेन काही,
को है समर्थ बिन मातु त्रिलोक माही ॥

(९४)

पीयूषपूर्णदृग तू जननी हमारी,
सन्तापतप्त तन बालक मैं दुखारी ।
सम्बन्ध सत्य अस देवि हिये विचारी,
कीजै यथा उचित मातु हमैं निहारी ॥

(९५)

अन्यान्य देवप्रतिमा[1] यहि लोक माही,
पूजी कथंचित्क्वचित प्रीति समेत जाही ।
पै भक्तियुक्त तव मूरति ग्राम ग्रामा,
सेवै न जे असि न एकहु नष्टनामा ॥

(९६)

स्नेहाम्बुयुक्त[2] मम हृत्पद अल्पताला,
तत्पद्मरूप शतपत्रप्रसूनमाला ।
अंगीकृत त्रिपुरसुन्दरि ताहि कीजै ,
मेरी विनीत विनती पर ध्यान दीजै ॥

(९७)

वीरा समस्त-जन-रक्षण को उठाई,
रक्षा हमारि करिये अब वेगि आई ।
स्वाती सरोष लगि चातक जीव जाई,
भूलै न याहि जगदम्ब विलम्ब लाई ॥

(९८)

अभ्र[3] प्रसन्न जिन याचक कीन्ह जोई,
पायो तुरन्त तिन देखि यथेष्ट सोई ।
जो मौन धारि तजिहौ जब आशु मोही,
हा हा मनुष्य कहिहैं कह मातु मोही ॥

१—प्रतिमा , २—स्नेहरूपी जल से पूरित, ३—अंग तन ।

(९९)

देखी जिती जननि त्वत्स्तुति लोक माहीं,
मत्पद्य तुल्य तिनकी तिलमात्र नाहीं।
हे ईश्वरी तदपि स्वेच्छित काज जानी,
लीजै सुवारि यह युक्त अयुक्त बानी॥

(१००)

एती कही स्तुति शिवा सुनिकै हमारी,
आरोग्य देहु दलि दुखद व्याधि सारी।
सप्रेम हे भगवती महि माथ धारी,
माँगौ हहा यहहि हस्तयुग प्रसारी॥

काव्य-मञ्जूषा

भूमिका

गत कई वर्षों से पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी की स्फुट कविता हिन्दी तथा संस्कृत के मुख्य मुख्य समाचार-पत्रों और मासिक पुस्तकों में, समय समय पर, बराबर प्रकाशित होती आई है। पण्डित जी की कविता में जो रस और जो अर्थ-गौरव रहता है, वह काव्य-रसिकों से छिपा नहीं है। उनकी सरस और मनोहारिणी कविता की प्रशंसा नागरी-प्रचारिणी सभा, संस्कृत-चन्द्रिका, हिन्दी-बंगवासी, राजपूत और हिन्दोस्थान आदि ने मुक्त-कण्ठ से की है।

ऐसी मनोहर कविता को एकत्र करना परमोपयोगी समझकर, आज तक, पण्डित जी के जितने कविता-रत्न प्रकाशित हो चुके हैं उन सबका संग्रह, हमने, इस पुस्तकरूपी मञ्जूषा में रख दिया है। जो लोग संस्कृत नहीं जानते, उनके लिए, पण्डित जी का ही लिखा हुआ संस्कृत-कविताओं का भावार्थ भी हमने, हिन्दी में, सन्निविष्ट कर दिया है। आशा है, कविता के प्रेमियों को, यह संग्रह रुचिकर होगा।

जयपुर,
१५ मार्च, १९०३

जैन वैद्य

काव्य-मञ्जूषा

१—शिवाष्टकम्

(संस्कृतचन्द्रिकायास्तृतीयखण्डस्य सप्तमसंख्यायां प्रकाशितम्)

(१)

शीतांशुशुभ्रकलया कलितोत्तमाङ्गं
ध्यानस्थितं धरणिभृत्तनयार्चितं तम्।
कालानलोपमहलाहलकृष्णकण्ठं
विश्वेश्वरं कलिमलापहरं नमामि ॥

चन्द्रमा की शुभ्रकला से सुशोभित है शिरोभाग जिनका, योगध्यान में मग्न है जो, पार्वती ने पूजन किया है जिनका, कालानल के समान दुर्धर हलाहल से कृष्णवर्ण हो गया है कण्ठ जिनका, कलि के मल का नाश करनेवाले ऐसे विश्वेश्वर को हम नमस्कार करते हैं।

(२)

गायन्ति यस्य चरितानि महाद्भुतानि
पद्मोद्भवोद्भवमुखाः सततं मुनीन्द्राः ।
ध्यायन्ति यं यमिनमिन्दुकलावतंसं
सन्तः समाधिनिरतास्तमहं नमामि ॥

जिनके अद्भुत चरित्रों को नारदादि मुनीश गान करते हैं, समाधिस्थ योगिजन जिनका ध्यान करते हैं, यमादि योग के अंगों में प्रवीण उन चन्द्रशेखर शंकर को नमस्कार है।

(३)

त्रैलोक्यमेतदखिलं ससुरासुरञ्च
भस्मीभवेद्यदि न यो दययार्द्रचित्तः।
पीत्वाऽहरद् गरलमाशु भयं तदुग्रं
विश्वार्थैकनिरताय नमोऽस्तु तस्मै ॥

विश्व की रक्षा में विरत उस परम पुरु को हमारा नमस्कार है, जो, दयार्द्र होकर, गरलपानपूर्वक, तज्जनित भय यदि दूर न करता तो सुरासुरसहित यह सारा ससार भस्म हो जाता।

(४)

पापप्रसाधनरता दितिजा अपीन्द्र
सद्यो विजित्य सुरधामधराधिपत्यम्।
यस्य सादवललेशवशादवाप्ता-
स्तस्मै ममास्तु विनति परमेश्वराय ॥

परम पापिष्ठ राक्षस भी जिसके किंचिन्मात्र प्रसाद को पाकर, इन्द्र को परास्त कर, सुरलोक के अधीश्वर हो गये, उस परमेश्वर को हमारा प्रणाम है।

(५)

नो शक्यमु तपसाऽपि युगान्तरेण
प्राप्तु यदन्यसुरपुङ्गवतस्तदेव।
भक्त्या सकृन्नततयैव सदा ददाति
यो नौमि नम्रशिरसा च तमाशुतोषम् ॥

युग के युग उग्र तपस्या करने पर भी, जो वस्तु बडे बडे अन्य देवताओं से नही मिलती, उसे भक्तिभावपूर्वक एक वार नमस्कृतिमात्र करने से जो देता है, उस आशुतोष शंकर को हम सिर झुकाकर नमस्कार करते हैं।

(६)

भूतिप्रियोऽपि वितरत्यनिश विभूतिं
भक्ताय य फणिगणानपि धारयन् सन्।
हन्ति प्रचण्डभवभीमभुजङ्गभीतिं
तस्मै नमोऽस्तु सतत मम शङ्कराय ॥

भूति (भस्म) प्रिय* होकर भी जो अपने भक्तों को अहर्निश विभूति (ऐश्वर्य) वितरण करता है, सर्पों के समूह को धारण† करके भी जो भव-

---

* जो वस्तु जिसे प्रिय है वह औरों को नही देता, परन्तु यहाँ उसका विपर्यय देख पडता है, यह विलक्षणता है।

† अपने घर में भरे हुए साक्षात सर्पों के भय का प्रतीकार न करके तज्जनित दूसरों के भय का दूर करने के लिए दौडना विचित्रता है।

सागररूपी भीषण भुजग के भय को नाश करता है, ऐसे परम कल्याणरूपी शकर को हमारा सतत प्रणाम है।

(७)

येषा भयेन विबुधा रजनीचराणा
नो तस्थुर्हिममहीध्रगुहागृहाणि ।
हत्वा ददौ समिति तानपि शैवधाम
त्वत्त परोऽस्ति परमेश्वर ! को दयालुः ॥

जिन राक्षसो के भय से हिमालय के गुहागृहो को देवता लोग न छो सके, उन्हें भी समर में सहार करके आपने अपने धाम को पहुँचाया ! हे परमेश्वर ! आपसे अधिक दयालु और कौन है ?

(८)

अर्चा कृता न, तव नाम हर ! स्मृतन्न
नो भक्तवत्सल ! कृत तव किञ्चिदन्यत् ।
वीक्ष्य स्वपादकमलोपनत तथाऽपि
मा पाहि कारुणिकमौलिमणे ! महेश !

हमने न तो कभी आपका पूजन किया, न कभी आपके नाम का जप किया, न और ही कुछ हमसे हो सका; तथापि, हे कारुणिकश्रेष्ठ ! हे भक्तवत्सल शकर ! अपने चरणकमलों में नत देख आप हमारा रक्षण कीजिए।

(९)

महावीरप्रसादो यो द्विवेदिकुलसम्भव ।
स भक्त्या परया युक्तश्चकारेद शिवाष्टकम् ॥

द्विवेदिकुल में उत्पन्न हुए महावीरप्रसाद ने, परमभक्ति-युक्त होकर, इस शिवाष्टक की रचना की।

२—प्रभात-वर्णनम्

(सस्कृतचन्द्रिकायास्तृतीयखण्डस्य द्वादशसख्याया प्रकाशितम्)

(१)

ममाऽचिरात् सम्भविता समाप्ति
शुचा हृदीतीव विचिन्तयन्ती।
उषःप्रकाशप्रतिभामिषेण
विभावरी पाण्डुरता बभार॥

'थोडी ही देर मे मेरा अन्त हो जायगा' इस प्रकार हृदय में मानो चिन्तना करती हुई रात्रि ने प्रभात की अरुणाई के मिष, शोक से, पाण्डुरता को धारण किया।

(२)

मृगाधिपस्यागमनेन सर्वे
यथाल्पसत्वा विपिन त्यजन्ति।
तथा भयेनेव विभाकरस्य
तारागणा लोपपरा बभूवु॥

सिह के आते ही जैसे और सब जगली जीव, जगल को छोड, अन्यत्र चले जाते है, वैसे ही सूर्य के भय से भीत-से हुए तारागण धीरे धीरे लोप होने लगे।

(३)

श्यामा सिषेवे चतुरोऽपि यामान्
या वीक्ष्य तस्या पतन शशाङ्क।
मन्ये महाशोकसमाप्लुताङ्ग
स पश्चिमाम्भोधिजले पपात॥

जिस श्यामा (रात्रि तथा षोडशवार्षिकी नवला कामिनी) का बराबर चार पहर पर्यन्त सेवन किया उसी का नाश होना देख, अत्यन्त शोकाकुल होकर, हमारी समझ मे, यह चन्द्रमा, पश्चिम समुद्र में डूब मरा।

(४)

अहर्पतिनोऽद्य महसोदयाद्रि–
सिंहासनस्थो भविता क्षणेन।

ति प्रभाते विरुतिच्छलेन
द्विजा दिनेशस्य जगुर्यशांसि ॥

अपने तेज से अलङ्कृत होकर, सूर्य अब शीघ्र ही उदयाचलरूपी ऊँचे सिंहासन पर विराजमान होगा, यह जानकर, द्विज (पक्षी तथा ब्राह्मण) अपनी चहचहाहट के बहाने मानो उसका यश गान करने लगे।

(५)

क्व गामनादृत्य निशान्धकारः
पलाय्य पापः किल यास्यतीति ।
ज्वलन्निव क्रोधभरेण भानु-
रङ्गाररूपः सहसाऽऽविरासीत् ॥

'रात्रि-सम्बन्धी यह दुष्ट अन्धकार, हमारा अनादर करके, अब कहाँ भग कर जायगा ?' इस प्रकार भावना करता हुआ, क्रोध से अंगार के समान जलता-सा, लाल सूर्य अकस्मात् निकल आया ।

(६)

दृष्ट्वा पतन्तं रविबिम्बमारात्
दिवस्तमिस्रेण तिरोबभूवे ।
महात्मनां सम्मुखमस्थितो हि
कियत्क्षणं स्थास्यति दुर्विनीतः ?॥

सूर्य के बिम्ब को वेग के साथ आकाश में निकलते देख अन्धकार लोप हो गया। ठीक है, महात्माओं के सम्मुख दुर्विनीत मनुष्य कितनी देर ठहर सकेगा ?

(७)

कुशेशयैः स्वच्छजलाशयेषु
वधूमुखाम्भोजदलैर्गृहेषु ।
वनेषु पुष्पैः सवितुः सपर्या
तत्पादसंस्पर्शनया कृताऽऽसीत् ॥

स्वच्छ जल जिनमें भरा हुआ है ऐसे जलाशयों में कमलों ने, घरों में स्त्रियों के मुखरूपी अम्भोजदलों से, वन में नाना प्रकार के फूलों से, उसके पाद (किरण) स्पर्श-द्वारा सूर्य की पूजा सी हो गई ।

(८)

प्राप्योदय कजकोशलीनान्
सद्यो मुमोचालिगणान् दिनेश ।
यद्वैभवे सत्यपि दैन्यदग्धान्
दु खार्णवात् के न समुद्धरन्ति ? ॥

रात को कमलो में जो भ्रमर बन्द हो गये थे, उदय होते ही सूर्य ने उनको मुक्त कर दिया। सच है; विभव प्राप्त होने पर, दीन जनो को आपत्ति-सागर से कौन नही उद्धरण करता ?

(९)

त्वया समस्त तिमिर निरस्त
कृतो महानुग्रह ए देव ?
खगा इद वोधयितु रविन्नु
तदुन्मुखा नीडगृहेषु तस्थु ॥

'तूने सारे अन्धकार का नाश कर हमारे ऊपर महान् अनुग्रह किया।' क्या इस प्रकार सूर्य्य को कहने के लिए अपने-अपने घोसलो में उसकी ओर मुख करके ये सब पक्षी बैठे है ?

(१०)

गावो वन फु ललता द्विरेफा
द्विजाश्च सन्ध्यासमुपासनार्थम् ।
कृषीवला स्वेष्टकृति प्रकर्तु
जग्मुर्दिनेशाय नतिं विधाय ॥

सूर्य को नमस्कार करके, गायें इत्यादि पशु जगल को, भ्रमर फूली हुई लताओ को, ब्राह्मण सन्ध्या करने को, और कृ कार अपना-अपना कृ -कार्य देखने को गये।

(११)

इति तिमिरमुदस्य व्योममार्गेण पश्यन्
निखिलजनसमूहान् स्वस्ववृत्तौ विलग्नान् ।
मुदित इव विरम्यान् शुक्लवर्णं विभर्ति,
तमहमपि च नत्वैतस्य पूर्ति तनोमि ॥

इस प्रकार अन्धकार का उच्छेद करके, आकाशमार्ग से सब लोगों को अपने अपने कार्य में लगे हुए देख, मुदित-सा हुआ सूर्य्य, शुक्लवर्ण धारण करता है। अत हम भी उसको प्रणाम करके अब इसे समाप्त करते है।

३—अयोध्याधिपस्य प्रशस्तिः

(संस्कृतचन्द्रिकायाश्चतुर्थखण्डस्य अष्टमसंख्याया प्रकाशिता)

(१)

श्रीमत्प्रतापमहिपाल! विशालभाल!
काव्यार्थचिन्तककवीश्वरकण्ठमाल!
नित्य प्रजाजनविपत्तिविनाशकाल!
भूयाः सदा सुखसमृद्धिसुतान्वितस्त्वम् ॥

काव्यार्थ का चिन्तन करनेवाले कवीश्वरों के कंठमाल, नित्यप्रति प्रजा की विपत्ति नाश करने मे कालरूप; हे विशालभाल! श्रीप्रतापनरेश! आप सदैव सुख से, ऋद्धि-सिद्धि से तथा पुत्रादि से युक्त रहें!

(२)

विद्वल्ललाम! भुवि विश्रुत! पूर्णकाम!
विश्वोपकाररत! सर्वगुणैकधाम!
स्वप्रान्त 'कौंसिल' सभासदसत्प्रदीप।
कीर्तिर्दिवं व्रजतु ते सततं महीप!

आप विद्वानों में श्रेष्ठ हैं; आप सारे संसार में विख्यात हैं; आपकी सकल कामनायें पूरी हुई हैं; आप विश्वोपकार में सदा रत रहते हैं; आपमें सारे गुण वास करते हैं; आप अपने प्रान्त के "कौंसिल" के सभासदों में दीपक के तुल्य प्रकाशित हैं। हे राजन्! आपकी कीर्ति देवलोकपर्यन्त विचरण करे—यही हमारा आशीर्वाद है।

(३)

वाल्मीकिजा, कविकुलस्तुतराजितान-
पत्नी, नृपसुधनिधादिपूज्यमाना।

जीर्णाखिलाङ्गकवितावनिता चिरेण
त्वा प्राप्य वैद्यमिव नीरुजता दधाति ।।

वाल्मीकि मुनि की कन्या, कवियो ने जिसकी स्तुति की है ऐसे कालिदास की पत्नी, तथा सुबन्धु धनिकादिपडितो की माता, जीर्ण अगों को धारण करनेवाली यह कवितारूपी कान्ता, सद्वैद्य के समान आपको पाकर, फिर हरी-भरी हो गई है ।

(४)

या 'के-सि-आइ-इय' इत्यतिमानमूला
दत्ता प्रशस्तपदवी भवते च राज्ञ्या ।
कार्तस्वरेण सह रत्नमिवाविभाति
सा कोसलेश ! तव नामसमागमेन ।।

हे कोसलेश ! आपको जो के० सी० आई० ई० की अति माननीया उत्तम पदवी रानी ने प्रदान की है वह, सुवर्ण के साथ रत्न के समान, आपके नाम के सयोग से शोभा पाती है ।

(५)

त्वा वीक्ष्य दाननिरत सतत नरेश !
लज्जाविनम्रवदन सुरपादप स ।
शके सुमेरुगिरिगह्वरमाविवेश
नो चेत्, कथ न भुवि लोचनलक्ष्यमेति ?

हे नरेश ! आपको सतत दाननिरत देखकर, लज्जा से अपना सिर नीचा करके, वह जगत्प्रसिद्ध कल्पवृक्ष, हमारे जान, मेरुपर्वत की कन्दरा में छिप गया है। यदि ऐसा न होता तो वह भूमडल में दिखाई क्यो न देता ?

(६)

दान, दयाघन ! दया, नयनैपुणञ्च
शास्त्रे गति जनहिताचरणे रति ते ।
दृष्ट्वा दिलीपरघुरामकुशाजमुख्यान्
भूपांश्च न स्मरति पूर्वभवानयोध्या ।।

हे दयाघन ! आपकी दया, आपका नीतिनैपुण्य, शास्त्र में आपकी गति तथा लोकहित में आपकी प्रीति को देखकर आपकी राजधानी, यह अयोध्या, दिलीप, रघु, रामचन्द्र, कुश, अज आदि पहले के राजाओ को भूल गई !

(७)

स्वप्नेऽपि न द्विजपति त्वमधः करोषि
माया तनोषि च महीप ! न शत्रवेऽपि ।
न त्वं समाक्षिपसि देव ! वृषं कदापि !
तेनोपमा भवतु ते कथमच्युतेन ?

हे महीप ! आप स्वप्न में भी द्विजपति (ब्राह्मण) का तिरस्कार नहीं करते; आप अपने शत्रुओं के साथ भी माया नहीं रचते; आप वृष (धर्म) का कभी व्याघात नहीं करते, अतः विष्णु से हम आपकी किस प्रकार उपमा दें ? क्योंकि, विष्णु द्विजपति (गरुण) को अधः (नीचे) करते हैं अर्थात् उस पर सवार होते हैं; सदैव माया रचा करते हैं, तथा वृष (वृषभासुर नाम के दैत्य) का घात भी उन्होंने किया है।

(८)

दीपाङ्कुरैर्दिनकरस्य करभिपूर्ती
रत्नाकरस्य भरणञ्च तुषारतोयैः ।
वैचित्र्यमावहति नाथ ! यथा जनानां
कीर्तिस्तथैव कविभिस्तव गीयमाना ॥

एक छोटे से दीपक को जलाकर सूर्य के समान प्रचण्ड प्रकाश उत्पन्न करने का यत्न करना अथवा ओस के कणों से समुद्र को भरने जाना जिस प्रकार लोगों को उपहासास्पद जान पडता है—कवियों के द्वारा आपकी कीर्ति का गान किया जाना भी वैसे ही है।

(९)

अत्यन्तविस्तृतपवित्रयशस्त्वदीयं
सर्वासु दिक्षु परितः स्वतनु तनोतु ।
येनाखिलप्रवरपण्डितदत्तमान !
तुष्टिं प्रहृष्टहृदयः परमां प्रजामि ॥

अच्छे अच्छे पण्डितों को मान देनेवाले हे राजन् ! आपका अत्यन्त विस्तृत यश सब दिशाओं में चारों ओर फैले; जिससे, अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक, हमारा हृदय सन्तोष को प्राप्त होवे।

४—भारतदुर्भिक्ष

(११ मार्च, १८९७ के हिन्दोस्थान में प्रकाशित)

(१)

हे रघुराज! लाज भारत की आज रहै किहि भाँती,
अति विकराल काल की भीषण मेरी सुनी न जाती।
नाती पूत मीत ममता तजि भये सुजाति कुजाती;
हा हा कार सुनत लोगन के काकी फटै न छाती?

(२)

गली गली कंगाल पेट पर हाथ दोउ धरि धावै।
अन्न अन्न पानी पानी कहि शोर प्रचण्ड मचावै।
बालक, युवा, जरठ, नारी, नर, भूख भूखि कहि गावै;
अविरल अश्रुधार आँखिन ते बारबार बहावै॥

(३)

अस्थिमात्र जिनके शरीर हैं ऐसे बालक नाना,
गोद माहिं माता की लिपटे रोवत कण्ठ सुखाना।
माँगे मिलै न भीख माय कहँ किहि विधि राखहि प्राना,
विह्वल विकल विपन्न पुकारति हा! हा!! हा भगवाना!!!

(४)

पति से पृथक भई नव पतनी मातु सुता सँग त्यागी,
पिता पुत्र तजि हाय! बाय मुख माँगत टूक अभागी।
जननी प्रान तुल्य शिशु बेंचत इक दिन भोजन लागी,
त्राहि कहत टोडीदल त त फिरै प्रजा सब भागी॥

(५)

पति मुख देखि देखि पतनी अति बोलत आरत बानी,
"नाथ देहु मोहि लाय आज कछु नातर वयस सिरानी"।
सन्ध्या समय रिक्तकर पति कहँ लखि बहु रोदन ठानी,
सिर धुनि, विलपि, मीचु के मुख में कुलकामिनी समानी॥

(६)

"मरे मरे अब अवशि आजु" इमि बोलत लागन प्रानी,
वस्त्रविहीन दीन दुख रोवत जानत सूम न दानी।

सुतहि फेंकि माता जठरानल-जरी भयी अकुलानी,
मा ! मा !! मा !!! पुकार शिशु केरी नेकु न मन में आनी ॥

(७)

लोचन चले गये भीतर कहँ कटक सम कच छाये,
कर में खप्पर लिये, अनेकन जीरण पट लपटाये।
मास विहीन हाड की ढेरी भीषण भे बनाये,
मनहु प्रबल दुर्भिक्ष रूप बहु धरि विचरत सुख पाये ॥

(८)

शक्ति नहीं जिनके बोलन की तकि तकि मुख फैलावैं,
सींक समान पैर लीन्हे वहु रोवत गोबर खावैं।
ठुली खान हेत बेरन की ढूँढत सोउ न पावैं,
पग पग चले गिरैं पग पग पर आरत नाद सुनावैं ॥

(९)

"अरे जाहु कगाल भवन" यह सुनत अधिक दुख पावै।
कहें वहाँ पगु धरतहि हम कहँ कर धरि दड भगावैं।
रहन देहि दिन द्वैक कदाचित आ हि पाव खिलावैं।
महाराज ! कहिए किहि विधि हम अपने प्राण बचावैं ॥

(१०)

मन्द दृष्टि यदि ईश ! भये, जन-दशा न परै दिखाई,
तो लारेन्स मेव ते चश्मा क्यों नहिं लेहु मँगाई?
श्रवण-शक्ति यदि विकृत, लोककृत विनय न परै सुनाई,
केम्प कम्पनी ते इक नलिका-यन्त्र देहि पठवाई ॥

(११)

तुम सर्वज्ञ सर्वदर्शी प्रभु यह हमार लघुताई,
अनुचित कहहिं बार बहु तुम पहँ जो नहिं विधि दुख पाई।
करैं कहा फिरि हे करुणानिधि ! विपति सही नहिं जाई।
मृतक ढेर के ढेर होत नित सुत पितु भगिनी भाई ॥

(१२)

मातु पिता सुत सुता मारि जिमि ज्यों मृग हरि खाई,
प्रीति सहित परजा प्रति जिन मृदुल वचन ज्यों बोलै।

प्रात काल उठि नवल कामिनी द्वार जासु जगि खोलैं,
रुद्ध भवन तहँ घूक कूक करि प्रमुदित इत-उत डोलैं ॥

(१३)

अतिहि कराल काल के मुख ते किहि किहि कौन बचैहे,
मृतक देखि पति पुत्र प्राण सम नारी गरल अचैहे।
बैठि उलूक मन्दिरन ऊपर बाँधी ध्वजा लचैहे,
वायस श्वान शृगाल पैठि घर हाहाकार मचैहे ॥

(१४)

अबै कहा है भयो कछुक दिन बीते नगर अनेका।
मानुष शून्य मरुस्थल ह्वैहैं, जैहैं सब इक एका।
शिवा शोर करिहैं गलियन महँ मोर मारिहैं केका,
बैठि निशंक वापिका तट पै शब्द करैंगे भेका ॥

(१५)

इक दुर्भिक्ष भयंकर तापै मरी मरी चढि आई,
क्षण महँ शत शत जनसमूह कहँ यमपुर देत पठाई।
आज रहे जिन संग काल्हि तिन मरे सुनत घर जाई,
देखैं तहाँ गृद्धगण केरी प्रमुदित बजै बधाई ॥

(१६)

होत कष्ट कितनो यदि एकहु दिन नहिं खाहु अघाई,
सो नहिं छिपो अहै तुमते हे भारतवासी भाई।
फिरि निरन्न नर-नारि हज़ारन हाय हाय जो ाई,
माँगत प्राणदान तिनको तुम कस नहिं करहु सहाई?

(१७)

दौरि दौरि जिन गोद उठावहु लेवहु हिये लगाई,
वारहु कोटि कोटि जिन ऊपर कोहनूर समुदाई।
ऐसे पुत्र रत्न अपने लगि कहहु कबहुँ सुधि आई,
कैसे बचैं बाल उनके जिन भीख न तुमते पाई ॥

(१८)

भरतखण्ड के धनिक धुरन्धर तुम्हैं न कोउ जगावै;
देखत दारुण दशा देश की निशि निद्रा किमि आवै?

लखि परिवार पुष्ट अपनो कह हरी हरीहि दिखावै ?
शोकानल स्वजाति को सपनेहु हाय न हृदय जरावै !

(१९)

प्रिये ! प्रिये ! कहि कण्ठ लगावहु जिनको अति सनमानी,
उन समान लाखौं अनाथिनी तिया नैन भरि पानी।
तजि घर-द्वार अहार हेत बहु बोलत गद्गद बानी,
तिनकी ओर तनिक तो चितवहु करुणा कहाँ भुलानी ?

(२०)

वृटिश सिंह हुंकार यदपि जन-दुख दूर लौं खोवै,
यदपि दुष्ट दुर्भिक्ष कहूँ कहुँ सुख की नींद न सोवै।
तदपि सकल की मिलि सहाय जो कछु कछु विपति विगोवै,
तो न हाय आरत यह भारत अब की गारत होवै॥

५---त्राहि ! नाथ !! त्राहि !!!

(२९ नवम्बर, १८९७ के हिन्दी-बंगवासी में प्रकाशित)

(१)

हे जगदीश ! सीस मैं अपनो कीनि वार महि धारी,
पुनि पुनि पुनि तृण तोरि जोरि कर विनती करत तिहारी।
कोप शान्त करि कान्त रूप धरि हरे ! हरहु दुख भारी,
न तु पाताल प्रवेश करैगो अब यह देश दुखारी॥

(२)

एक नहीं, द्वै नहीं, तीनि नहिं, चारिहु नहिं, वरु नाना,
विपति एक ते एक भयंकर देहु, धन्य भगवाना !
वीर्यहीन अति दीन देश यह तापर पर [illegible],
मृतकप्राय याहि मारन हित परहि न प्रभु [illegible]॥

(३)

नाना रत्न पूरि जिहि माही शोभा जासु बढाई,
पुण्य भूमि प्रख्यात नाम करि सकल कला उपजाई।
प्रभुता जासु सर्व देशन पै प्रथमहिं ते प्रकटाई,
ताही कहँ अरण्य करिबे को प्रभु अब भुजा उठाई!

(४)

स्वकृत मृत्तिकागेह, नेह तजि, बालकहू न नसावैं,
करि रक्षा ताकी उपाय भरि, स्वस्थ देखि सुख पावैं।
तुम सर्वज्ञ शक्ति-संयुत हो, मि महँ गण गावैं,
भाँति भाँति के विशद विशेषण नाम संग तव लावैं॥

(५)

हरे! सोइ तुम पुरुष पुरातन, न्यायी, जगदाधारा,
रम्य बनाय देश भारत कहँ चाहहु ताहि उजारा।
लखि अनर्थ अस जो पै करुणा नहिं तव हृदय बिदारा,
ईश! तुमहिं तजि लाज लेशहू कह कहुँ अन्त सिधारा?

(६)

मर्दन करि मर्याद आपनी मघवा दीन न पानी,
भिक्षा बिनु यमराजभक्ष्य भे सहसा लाखन प्रानी।
रहे कलंक धनी मानी जे तिनहुँ की मिटी निशानी,
करुणा-सागर तऊ नेक तुम करुणा हिये न आनी!

(७)

पानी पानी पानी माँगत थकी विश्व की बानी,
ज्वार, बाजरा, मोठ, मूँग सब जहँ की तहाँ सुखानी।
लेन जाय यदि ऋण कोऊ कहुँ कौड़िहु मिलै न कानी,
अस दुर्भिक्ष देखि लोगन की सुधि-बुधि सबै भुलानी॥

(८)

अन्न अन्न अन्नमन्न पुकारत भगे प्रजा अकुलाई,
गाल, बाल अरु अस्थिजालमय भये शरीर सुखाई।
पुत्र प्राण प्रिय गेह नून लगि गये अनेक बिकाई,
दयानिधे! सोउ हाल देखि तुम पै हिय दया न आई॥

(९)

मिलै घास-भूसा नहिं ढूँढ़े भूसा घर तजि भागे,
रुपिया अश्व, अठन्नी महिषी, बैल चवन्नी लागे।
भये सुजाति कुजाति धर्म बिनु कुलमर्यादा त्यागे,
सुख से सोवत रहे शेष पै तोहू तुम नहिं जागे॥

(१०)

बहुरि भयो भूकम्प भयंकर प्रलय प्रचण्ड समाना,
वङ्ग देश कर अंग-भंग सुनि काको हिय न सकाना?
बड़े बड़े प्रासाद ध्वस्त भे अस्त भये घर नाना,
दण्ड एक लौं खण्ड खण्ड ह्वै गिरि, गिरिकुल घहराना॥

(११)

नगर भव्य भारी शिलांग सम नगरी नगर सह सारा,
भयो पलक महँ भूतलशायी जानत सब संसारा।
घरविहीन अति दीन मनुज जे भये हजार हजारा,
रेत-वृष्टि आदिक उतपातन तिन सब कहँ संहारा॥

(१२)

जहाँ नदी तहँ मरु प्रदेश भो, जहँ मरु तहँ जल-धारा,
फटी भूमि महँ गये अनेकन जन, करि हाहाकारा।
तप्त-धातु के चले फुहारे जिन बहु जीवन जारा,
तबहूँ तुम न धाय गरुड़ध्वज! भुजा उठाय उबारा॥

(१३)

तदनन्तर सीमा-प्रदेश महँ रन अति भीषन गाजा,
सेना साजि साजि जहँ अपनी गये अनेकन राजा।
गुरखा, सिक्ख, पठान, पुरबिया, राजपूत सिरताजा,
सजे फिरंगिन संग जाय तिन रचे धीररस साजा॥

(१४)

होत घोर उत्पात निशानिशि [illegible] के मारे,
"[illegible] महाभारत है इति भारतहि [illegible]।"
[illegible], टारपीडो, [illegible], से बहु दाग दिखारे,
अगनित भट, अगनित नर, नारी, [illegible] यमपुरी पधारे॥

(१५)

भईं भर्तृहीना जे नारी तिनकी क्लेश-कहानी,
सुनि पत्थरहू फटै, और की गति को कहै बखानी ?
होवैं वलि समराग्निकुण्ड महँ झुण्ड झुण्ड नित प्रानी,
तऊ शीघ्र नहिं शान्त कीन रण, ईश ! काह मन ठानी ?

(१६)

इतनेहुँ पर न तोष उर आना आँधी प्रबल चलाई,
भूमिकम्प में शेष रहे जे, ते घर-द्वार गिराई।
अर्द्ध लक्ष लौं मनुज मीचु के दीन्ह्यो अतिथि बनाई,
जानि परै अब हरे ! हमहिं यह रसा रसातल जाई॥

(१७)

यह जो भयो, भयो सो सब, अब मरी मरी है आई,
धारि त्रिविक्रम रूप आदि महँ प्रति दिन बाढत जाई।
मुम्बापुरी, कराची, पूना, सूरत सारी खाई,
तौहू तृप्ति भई याकी नहिं, अधिक अधिक अधिकाई॥

(१८)

ग्राम अनेकन नाम शेष भे याम माहिं कहि 'रामा',
प्राण देहिं शत शत प्राणी नित शून्य होहिं बहु धामा।
रोवैं को ? मनुष्य बिन इत-उत मृतक परे सब ठामा,
सुनत विदीर्ण होय हिय, इतने हृषीकेश ! तुम वामा !!

(१९)

हरिद्वार, कनखल, जालन्धर पहुँचि यक्षिणी मारी,
भक्षण लगी मनुष्यन हा ! हा ! लक्षण अति भयकारी।
बचब कौन विधि हे जगदीश्वर ! अब ध्रुव मृत्यु हमारी,
अस विचारि व्याकुल सब कोई आये शरण तिहारी॥

(२०)

स्वकृत सकल अपराधजन्य जन दण्ड विविध विधि पाई,
हाहाकार पुकारि, जोरि कर, सहस वार सिर नाई।
चाहत नाथ ! नाश मारी कर, ताहि भगावहु धाई,
कीजै लोप कोप अपनो यह, अब दुख सहो न जाई॥

(२१)

किये विलम्ब, प्रलय पूरी इत ह्वै है, तब पछितैहो,
स्वकर बनाये को बिगारि कै, अन्त ताप हिय पैहो।
नहिं, नहिं, अस कदापि करिहो नहि, दया-दृष्टि तुम दैहो,
प्रणतपाल ! यहि काल उबारन, ऐहो, ऐहो, ऐहो ॥

६—कान्यकुब्जलीलामृतम्

(संस्कृतचन्द्रिकाया षष्ठखण्डस्य षष्ठसंख्यायां प्रकाशितम्।)

(१)

सदैव शुक्लारुणपीतवर्ण-
पाटीरपङ्कावृतसर्वभाल !
आभूतलालम्बिदुकूलधारिन् !
हे कान्यकुब्ज-द्विज ! ते नमोऽस्तु ॥

सफेद, लाल, और पीले रंग के चन्दन का खौर जिनके सारे मस्तक पर चढ़ा हुआ है, धोती जिसकी इतनी लम्बी है कि जमीन तक की खबर लेती है; ऐसे हे कान्यकुब्ज देवता जी ! आपको हमारा नमस्कार है।

(२)

बहूनि गायन्ति जनास्तवीय-
पद्यानि* ते बत्तरं कृतानि ।
एतस्य तन्मे मिलनादि गन्ध-
मिद धामन्य [illegible] ॥

आपके पचवाड़े और रसोई के माहात्म्य अपने अपने [illegible] में आपका यश गाया करते हैं। हम भी ऐसे ही हैं, और ऐसे होकर भी हजार-दो हजार [illegible] गीत गाते, केवल नाम-मात्र ही [illegible] पहले

---

* [illegible]।

की शक्ति रखते हैं, अतएव इस स्तोत्र के लिखने में, हमारी चपलता, आप क्षमा कीजिए।

(३)

भवन्ति ते धन्यतमा द्विजा, ये
त्वदीयसम्बन्धमवाप्नुवन्ति।
व्रजन्ति ते ब्रह्मपद तथान्ते
त एव वश निजमुन्नयन्ति॥

जिन पुण्यवान् ब्राह्मणो से आप सम्बन्ध करते हैं, वे धन्य हैं, ब्रह्म-पद उन्ही को अन्त में मिलता है, और वही अपना वश उच्च पदवी को पहुँचाते हैं।

(४)

अहो दयालुत्वमत पर किं?
यथेप्सित द्रव्य द्रविण गृहीत्वा।
निन्द्यानपि त्व विमलीकरोषि
तदीयकन्याकरपीडनेन॥

आप बडे दयालु हैं! इससे अधिक, कहिए, और क्या दयालुता हो सकती है कि, मनमाना रुपया ऐंठ कर आप निंद्य से निंद्यो को भी, उनकी कन्या का पाणिग्रहण करके, (चन्द्रमा के समान) उज्ज्वल कर देते हैं?

(५)

स्वगोत्रजानेव यदा सदा त्व
"किं ष्करै* स्तै"? रिति धिक्करोषि।
तदाऽन्यजातीयजनास्त्वदीया
के नाम नाम वन्द्यैरपि वन्दनीया?॥

"अरे उन घाकरो से क्या मतलब?" इस प्रकार भला जब आप अपने सगोत्रजो ही को धिक्कार करते हैं, तब दूसरी जातिवाले, फिर चाहे महात्मा भी उनका आदर क्यो न करते हो, आपके सामने क्या चीज़ हैं?

---

* घाकरै. प्र.गृनम शाखिनेषै।

(६)

शास्त्रीयवार्तासु भवत्यहो ते
मुखे रसज्ञा किल कीलितेव।
स्थिते तु वैवाहिकभाषणे त्व-
माविष्करोष्यद्भुतवाक्पटुत्वम् ॥

शास्त्रीय वार्ता होने पर आपकी जीभ आपके मुखारविन्द में कीलों से जड़-सी दी जाती है; परन्तु विवाह-काज की बात निकलते ही, अह! आपकी जबान एक मिनट में सौ मील के हिसाब से चलने लगती है!!

(७)

शेषस्तदा किं रसनासहस्र
स्वीयं महीदेव! ददाति तुभ्यम् ?
येन त्वदुक्तिप्रखरप्रवाहै-
स्तिरस्क्रियन्ते बहु वाग्मिनोऽपि ॥

उस समय, शेष महाराज, क्या आपको अपनी हजार जिह्वाएँ दे देते हैं जो आपकी बातों के वेगगामी प्रवाह के सामने बड़े बड़े वक्ताओं को भी हार माननी पड़ती है ?

(८)

मन्ये तदेन्द्र त्वयि वासवोऽपि
न्यासीकरोत्यक्षिचयं स्वकीयम् ।
न चेन्निमेषेण कथं परेषां
दोषाननन्तान् समीक्षसे त्वम् ॥

हमारी समझ में, उस समय, इन्द्र महाराज अपनी हजार आँखें आपके पास गिरवी रख देते हैं, क्योंकि, यदि ऐसा न होता तो, दूसरों के अनन्त दोष आप, आँख की पुतली बदलते बदलते किस प्रकार गिन जाते ?

(९)

कदाचिदप्युपविष्टे त्व-
मुग्रं गृहान्[illegible] च ।
[illegible]
[illegible] ॥

कन्या का विवाह उपस्थित होने पर, ऋण लेकर, घर बेचकर, जेवर बेचकर, हर तरह से आप (विवाह से निश्चिन्त होकर) अपना जन्म कृतार्थ समझते है। ओह! हो! आपकी उदारता का कुछ ठिकाना है? विलक्षण है!

(१०)

पुन पुन पुत्रवधूपितुश्च
धनानि हृत्वाऽपि धरासुरेन्द्र!
निरन्तर तस्य कदर्थनाया
न शोभते ते रसनोपयोग ॥

ब्राह्मण-राज! अनेक बहाने से पुन पुन. अपने समधी देवता से रुपये वसूल करके भी निरन्तर उसकी कदर्थना करने में आपकी जिह्वा शोभा नही पाती।

(११)

गुणान्वित, द्रव्ययुत, विहाय
हा! भूसुर! त्व कुलपक्षपातिन्!
मूर्खाय, नि स्वाय, वराय कन्या
प्रदाय तज्जन्म वृथाकरोषि ॥

हे कुलपक्षपाती ब्राह्मण देवता! आप गुणी और धनी लडके की ओर दृग्पात न करके, मूर्ख और दरिद्री लडके को, कन्या देकर, हाय! हाय! उस बिचारी के जन्म का सत्यानाश करते हैं!

(१२)

किं विद्यया? किं तव कर्षणेन?
व्यापारवृत्या किमु? चापि भृत्या?
जयत्यहो स श्वशुरालयस्ते
त्व कल्पवृक्षीयसि य सदैव ॥

आपको विद्या मे क्या? किसानी से क्या? व्यापार से क्या? और नौकरी-चाकरी से भी क्या? आप क्यो इनका आश्रय लेने लगे? जीती रहै आपकी ससुराल, जिसे आप कल्पवृक्ष समझते है, और जहाँ से कुछ न कुछ सदैव जटते ही रहते है।

(१३)

निःशेषनिन्द्यव्यसनेषु नित्यं
शनैः शनैर्नाशितवित्तजातः ।
चिरेण जागर्षि च लब्धतः सन्
विहाय दीर्घालसघोरनिद्राम् ॥

नाना प्रकार के निन्द्य व्यसनों में लिप्त होकर धीरे धीरे जब आप अपना सर्वस्व खो बैठते हैं, तब दीर्घ आलस्यरूपी आपकी घोर निद्रा भंग होती है, और आपकी आँख खुलती है। उस समय आपको आटा-दाल का भाव मालूम होता है।

(१४)

यत्नेन केनापि तदा कथंचित्
करोषि कष्टेन दिनातिपातम् ।
तथापि हा! हा! न जहासि शुष्कं
कुलीनगर्वं बत वंशजातम् ॥

पूर्वोक्त अवस्था को प्राप्त होने पर आप किसी प्रकार जैसे-तैसे बड़े कष्ट से अपने दिन काटते हैं। परन्तु उस दशा में भी हाय! हाय! आप अपनी कुलीनता का शुष्क गर्व नहीं छोड़ते!

(१५)

अलं विवाहादिविधिस्तवेन
हे कान्यकुब्जावनिदेव! देव!
अतः परं पश्य निजान्यलीलाः
श्रुतिस्मृतिस्थापितधर्मशीलाः ॥

हे कान्यकुब्ज महाराज! विवाहादि विषयक आपका स्तोत्र हम अधिक नहीं बढ़ाना चाहते! उसे हम यहीं तक रहने देते हैं। अब, आप श्रुति और स्मृति के द्वारा स्थापित किये गये धर्म का ठीक अनुसरण करनेवाली, अपनी अन्य लीलाओं को देखिए।

(१६)

ये वाजपेयादिमखाः कृतार्थै-
रेभिर्द्विजैस्तव पूर्वजैस्तु ।

पारावतच्छागलमत्स्यमेधा
मखा गृहे ते प्रभवन्त्यनेका ॥

पूर्वकाल में आपके पूर्वजो ने वे वाजपेय आदि यज्ञ एक ही दो बार किये हैं, परन्तु आपके घर में, अश्वमेध के साथी कबूतरमेध, छागमेध, मछलीमे इत्यादि अनेक यज्ञ हुआ ही करते हैं।

(१७)

स्वभ्रातृगेहेऽपि यदाऽप्रसन्न
पानीयपानेऽपि शिरो धुनोषि ।
वेश्याजनस्याप्य रामृतेन
कृतार्थता यासि यदाऽसि तुष्ट ॥

आप जब कुपित होते है तब अपने सगे भाई के भी घर में, और वस्तु की बात नही करते, पानी भी पीने में सिर हिलाते है, परन्तु जब आप प्रसन्न होते हैं तब वेश्याजनो के भी अधरामृत से अपने को कृतार्थ समझते हैं।

(१८)

समाजमुख्यास्तव ये सभासु
तेषा चरित्र भुवनातिशायि ।
विहाय काश्चिद्गणयन्ति नान्या-
स्ते कान्यकुब्जद्विजनामयोग्यान् ॥

आपकी सभा में समाज के जो मुखिया है उनका चरित्र बहुत ही बढा-चढ़ा है। वे दो-चार को छोड, शेष सबको कान्यकुब्ज कहलाये जाने के योग्य ही नही समझते।

(१९)

विशिष्टविद्यापरिशीलनेन
बुद्धेर्विकाशो भवतीति नीति ।
एशामहो त्वद्विदुषामुदार-
भाव पर सङ्कुचतीव भाति ॥

विद्याध्ययन से बुद्धि का विकाश होता है और मनुष्य में उदारता आती है, यही सुनते आये है, परन्तु बडे आश्चर्य की बात है कि आपके न सामाजिक विद्वानो का उदार-भाव उलटा सकुचित-सा होता जाता है।

(२०)

नैवं करिष्यामि वृथान्ननाश
नैव ग्रहीष्यामि न विवाहे।
उच्चैरिति त्व परिषत्सु नित्य
करोपि भूदेव! दृढा प्रतिज्ञाम्॥

"हम बढार में अब कभी इतनी पूरी नष्ट नहीं करेंगे, कच्ची के दिन कभी इतना भात व्यर्थ न परोसेंगे, विवाह में मोल-तोल करके कभी अधिक द्रव्योपार्जन की इच्छा न करेंगे" इस प्रकार, हे ब्राह्मण देवता! आप अपनी सभाओं में सदैव लम्बी-चौडी प्रतिज्ञा, जाश में आकर, किया करते हैं।

(२१)

परन्तु तत्तं नियमावलीना
निवेश्य पत्र गृहपेटिकायाम्।
उपस्थिते विप्र! विवाहकाले
सर्वं क्षणाद्विस्मरसीति चित्रम्॥

परन्तु, विवाह के समय उन सारे नियमों के कागज का बडल घर के भीतर किसी मजबूत-सी सन्दूक में बन्दकर (और ऊपर से उसमें ताला भर) हे विप्र जी! आप उन सब बातों को एक क्षण में भूल जाते हैं। आपका अजब हाल है।

(२२)

अध्यक्षता, किंबहुना, त्वदीया
गृह्णन्ति ये तेऽपि तदा पलाय्य।
स्व विवाहगूलमितस्ततश्च
गूहन्ति भीता इव भो द्विजेन्द्र!

हे ब्राह्मणो के इन्द्र! अब अधिक और क्या आपसे कहे? आपकी अध्य को जो ग्रहण करते हैं वे भी, विवाह-काज उपस्थित होने पर, अपनी दुम को, भयभीत की भाँति, इधर-उधर, छिपाते फिरते हैं।

(२३)

अपव्ययस्ते भवति द्विजेश!
किं नानिनिन्द्यव्यसनेषु नित्यम्?

सन्त्येव शुद्धाचरणाश्च येषां
सन्दर्शनं पुण्यकरं नराणाम् ॥

आपकी दशा तो वैसी ही है जैसी ऊपर वर्णन हो चुकी है; तथापि ऐसे भी कोई कोई शुद्धाचरणवाले कान्यकुब्ज महात्मा पड़े हैं जिनके दर्शन-मात्र से पुण्य होता है।

(३१)

आस्तामिदं तत्तव लीलयाऽलं
पारं व्रजेत्कः कथनेन तस्याः ?
अतोऽधुना साञ्जलिबन्धमेत-
द्यदुच्यते तच्छृणु भूसुरेन्द्र !

अच्छा अब इसे जाने दीजिए। आपकी लीला का वर्णन हम यहीं समाप्त करना चाहते हैं। भला कौन ऐसा पराक्रमी है जो उसका सविस्तर वर्णन करके उसके पार तक पहुँचने में समर्थ हो? हे भूमिदेव! हमारी अब आपसे हाथ जोड़ कर यह प्रार्थना है कि, जो कुछ हम आगे कहते हैं, उसे कृपा-पूर्वक आप सुन लीजिए।

(३२)

दिनानि ते तानि गतानि, नातः
शुष्काभिमानेन सुवंशजेन।
भविष्यति त्वत्कुशलं कदापि
विचिन्तयान्तःकरणे त्वमेव ॥

कहना यही है कि, आपके वे पहले दिन गये। उच्चकुल में पैदा होने के शुष्क अभिमान को आप अब जाने दीजिए। ऐसा न करने से आप कदापि अपनी कुशल न समझें। आप अपने अन्तःकरण में विचार करके देखिए, इसी में आपकी भलाई है।

(३३)

त्यजालसं, शीलय विप्र ! विद्यां
विधेहि दुष्टव्यवहारनाशम्।
उदारतां बन्धुषु दर्शय त्वं
कुरुष्व कार्यं सुजनादृतं च ॥

विप्र जी ! आप आलस्य छोड़िए, विद्या पढ़िए, बुरे बुरे व्यवहारों की 'इति श्री' कीजिए, अपनी जातिवालों के ऊपर अधिक उदार हूजिए, और भले आदमी जिस काम को अच्छा कहते हैं उसे करना सीखिए।

(३४)

महत्त्वमायाति हि मानवेषु
सुविद्ययैवात्र मनुः प्रमाणम् ।
मन्दादरस्तद्वचने यदि त्वं
तदा न किं हन्त हतः स्वधर्मः ?

भली भाँति विद्याभ्यास करने ही से मनुष्यों को महत्त्व प्राप्त होता है। इसमें प्रत्यक्ष मनु जी प्रमाण हैं। यदि आप उनके भी वचन का निरादर करेंगे तो हाय ! हाय ! हम समझेंगे, हमारा धर्म आज ही रसातल को चला गया !

(३५)

मत्सम्मुखेऽसौ किल कः पदार्थो
विभावनेयं भवतश्च माऽभूत् ।
यदस्ति किञ्चिद्वचने मदीये
ग्राह्यं, गृहाण, त्यज सर्वमन्यत् ॥

"छोटे मुँह बड़ी बात करनेवाला हमारे सम्मुख यह क्या वस्तु है ?" इस प्रकार आपको कभी न कहना चाहिए। जो कुछ हमने आपसे विनय किया उसमें, यदि कुछ भी आपके ग्रहण करने के योग्य है तो, उसे ले लीजिए और शेष सब जाने दीजिए।

(३६)

त्वत्कीर्तिगाने, चरितामृतस्य
पाने, रता विप्र ! पुराविदोऽपि ।
जानन्ति के नो तव सप्रमाणं
यशः पुराणादिषु वर्ण्यमानम् ?

हे विप्रदेवता! आपकी कीर्ति के गाने और आपके चरितरूपी अमृत के पान करने में पुरातन ऋषि भी निमग्न रहे हैं। पुराणादिकों में प्रमाणपूर्वक वर्णन किये गये आपके यश को कौन नहीं जानता ? सभी जानते हैं।

(३७)

न विस्मरातश्चरित पवित्र
शाण्डिल्यकात्यायनकाश्यपानाम् ।
अद्यापि विद्याविभवेन येषा
विभूष्यते भारतभूमिखण्ड ॥

अतएव शाण्डिल्य, कात्यायन, काश्यप आदि अपने पूर्वजो के पवित्र चरित को आप न भूल जाइए। देखिए, न महात्माओ की अप्रतिम विद्या इस भारतवर्ष देश को अब तक आभूषित कर रही है ।

(३८)

कि विस्तरेण बहुनेति हृदि प्रधार्य
हे कान्यकुब्जमहिदेव ! नमस्करोमि ।
स्वस्यैव मामपि कुलस्य करीररूप*
जानीहि सादरमय विनयो मदीय ॥

"बहुत विस्तार करने से क्या लाभ है ?" इस प्रकार मन में विचार कर, हे कान्यकुब्ज महराज ! हम अब आपको नमस्कार करते हैं। आदर-पूर्वक आपसे यही एक हमारा विनय है कि, आप हमें भी अपने ही वंश का एक अति छोटा अकुर समझिए। बिलकुल ही निकाल बाहर न कीजिए।

७—समाचारपत्रसम्पादकस्तवः

(सस्कृतचन्द्रिकाया षष्ठखण्डस्य द्वितीयसख्याया प्रकाशित)

(१)

देशोपकारव्रतधारकाय
नानाकलाकौशलकोविदाय ।
नि शेषशास्त्रेषु च दीक्षिताय
सम्पादकाय प्रणतिर्ममाऽस्तु ॥

देशोपकाररूपी व्रत जिसने धारण किया है; नाना प्रकार के कला-कौशल में जो कुशल है, समस्त शास्त्रों में जिसने दीक्षा ग्रहण की है--ऐसे सम्पादक को हमारा नमस्कार है।

(२)

पत्रे स्वकीये जगदेकनेत्रे
शिशुं त्रिपादं त्रिशिरस्करञ्च ।
सृजस्यजस्रं कुतुकेन तेन
सम्पादक ! त्वं चतुराननोऽसि ॥

सारे संसार के नेत्ररूपी अपने पत्र में तीन पैर, तीन सिर, तीन हाथ के लड़के (इत्यादि) की अपूर्व सृष्टि आप कुतूहल से रचते हैं। अतः हे सम्पादक जी! आप ब्रह्मदेव हैं।

(३)

आकृष्टुमुच्चैर्निजपत्रमूल्य
नवोपहारादिनिधेर्विधाने ।
समस्तमायाविशिरोमणित्वात्
त्वमेव सम्पादक ! माधवोऽसि ॥

अपने पत्र का मूल्य वसूल करने के लिए नाना प्रकार के उपहारों का विधि-विधान करने में समस्त मायावी जनों को आप मात करते हैं, इसलिए, हम आपही को (मायामय) विष्णु भगवान् जानते हैं।

(४)

स्वदोषराशिं च तृणं विधाय
त्रुटिं समालम्ब्य लघुं परेषाम् ।
अलेख्यलेखैः कृतकालनाशात्
त्वमीश्वरो भीमभयंकरोऽसि ॥

अपने दोषों के ढेर को तृणवत् देखकर, दूसरों की अत्यल्प त्रुटि के ऊपर, जिन्हें लिखते लज्जा आती है, ऐसे लेख लिखकर, आप कालनाश करते हैं, अतएव आप (काल के नाश करनेवाले) भयंकर महादेव हैं।

(५)

सम्पादक ! त्वत्कृपयैव लेखा
निजा अपि स्थानमवाप्नुवन्ति ।

(३७)

न विस्मरातश्चरित पवित्र
शाण्डिल्यकात्यायनकाश्यपानाम् ।
अद्यापि विद्याविभवेन येषा
विभूष्यते भारतभूमिखण्ड ॥

अतएव शांडिल्य, कात्यायन, काश्यप आदि अपने पूर्वजो के पवित्र चरित को आप न भूल जाइए। देखिए, न महात्माओ की अप्रतिम विद्या इस भारतवर्ष देश को अब तक आभूषित कर रही है ।

(३८)

कि विस्तरेण बहुनेति हृदि प्रधार्य
हे कान्यकुब्जमहिदेव ! नमस्करोमि ।
स्वस्यैव मामपि कुलस्य करीररूप*
जानीहि सादरमय विनयो मदीय ॥

"बहुत विस्तार करने से क्या लाभ है ?" इस प्रकार मन में विचार कर, हे कान्यकुब्ज महराज ! हम अब आपको नमस्कार करते हैं। आदर-पूर्वक आपसे यही एक हमारा विनय है कि, आप हमें भी अपने ही वंश का एक अति छोटा अकुर समझिए। बिलकुल ही निकाल बाहर न कीजिए।

७—समाचारपत्रसम्पादकस्तवः

(सस्कृतचन्द्रिकाया षष्ठखण्डस्य द्वितीयसख्याया प्रकाशित)

(१)

देशोपकारव्रतधारकाय
नानाकलाकौशलकोविदाय ।
नि शेषशास्त्रेषु च दीक्षिताय
सम्पादकाय प्रणतिर्ममाऽस्तु ॥

---

* वशाकुररूपमित्यर्थ ।

देशोपकाररूपी व्रत जिसने धारण किया है; नाना प्रकार के कला-कौशल में जो कुशल है, समस्त शास्त्रों में जिसने दीक्षा ग्रहण की है---ऐसे सम्पादक को हमारा नमस्कार है।

(२)

पत्रे स्वकीये जगदेकनेत्रे
शिशु त्रिपाद त्रिशिरस्करञ्च ।
सृजस्यजस्र कुतुकेन तेन
सम्पादक ! त्व चतुराननोऽसि ॥

सारे ससार के नेत्ररूपी अपने पत्र में तीन पैर, तीन सिर, तीन हाथ के लडके (इत्यादि) की अपूर्व सृष्टि आप कुतूहल से रचते हैं । अत हे सम्पादक जी ! आप ब्रह्मदेव है।

(३)

आकृष्टुमुच्चैर्निजपत्रमूल्य
नवोपहारादिविधेर्विधाने ।
समस्तमायाविशिरोमणित्वात्
त्वमेव सम्पादक ! माधवोऽसि ॥

अपने पत्र का मूल्य वसूल करने के लिए नाना प्रकार के उपहारो का विधि-विधान करने में समस्त मायावी जनो को आप मात करते है, इसलिए, हम आपही को (मायामय) विष्णु भगवान् जानते है।

(४)

स्वदोषराशिञ्च तृण विधाय
त्रुटि समालम्ब्य लघु परेषाम् ।
अलेख्यलेखै कृतकालनाशात्
त्वमीश्वरो भीमभयकरोऽसि ॥

अपने दोषो के ढेर को तृणवत् देखकर, दूसरो की अत्यल्प त्रुटि के ऊपर, जिन्हे लिखते लज्जा आती है, ऐसे लेख लिखकर, आप कालनाश करते हैं, अतएव आप (काल के नाश करनेवाले) भयकर महादेव हैं।

(५)

सम्पादक ! त्वत्कृपयैव लेखा
निद्या अपि स्थानमवाप्नुवन्ति ।

बुधाऽऽदृतास्तेऽपि भवन्ति हेया
सकोपदृक्कोणकटाक्षपातात् ॥

सम्पादक जी! आपकी कृपा ही से निंद्य भी लेख (आपके पत्र में) स्थान पाते हैं, और आपही की कुपित दृष्टि-कटाक्ष से, विद्वानो से आदर किये गये भी लेख निंद्य हो जाते हैं।

(६)

त्वं लेखनीं पाणितले निधाय
विराजसे वीर! यदाऽऽसने स्वे।
सुरेन्द्रसिंहासनमप्यचिन्त्य
तदाऽतिगर्वेण तिरस्करोषि ।

हे वीर! जिस समय, आप अपने हाथ मे लेखनी को लेकर अपने आसन पर आसीन होते हैं, उस समय इन्द्र के अचिन्त्य सिंहासन को भी गर्वातिशय से आप तुच्छ समझते हैं।

(७)

गृह्णासि सम्पादकतां यदैव
तदैव शास्त्राणि सविस्तराणि।
भाषाः समस्ता सकला कलाश्च
त्वां त्वद्भयेनेव समाश्रयन्ति ॥

आप ज्यों ही सम्पादकता को ग्रहण करते हैं त्यों ही सारे शास्त्र, सारी भाषा और सारी कला मानो आपके डर से आपका आश्रय लेती हैं।

(८)

अहो! विचित्रं तदतीव भाति
सम्पादकत्वेन सहैव यत्ते।
आयाति शक्तिर्मनसि क्षणेन,
नानानवीनौषधिकल्पनाया ॥

एक बात यह अति विचित्र जान पडती है कि सम्पादकत्व के साथ क्षणमात्र में, आपके हृदय में नाना प्रकार की नवीन औषधियों की कल्पना करने की शक्ति आ जाती है।

(९)

पत्रेषु सम्प्रेषितपुस्तकाना
नामैव गृह्णन् विदधासि मौनम् ।
आलोचनामन्यकृता तथाऽपि
रम्यामपि त्व किन्नु धिक्करोषि ।

भेजी हुई पुस्तको का अपने पत्र में नाम मात्र देकर आप मौन धारण करते है, तथापि और की की हुई अच्छी भी समालोचना आपके मन नही आती ।

(१०)

विज्ञप्तिमेता शृणु मामकीना
वदामि सम्पादक ! ते हिताय ।
परस्य सत्पुस्तकपत्रकेभ्यो
मा, मैव गुप्त विषयान् हर त्वम् ॥

हमारी एक विज्ञप्ति आप अवश्य सुन लीजिए, हम आपके अच्छे के लिए कहते है । सम्पादक जी ! आप छिपे छिपे औरो की पुस्तक और पत्रो से विषय कभी न चुराया कीजिए ।

(११)

टा म्समुख्यानि जयन्तु तानि
पत्राणि येभ्य परिगृह्य वार्ता ।
त्वमन्यदानोदरपूरकस्य
प्राणान् स्वपत्रस्य सदैव पासि ॥

दूसरो के दान से उदर पूर्ण करनेवाले अपने पत्र के प्राण, जिनसे समाचार चुन चुन कर, आप पालते है, वे टाइम्स इत्यादि पत्र जीते रहें ।

(१२)

नम्रोऽस्मि मूल्यग्रहणे, च मौनी
पत्रोत्तरे, दोषनिदर्शने स्वे ।
रुष्ट कुतो नीतिविदो वद त्वं
विलक्षणा नीतिरियं गृहीता ?

आप मूल्य लेने में नम्रता दिखाते है, पत्र का उत्तर देने में मौनावलम्बन करते है, और अपने दोष दिखलाये जाने पर रुष्ट होते है । अच्छा कहिए तो सही किस नीतिविशारद से आपने यह विलक्षण नीति सीखी है ?

(१३)

अभद्रभद्रौषधिपुस्तकाना
विक्रेतृवर्गं समवाप्य सम्यक ।
विज्ञापनद्वारमलभ्यलाभ
प्राप्नोति सम्पादक ! ते प्रसादात् ।।

हे सम्पादक जी ! आप ही के प्रसाद से भली-बुरी ओ षियो और पुस्तको के बेचनेवाले (आपके पत्र में) विज्ञापन-रूपी द्वार को पाकर अलभ्य लाभ उठाते है।

(१४)

इहास्ति साधुत्वमत पर किम् ?
प्रकाश्य लोकस्य विमानना यत् ।
स्थिते भये पाणियुग प्रसार्य
'क्षमस्व, हा हेति' च भाषसे त्वम् ।।

इससे अधिक और क्या साधुता हो सकती है कि, आप पहले तो अपमान-जनक लेख छाप कर लोगो का अपमान करते है (और पश्चात्) भय उप-स्थित होने पर, हाथ जोड, "क्षमा कीजिए, हम हा-हा खाते है" इस प्रकार आप कहते फिरते है।

(१५)

गायन्ति सम्पादकतागुणाना
लीला यथाशक्ति महाजनास्ताम् ।
स्वातन्त्र्यविद्याबलवर्धनानि
सर्वाणि यच्छक्तिविजृम्भणानि ।।

स्वतन्त्रता, विद्या, बल आदि सभी जिसकी शक्ति का प्रताप है, ऐसी सम्पादकता के गुणो की लीला को बडे बडे महात्मा भी यथाशक्ति गान करते है।

(१६)

अतोऽन्वह भक्तिभरान्वितोऽह
कीर्त्ति त्वदीया किल कीर्तयामि ।
ममोपरीद स्तवन निशम्य
प्रसीद सम्पादक ! सर्ववन्द्य ।।

अतएव, प्रतिदिन, हम भी भक्ति-भावपूर्वक आपकी कीर्ति का कीर्तन करते है; इस स्तोत्र को सुनकर हे सर्ववन्द्य सम्पादक जी ! आप हम पर प्रसन्न हूजिए।

--- - ---

८—नागरी ! तेरी यह दशा !!

(जून १८९८ की नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित)

(१)

श्रीयुक्त नागरि ! निहारि दशा तिहारी,
होवै विषाद मन माँहि अतीव भारी।
हा ! हन्त लोग बत मातु तुम्हैं बिसारी,
मेधैं अजान उर्दू उर माहि धारी ॥

(२)

माता त्वदीय शुचि संस्कृत देववानी,
वर्णावली तव मनोहर रूपखानी।
अत्यन्त शुद्ध लिपि होति सदैव तेरी,
थोरे प्रयास महँ सिद्धि सधै घनेरी ॥

(३)

अत्यल्प बालकहु मास गये छ, साता,
होवै प्रवीण सिखि तोहि छिपी न बाता।
मूढातिमूढ जिन दीख न पाठशाला,
तेऊ पढै तुहि विना श्रम सर्वकाला ॥

(४)

एतादृशी सरल, सुन्दर, शुद्ध, सोई,
ए नागरी जननि ! जानत सर्व कोई।
तौहू तुम्है चहहिं जे न जडत्वपागे,
ते कामधेनु तजि आक दुहै अभागे ॥

(५)

तेरी समान रुचिरा, सरला, रसाला,
शोभायुता, सुमधुरा, सगुणा, विशाला।
भाषा न अन्य यहि काल अहो दिखाई,
बोलैं निशंक हम यों स्वभुजा उठाई ॥

(६)

श्रीसूरदास, तुलसी अरु खानखाना,
क्षेमेन्द्र, केशव, कवीन्द्र, कवीश नाना।
छायो दिगन्त यश जो नको अपारा,
सो है प्रसाद तव नागरि! देवि! मारा॥

(७)

पद्मावती जिन रची ललिता, ललामा,
विख्यात जे अपर क़ादिर आदि नामा।
इस्लाम जाति; तउ कै तिन मातु तोरी,
आराधना, सुयशराशि घनी बटोरी॥

(८)

सन्मान्य ग्राउज़ कलेक्टर सु-प्र ना,
श्रीमद्ग्रियर्सन समाऽन्य महा महाना।
सेवा त्वदीय करि मातु लही बड़ाई,
कीर्तिध्वजा धरणि पै अपनी उड़ाई॥

(९)

अन्यान्य जातिजनहू बनि भक्त तेरे,
गावैं त्वदीय गुण नित्य नये घनेरे।
तौ जो तिहारि हम स करैं न पूजा,
हा हा! अनर्थ नहिं या सम अन्य दूजा॥

(१०)

भ्राता, पिता, सुत, सुता, दयिता सुशीला,
त्यागैं मनुष्य कहुँ देखि विपत्तिलीला।
पै प्राणनाश यदि होहि तऊ न माता,
होवै वियुक्त सुत ते बिलगाय गाता॥

(११)

माताममत्व जस वेदपुराण भाखा,
तत्तुल्य है अपर केवल मातृ-भाषा।
आजन्म जो विमुख, ताहु विपत्ति माहीं,
आवै सदैव मुख में सुड, अन्य नाहीं॥

(१२)

हिन्दी ! दयालु इतनी तुम हाय ! ताही,
हिन्दू न तौ यदि अकारण, दो काही ?
दुर्भाग्य—दंड—हत—बुद्धि—विवेक जाई,
होवै परन्तु दुख देखि कृतघ्नताई ॥

(१३)

न्यायालयादि महँ लेखकवृन्द बाढी,
हस्त—प्रलम्ब—परिमाण हिलाय डाढी ।
देखो, अहो ! कुलिशकर्कश शब्द भाखें,
मानापमान तव ते मन में न राखें ॥

(१४)

"देशोपकार करिबे" मिस बोलि वीरा,
लै, लाञ्छ लेक्चर उडावत जे प्रवीरा ।
त्वन्नाम ते सुनत कोमन दूरि भागैं,
पत्रादि हू लिखन में तुहि नानुरागैं ॥

(१५)

शाण्डिल्य आदि-मुनि नायक-वंश-धारी,
हृत्कम्प होहि सुनि नागरि ! तोहि टारी ।
हा ! हन्त ! पुत्र कर माहिं धरैं करीमा,
लज्जा न आव तनिकौ तिनके हिये मा ॥

(१६)

जाके प्रचार बिनु लाखन लोग धाई,
लै लै समन्स बहु ढूँढत गाँव जाई ।
पावैं तऊ न तिन वाचन-हार, भाई !
तातें, भये विमुख तासन, का भलाई ?

(१७)

जाके बिना कचहरीघर लोग घेरे,
ताकौ पराग मुख जाय बडे सवेरे ।
न प्रेम तासु जिनके मन माहि जागै,
हा ! हा ! विलोकि तिन पातकपुंज लागै ॥

(१८)

जाको लिखैं सहज बालक, वृद्ध, नारी,
जामें न भूल इक बिन्दु—विसर्ग—वारी।
सद्धर्म जासु परिशीलन में सदाही,
ताकी करै स्तुति कहाँ लगि? शक्ति नाहीं॥

(१९)

देखो! स्वदेश-नर-रत्न! करो विचारा,
सत्कार नागरिह केर करे उबारा।
हे! हेलना न करि तासु, सुनो पुकारा,
कीन्हे विलम्ब बिगरै निज काज सारा॥

(२०)

कल्याणि! नागरि! ती विनती सुनीजै,
माता! दयावति! दया न कमी करीजै।
ह्वै अधीर जनि, यद्यपि होति देरो,
सेवा अवश्य करिहै अब सर्व तेरी॥

(२१)

सप्रेम, जोरि कर, तोहि मम प्रणामा,
त्वद्भक्त जे कहुँ कहूँ चमकैं सुनामा।
मेरो नमोऽस्तु तिनहूँ कहँ बार बारा,
ते धन्य, धन्य कुलदीप कृतोपकारा॥

६—सूर्य्यग्रहणम्

(सस्कृतचन्द्रिकाया षष्ठखण्डस्य तृतीयसख्याया प्रकाशितम्)

(१)

अत्यन्तभीषणरणो दिशि पश्चिमायाम्,
हृत्कम्पकारि महिकम्पनमेव पूर्वे।
याम्ये तथा मनुजमारकरोगपीडा,
प्रादुर्बभूव नितरा युगपत्तदैव॥

पश्चिम की ओर अत्यन्त भीषण युद्ध; पूर्व की ओर हृदय को कम्प उत्पन्न करनेवाला भूकम्प, तथा दक्षिण की ओर मनुष्यसंहारकारिणी महामारी की पीडा—यह सब एक ही साथ जिस वर्ष हुआ।

(२)

वेदेषुखण्डशशिसम्मित वैक्रमीय,
संवत्सरे, जनपदेऽत्र तदैव येयम्।
दृष्टा जनैर्नभसि संघटनाद्भुता,ताम्,
मित्रानुरोधवशतो ननु वर्णयामि।

विक्रमादित्य के उसी वर्ष अर्थात् १९५४ संवत् में, यह जो अतीव अद्भुत घटना, आकाश में, यहाँ, लोगों को देख पड़ी, उसे हम अपने एक मित्र के अनुरोध से वर्णन करते हैं।

(३)

*शीतर्तुमध्यगतम तुलमाघमासे,
मध्येदिनं दिनकरस्यतनूममायाम्।
आच्छादयिष्यति शशी नियतं नितेन,
विम्बेन तूर्णमिति पूर्णतया निरूप्य॥

शीतकाल में, माघ महीने की अमावस्या के दिन, मध्याह्न समय, चन्द्रमा अपने बिम्ब में, अवश्यमेव, झटपट, सूर्य को आच्छादित कर लेगा—इस बात का भली भाँति निरूपण करके—

(४)

तद्दर्शनाय विदुषामवलिः समन्ताद्,
द्वीपान्तरादपि चचाल विलङ्घ्य सिन्धून्।
नानाविधानि परिगृह्य बुधस्तुतानि,
यन्त्राणि सूर्यविधुबिम्बपरीक्षकाणि॥

सूर्य और चन्द्रमा के बिम्ब की परीक्षा करने में उपयुक्त होनेवाले, विद्वज्जनों के द्वारा प्रशंसा किये गये, नाना प्रकार के यन्त्रों को लेकर, अनेक विद्वान्, समुद्रों का उल्लंघन करके, द्वीपान्तरों से भी, उस दृश्य के देखने के लिए चले।

---

*२२ जनवरी १८९८।

(५)

विज्ञानशास्त्रकुशला विबुधा अनेका,
उच्चोच्चराजपुरुषा अपि गौरकाया ।
सिद्धिं विधाय रविवीक्षणसाधनानाम्,
तस्थुर्यदा वसनवेश्मनि बक्सरादौ ॥

विज्ञान-शास्त्र के पारदर्शी अनेक विद्वान् तथा उच्च पदाधिकारी अँगरेज़ लोग, सूर्य को अवलोकन करने के साधनों को सिद्ध करके, जिस समय, बक्सर आदि स्थानो में, अपने अपने खीमें के नीचे, ठहरे—

(६)

पूर्णोपरागमथ पंकजबान्धवस्य,
ज्ञात्वा तदा भुवि चिरेण भविष्यमाणम् ।
लोकेरकारि कृतभारतवर्षवासै-
र्यद्गद्वदामि तदहं नियतैर्वचोभिः ॥

उस समय, बहुत काल के अनन्तर होनेवाले, खग्रास सूर्यग्रहण का समाचार पाकर, हमारे भारतवर्षवासी लोगों ने जो कुछ कहा अथवा किया उसे हम संक्षेप से वर्णन करते है ।

(७)

युद्धं भविष्यति नृपेषु परस्परेषु,
लोकं गमिष्यति यमस्य रुजा प्रजा च ।
धान्यं धनं बहु हरिष्यति चौरवर्ग,
इत्यादि कैश्चिदिह सूरिभिरन्वभाषि ॥

राजा लोगो में परस्पर युद्ध होगा, रोग से मनुष्य यमपुरी को पधारेंगे, चोर, धन और धान्य दोनो की अतिशय चोरी करेंगे, इस प्रकार किसी किसी प्रसिद्ध पंडित ने भविष्यवाणी कही ।

(८)

तत्तन्निशम्य सहसा मनुजा सशंक-
स्पञ्चाङ्गवाचकजनानभिवन्द्य केचित् ।
दैवज्ञराज ! वद राशिफलं मदीय-
मेवं विरक्तमनसाऽञ्जलिबन्धमूचु ॥

जिसे सुन सुन, स ाक होकर, बहुतेरे मनुष्य, पचागपाठी पडितो को प्रणाम करके, हाथ जोड, विन्वल चित्त होकर इस प्रकार बोले—"ज्योतिषी जी! ज़रा हमारा राशिफल तो देखिए, हमारे लिए ग्रहण कैसे है ?

(९)

अन्नांशुकद्रविणदानवि ानमाशु,
दोषक्षयाय परिपृच्छ्य ुधांश्च केचित् ।
उद्योगिन समभवन् खलु तत्तदाप्तौ,
नास्त्यालये, तदपि देयमवश्यमेव ॥

ग्रहणजात दोष का परिहार करने के लिए, धन, धान्य और वस्त्रादि के दान की वि ि को पडितो से पूछ करके, उन उन वस्तुओ के प्राप्त करने के उद्योग में बहुतेरे लग गये ! घर में तो है नहीं, परन्तु देना अवश्य है !

(१०)

दैवज्ञमेव शरण शिरसा नतेन,
केचित् फलानि भयदानि निशम्य जग्मु ।
केनाऽपि पडितपते ! परिपाहि नस्त्वम्,
यत्नेन, वाक्यमिति दीनतम न्यवेदि ॥

" डित जी ! अब तो आपही किसी प्रकार हमारी रक्षा कीजिए" इस प्रकार दीनता दिखलाते हुए बहुतेरे मनुष्य, भ कर फलो को श्रवण करके, सिर झुकाय, ज्योतिषी जी की ही शरण में गये ।

(११)

भानूपरागकृतभाविमहर्घतायाः,
सचिन्तनेन विवशा कतिचिद्बभूवु ।
अन्नविनाऽसदसव कथमीश ! हा हा,
स्थास्यन्ति दुर्विलसिता इति सविलप्य ॥

"हे ईश्वर! यह हमारे पापी प्राण बिना अन्न के हा ! हा! कैसे रहेंगे ? इस कार विलाप करके, सूर्यग्रहण के कारण होनेवाली महँगी का विचार कर, बहुतेरे, अतिशय विवश दशा को प्राप्त हुए ।

(१२)

तत्तत्स्थलस्थितमहीसुरवल्लभानाम्,
गेहेषु दन्त नमाशु निवेदनाय ।

काशीप्रयागमथुराकुरुपुष्करादि-
तीर्थानि चेलुरतिभक्तिभरेण केचित् ॥

उन उन स्थानो के ब्राह्मणो की प्रियतमाओ के घर में अपने दिये हुए धन को झटपट, पहुँचा देने के लिए, बहुतेरे मनुष्य, बडी भक्ति के साथ, काशी, प्रयाग, मथुरा, कुरुक्षेत्र, पुष्कर इत्यादि तीर्थो को चले।

(१३)

काश्चित्तथा सुनयना सुरनिम्नगादि-
स्नानच्छलेन युवकै सह सगमाय ।
ईयुर्मनोरथशत हृदि धारयन्त्य,
सकेतितस्थलमनङ्गनिपीडिताग्य ॥

अनेक कामपीडित, सुलोचनी कामिनी, नाना प्रकार के मनोरथो को धारण करती हुई, गगास्नानादि के बहाने, युवको से मिलने के लिए, सकेत किये गये स्थलो पर पहुँचीं।

(१४)

केचिद्वधूवदनचन्द्रविलोकनाय,
केचिद्धनस्य हरणाय परस्य, केचित्—
कूले ययुर्ग्रहणदुष्परिणामदु ख-
नाशाय सन्निकटवर्तिजलाशयस्य ॥

बहुतेरे वधू जनो के मुखचन्द्र को देखने के लिए, बहुतेरे दूसरो के माल मारने के लिए और बहुतेरे ग्रहण के दुष्परिणाम को मिटाने के लिए, समीपवर्ती जलाशय के किनारे उपस्थित हुए।

(१५)

येऽस्मद्विधा विधिवशान्नतु किंचिदन्यत्,
शक्ता न कर्तुमथ ते स्वकरे गृहीत्वा।
काचस्य कज्जलितपृष्ठतलस्य खड-
मुच्चस्थले बहुभिरात्मजनैर्विरेजु ॥

हमारे समान जो लोग और कुछ नहीं कर सके, वे एक ओर काजल से काले किये गये काँच के टुकडे को हाथ में लेकर, किसी ऊँची जगह पर, अपने आत्मीय जनो के साथ, पहुँचे।

(१६)

यस्मिन् क्षणे चपलतातिशयेन चन्द्र,
उत्प्लुत्य मेघवदध स्थलतश्चकार।
स्पर्शं प्रपाणितदिने दिवसेशबिम्ब-
स्तस्मिन् बभूव जनलोचनलक्षलक्ष्य ॥

उस दिन, जिस समय, मेघ के समान, नीचे की ओर से, अति चपलता के साथ, एकदम, चन्द्रमा ने सूर्य के बिम्ब को स्पर्श किया, उस समय उसकी ओर मनुष्यों की लाखों आँखें आकर्षित हो गईं।

(१७)

दृश्य विलोक्य तदिद किल कोपि नाद
सश्रूयते स्म भुवि लोककृत समन्तात्।
स्नाने, जपे, हरिहरस्मरणे, च दाने
सर्वेऽभवन् रुचिविचित्रतया निमग्ना ॥

इस सूर्यग्रहण के दृश्य को देख कर चारों ओर से लोगों ने अतिशय कोलाहल करना प्रारम्भ किया और अपनी अपनी रुचि के अनुसार स्नान, जप, हरिहर-स्मरण, दान इत्यादि में सब लोग निमग्न हो गये।

(१८)

हहो ग्रसत्यरुणमण्डलमे राहु,
पौराणिकै खलु पुन पुनरित्यभाणि।
वैज्ञानिकैरपरबुद्धिविचक्षणैस्तु,
सर्वैरमानि शशिमण्डकराऽभियोग ॥

"देखो, राहु सूर्य-मण्डल का ग्रास कर रहा है" इस प्रकार पौराणिकों ने बारम्बार लाप किया, परन्तु विज्ञान-शास्त्र के ज्ञाता तथा अपर बुद्धिमान् जनों ने चन्द्रमा और सूर्य का योगमात्र निश्चित किया।

(१९)

धर्मं प्रभो! कुरु कुरु ग्रहण प्रसक्तम्,
त्व देहि देहि वसनञ्च, नञ्च, धान्यम्।
इत्यादि दीनवचनानि च याचकानाम्,
केषा न कर्णकुहरे पतितानि तानि ?

"महाराज ! ग्रहण लगा है, धर्म कीजिए, न, धान्य, वस्त्रादि जो जिससे हो सके दीजिए, दीजिए", इस प्रकार याचकों के दीन वचन, उस समय, किसके कान में नही पड़े ?

(२०)

छायां करोति वियति स्म यदा यदेन्दु,
श्यामप्रभां वितनुते स्म तदा तदार्कः ।
आपत्सु दैवविनियोगकृतागमासु,
धीरोऽपि याति वदने किल कालिमानम् ॥

आकाश में चन्द्रमा ने ज्यो ज्यो अपनी छाया बढाई त्यो त्यो सूर्य ने श्यामता धारण की । दैवयोग से आई हुई आपत्ति के समय धैर्यवान् पुरुषो के भी मुख पर कालिमा छा जाती है ।

(२१)

कालक्रमेण शशिना निजनीलमूर्त्या,
सञ्छादनं कृतमियद्रविमण्डलस्य ॥
येनेह रत्नगिरिबक्सरशाहडोल–
ग्रामेषु तस्य समलोकि समस्तलोपः ॥

कुछ काल के अनन्तर चन्द्रमा ने, अपनी नील मूर्ति से, रविमडल को यहाँ तक आच्छादित कर लिया कि रत्नागिरी, बक्सर और शाहडोल आदिक स्थानो में उसका (अर्थात् सूर्यमडल का) पूरा पूरा लोप दृष्टिगोचर हुआ ।

(२२)

शुभ्रप्रकाशरहिते जगतीतलेऽस्मिन्,
यल्लोहितातपरुचिर्ददृशे मनुष्यैः ।
तत्किं पुराणलिखितारुणराहुयुद्धे,
जाने विधुन्तुदशिरोऽस्रनिपातजन्मा ?

शुभ्र प्रकाश रहित इस भूतल में, कुछ कुछ लाल रग की जो धूप, उस समय, देख पडी वह क्या, पुराण-प्रसिद्ध राहु और सूर्य के युद्ध होने से, राहु के शिर से निकले हुए रुधिर के गिरने से तो लाल नही हो गई थी ?

(२३)

ग्रासं गते नभसि पूर्णतयाऽर्कबिम्बे,
स्पष्टीबभूव भुवि कोऽपि तमिस्रपुञ्जः ।

आलोक्य वष्टमभितो महता मलीना,
स्वान्ते मदा समधिका मुदमुद्वहन्ति ॥

आकाश में सूर्य का पूरा पूरा लोप हो जाने पर, भूतल में, अन्धकार ने खूब ही अपना जोर जमाया। ठीक ही है, महात्माओ को विपत्तिग्रस्त देखकर मलीनान्तःकरणवाले दुर्जन अधिक प्रसन्न होते हैं।

(२४)

मध्याऽऽजगाम सहसा किमु रैत्यकाण्डे,
वामेच्छुक खगकुल विततिं ततान।
गावोऽपि गेहगमनोत्सुकता दधाना,
पुच्छ प्रसार्य परितश्चलिता सशब्दम् ॥

"क्या अभी सायकाल हो गया ?" इस प्रकार सशकचित्त होकर अकाल ही मे, अपने अपने घोसलो में जाकर वास करने की इच्छा रखनेवाले पक्षी बोलने लगे, और पशु भी घर जाने के लिए उत्सुक होकर, पूँछ उठा, चारो ओर से शब्द करते हुए चल पडे।

(२५)

खग्रासतामभजतार्क इति प्रदातुम्,
साक्ष्य किमेपु भगवानुशना मनुष्यान्।
तस्मिन् क्षणे समुदियाय नभोऽन्तराले,
यन्त्र विनैव ददृशे सकलैर्यलोकि ?

सूर्य का खग्रास ग्रहण हो गया— स बात की मनुष्यो को साक्षी देने के लिए वह क्या शुक्र महाराज उस समय नभमडल में उदय हुए, जो सब लोगो ने उन्हें यन्त्रों की सहायता के विना ही दिन में देख लिया ?

(२६)

एव गते मयि महाविषमामवस्थाम्,
कुर्वन्ति किं जगति सर्वजना तीव।
दृष्टु रवि पिहितबिम्बतटाऽभिजात-
ज्योतिश्छटाक्षिनिकर विभराम्बभूव ॥

इस प्रकार की वि म अवस्था को हमारे प्राप्त होने पर संसार में सब लोग क्या कर रहे है— स बात को देखने ही के लिए मानो सूर्य ने छिपे

१०—बालविधवा-विलाप

(७ अक्टूबर, १८९८ के भारतमित्र में काशित)

(१)

आकाशमध्य रवि अंशु अनन्त धारी,
देखो प्रदीप्त दिन में तमपुञ्जहारी।
ताराधिनाथ जनमानसमोदकारी,
नक्षत्रयुक्त विलसै रजनीविहारी ॥

(२)

विद्युत्प्रकाश अनलोद्भवभास भारी,
नाना नई विमलदीपशिखा सुखारी।
तेजोमयी शुचि महामणिमूर्ति सारी,
रत्नादिराशि महि माहि घनी निहारी ॥

(३)

काहे तऊ अहह ! मोहि महाऽन्धकारा,
सर्वत्र सम्प्रति दिखाय अहो ! अपारा !
मत्प्रश्न हाय ! यह, जीवन के अधारा !
पापिष्ट हृत्पटल फारि करै दरारा !!

(४)

मेरे दिनेश तुमही, तुमही निशेशा,
तारादिहू तुमहि नाथ ! रहे अशेषा।
प्राणेश ! अस्त तव होतहि, लोक माही,
सारे प्रकाश मम अस्त भये लखाही ॥

(५)

गर्भप्रपात कत हा ! विधना न कीन्हा ?
काहे न जन्मतहि मो कहँ मृत्यु चीन्हा ?
रोगादिहू न अवलौं मम जीव लीन्हा ?
रे दैव निष्करुण ! दुःसह दुःख दीन्हा !!

(६)

वै व्यजातदुखसम्मुख तीव्र आगी,
है क पदार्थ ? जरु देह ! अरे अभागी !
हे प्राणनाथ ! नहि सम्भव सोउ हा हा !
जानौं भले विधिविरुद्ध शरीरदाहा ॥

(७)

जो प्राण देहुँ जल मध्य करि प्रवेशा,
पाशादि लाय अथवा करहुँ स्वशेषा ।
तो आत्मघातकृतपातकपुञ्ज जोरी,
हे नाथ ! होहि कुदशा अति और मोरी ॥

(८)

सूझै कछू यहि घरी अब नाहि मोही,
बूझै न अन्य हतचित्त विहाय तोही ।
जावौं कहाँ ? कह करौं ? किहि धौं पुकारौं ?
हे जीवितेश ! किमि धीरज चित्त धारौं ?

(९)

हे प्राण दुर्ललित ! खोजहु अन्य गेहा,
दुखाग्निदग्ध रहिहै न मदीय देहा ।
अद्यापि न त्यजहु मूढ़ ! मृषासुखाऽऽशा,
देखौ न काह तुम हा ! मम सर्वनाशा ॥

(१०)

को हौ, कहौ न कत, जीवित पाप पूरे ?
पाषाण पूर्ण तुम हौ अथवा अधूरे ?
देवेन्द्रवज्र अति कर्कश वा ? बताओ,
जावौ न जो दुख—दवारि दहे, सतावौ ॥

(११)

देखी कहूँ न विटपाश्रयहीन बेली,
प्राचीन होहु अथवा अतिही नवेली ।
मैं मन्दभाग्य तिनतेऽधिक भूमि आई,
आधारहीन जउ जीव तऊ न जाई ॥

(१२)

आलाप दूरि, परिरम्भण दूरि, अग-
स्पर्शादि दूरि, अरु दूरि निशि-प्रसग ।
देख्यो न हाय ! मुखहू तव नेत्र लाई,
त्वन्नान साथ तउ नाथ ! गई बिकाई ॥

(१३)

एतादृशी लखि दशा मम दु खदाई,
हा हा करै निपट नीचहु धाय धाई।
पै दैव ! तोहि मम नेकु दया न आई,
रे दुष्ट ! रे कुटिल ! रे शठ ! रे कसाई !

(१४)

तद्ग्रन्थिचिह्न पट में अजहूँ दिखाई,
जाके मि प्रणयबन्धन कीन आई।
त्यागा, सु भूलि सब, हाय ! मदीय साथा;
विश्वासघात अस तोहि न योग्य नाथा ॥

(१५)

मद्दु ख देखि विधि ! जो करुणा न आवै,
नैष्ठुर्यनीरनिधि ! मीचु न तू पठावै।
तौ काह दुष्ट ! मम मातु विलाप भारी,
छाती न फारि दुई टूक करै तिहारी ॥

(१६)

बीतै निमेष इक कल्प समान मेरो,
छूटै न जीव जिहि छूटतही निबेरो।
सन्ध्या कटै यदि किहू, न कटै सवेरो,
जावै वियोग अब नाथ ! सहो न तेरो ॥

(१७)

प्राणाधिक ! त्वदनुराग हिए जगाई,
राखौं शरीर यदि दारुण दु ख पाई।
सारो समाज हठि निर्दयता दिखावै,
हाहा ! मनो क्षत भये पर लोन लावै ॥

(१८)

सौभाग्य जासु मम पूर्व सवै सराहा,
सोई भई अव अमंगलमूल हा हा !
यामेऽपराध नहिं मोर कछू दिखाई,
मस्तिष्क में न यह नारिन के समाई ॥

(१९)

नारी करैं, करहि सो, नरहू अनेका,
देवैं अनाथ अवलान न सौख्य एका।
देखैं विपत्ति जउ नित्य नई हमारी,
होवैं दयार्द्र तउ ते न जडत्वधारी ॥

(२०)

लै साठिवर्षतन स्यन्दन* में पधारी,
ब्याहे स्वर सुभग बारहवर्षवारी।
पै ज्ञानगीत हम काहिं अहो सिखावैं,
है पक्षपात अम ते न हिए लजावैं ॥

(२१)

भावी दशा सुमिरि आपनि जीवितेश !
काँपै हियो अहह ! होहि न धैर्यलेश ।
देवै जिते नरक पापिन धर्मराजा,
मो को इतैहि मिलि है तिनके समाजा ॥

(२२)

अत्यन्धकारमय दुर्गृहगर्भ माही,
होई निवास मम रैनि दिना सदाही।
तत्रस्थ मूस, छिपकी अरु घूस केरी,
ढेरी अभद्र वनिहैं सखिरूप मेरी ॥

(२३)

उच्छिष्ट, रूक्ष, अरु नीरस अन्न खैहौं,
चाण्डालिनीव मुख वाहर मूँदि जैहौं।

लकी ।

गालि-प्रदान निशि-वासर नित्य पैहौं,
हा हन्त ! दु खमय जीवन यो वितैहौं ॥

(२४)

"रडे ! तुही अवशि मत्सुत लीन खाई",
त्वन्मातु नाथ ! जब तर्जिहि यो रिसाई ।
ह्वैहै इहै तव मदीय मताऽधिकाई,
पृथ्वी फटै त्वरित जाहुँ तहाँ समाई ॥

(२५)

हे प्राणनाथ ! बिनु तोंहि हमारि हानी,
जेती भई सकहि नारि समस्त जानी ।
तौहू दुरुक्ति कहि या बिधि नीचताई,
देहै प्रकाश करि हाय ! हया विहाई ॥

(२६)

जो जाहि इष्ट तिहि नाश करै न कोऊ,
अत्यन्त उच्च अथवा अति नीच होऊ ।
होवै प्रविष्ट इनके हतचित्त माही,
सद्भाव हाय ! कत या विधि नाथ ! नाहीं ?

(२७)

ज्योंही कियो तुम हहा ! इतते पयाना,
त्योंही हमैं सवहि पातकमूर्ति माना ।
लोग प्रचण्ड-शनि-दृष्टि समान सौंही,
त्यागैं सदैव शुभ कारज माँहि मोही ॥

(२८)

ऐसो भयोहु कहहु मो सन कौन पापा ?
जो देहि मोहि सिगरे मिलि तीव्र तापा ।
आपै मरो जु तिहि मारन में उछाहा,
अन्याय हाय ! इहि ते बढि और काहा ?

(२९)

वाणी सुहात नहिं मोरि, न दीठि मोरी,
ताने कहैं तिय, तथा शिशु, वृद्ध, छोरी ।

सासु प्रदत्त चरखा तजि और कोई,
रैहै न पास दिन जैहहि रोय रोई ॥

(३०)

धोती मलीन तन, कज्जल हीन नैन,
सिन्दूरविन्द विन मस्तक, दीन वैन।
एरड दड सम हस्त, जटालु केश,
मद्देशवासि अस कौन मदीय वेश ॥

(३१)

एतेहु पै कतहुँ शिष्टसमाजरत्न,
पावैं न मोद, कछु और करैं प्रयत्न।
प्राणातिरिक्त जिनकी किय नित्य सेवा,
काटैं कदर्य तिन केशनि हाय देवा ॥

(३२)

धिक्कार तोहि हत भारतवर्षदेश !
धिक्कार सभ्यसमुदायहु निर्विशेष !
धिक्कार वुद्धि वल वैभव को हमेश ?
पावैं जहाँ निर्बल नारि इतो कलेश ॥

(३३)

ऐसे कछू प्रकट, गुप्त कछू, उचारी,
भारी विलाप करि मस्तक भूमि मारी।
शोकार्त वालविधवा तनताप जारी,
हा ! हन्त ! ! हाय ! ! ! कहि मूर्छि परी विचारी ॥

(३४)

एहो समाजकुलदीप ! इती हमारी,
विज्ञप्ति लेहु सुनि, दीनदशा निहारी।
जो पै करौ न सधवा विधवान भाई !
दीजौ तदीय दुख अन्य अहो ! नसाई ॥

११—गर्दभ-काव्य

(२९ अगस्त, १८९८ के हिन्दी वंगवासी में प्रकाशित)

(१)

शिशिर, वसन्त, हिमन्त, एक नहि, ग्रीपम हमको प्यारा है,
तपती भूमि, गाँव के बाहर, वरफिस्तान हमारा है।
सन् सन् सन् सन् चलै लूह जब, आँवाँ अस जग जारा है,
तबहि करैं हम मौज मजे में, सारा मुल्क जारा है॥

(२)

हरी घास खुरखुरी लगै अति, भूसा लगै करारा है,
दाना, भूलि पेट यदि पहुँचै, काटै अस जस आरा है।
लच्छेदार चीथड़े, कूड़ा, जिन्है बुहारि निकारा है,
सोई, सुनौ सुजान शिरोमणि!, मोहनभोग हमारा है॥

(३)

विप्रवर्ग से छठि आठैं है, क्षत्री महा जुझारा है,
वैश्य जाति के यहाँ हमारो घटा भरि न गुजारा है।
योग्य जानि यजमान आपनो हम धोबी स्वीकारा है,
सच्ची कहना ऐसो उज्ज्वल कोई और निहारा है?

(४)

परम प्रसिद्ध राम को वैरी खर मो ससुर हमारा है,
कान कान्ह के खड़े कौन जिन धेनुक, सोई सारा है।
नाम धरैं जे तऊ हमारो तिन मानहुँ झख मारा है,
जाके असि ऊँचे सम्बन्धी ताको कहै नकारा है?

(५)

वड़े वड़े, कवि, पण्डित, ज्ञानी, जग जिनते उजियारा है,
तेऊ लहैं उपाधि हमारी जब तब, अस सत्कारा है।
मलिन, मन्द, अपवित्र, इते पर जिन हम काहि विचारा है,
हियो कपार दुऊ मे तिनके उपज्यो चक्षुविकारा है॥

(६)

हल नहि छुवै , छुवै नहिं छकडा, जानत सब ससारा है,
जुते देखि घोडे, तन हमरो होवै फूलि नगारा है।
घरते घाट, घाट ते घर को, जावै हम दुइ वारा है,
सो तो कियो वायुसेवन को मानहुँ अपर प्रकारा है ॥

(७)

कोट, कमीज, आदि को जबलों मिलै कडी फटकारा है,
तब लौं नदीतीर कुञ्जन मे होहि विहार हमारा है।
पैठि गर्दभीमंडल भीतर कोककला विस्तारा है,
वह रसपान करन कहँ केवल एक हमैं अधिकारा है ॥

(८)

शीतकाल में शीत न व्यापै धरैं पीठि पट-भारा है,
गरमी में गिरि जाय सहजही तासो तन की छारा है।
करि बहुवार कमेटी, उत्तम लदढूवृत्ति निकारा है,
सुधि आये गिट्टीवालेन की पै हिय होति दरारा है ॥

(९)

चपत हमैं चम्पा सम लागैं, घूँसा फूल हजारा है,
लात खात मुख बात न बोलै, अटल मौन विस्तारा है।
धम् धम् वम् दस पाँच करै जब गरुई गदा प्रहारा है,
चलैं पैग भरि तब कहुँ, ऐसो सहनशील हम धारा है ॥

(१०)

पीर उठै यदि सुनै पियानो, कर्कश लगै सितारा है,
कोकिल कूक हूक उपजावै, अस स्वरज्ञान हमारा है।
दिलबहलाव हेत हम अपने मुख तें दुःख अपारा है,
मृदुल बोल बोलैं पचम मे कवहुँ कवहुँ वहु वारा है ॥

(११)

खच्चर औ खचरी बहुतेरी आफरीदियन मारा है,
भाई बन्द हमारे यद्यपि, हम नहि आह निकारा है।
गुलछर्रे नित उडै हमारे, सुरपुर रजक दुआरा है,
कोई मरै न सोच होहि कछु—हमैं सुलभ यदि चारा है ॥

जनापवाद-व्यथमान ह्वै हौ,
अन्त स्वय सर्व यथेष्ट दैहौ ॥

(२१)

सदोष उर्दू, पुनि अन्य देशी,
हिन्दी गुणग्राम-भरी, स्वदेशी।
तुम्हें तथापि प्रथमा पियारी,
हा ! हा ! द्वितोया घर ते निकारी ॥

(२२)

निकारि नारी निज, तोष मानै,
बीबी विदेशी यदि कोउ आनै।
विलोकि ताको, सिर भूमि मारै,
"अन्याय अन्याय" न को पुकारै ?

(२३)

लखे परैं केतिक ते नरेश,
हस्ताक्षरौ उर्दुहि में हमेश।
करैं, अहो ! जे सुखसों विशेष,
आनैं हिए में न विचारलेश ॥

(२४)

ऐसी दशा देशहि में निहारी,
सहस्रधारा दृगअश्रु ढारी।
अधोगतिप्राप्त महादुखारी,
हिन्दी हहा ! जाय कहाँ विचारी ?

(२५)

कियो परित्याग यदि क्षितीश !
न और हिन्दी कर कोउ ईश।
विचारियो भूपति ! चित्त माँही,
तुम्हें विना तद्गति अन्य नाही ॥

(२६)

सुहेलना भूलि सवै स्वकीया,
महीप ! माँगै शरण त्वदीया।

अवश्य ताको अपनाय लीजै,
हिन्दी हियो शीतल आजु कीजै ॥

(७२)

अज्ञात, वा ज्ञात, जुपैऽपराधा,
हिन्दीकृत क्ष्मापति ! एक आधा ।
भयो, तऊ ताहि विसारि देहू,
क्षमा क्षमा बोलत धाय लेहू ॥

(२८)

मत्प्रार्थना एक इती भुवाल,
सुपूर्ति ताकी करियो कृपाल !
राज्य प्रजा आयु बढ़ै तिहारी,
अखण्ड आशीष है हमारी ॥

१४—मेघमालां प्रति चन्द्रकोक्तिः ।

(हिन्दीप्रदीप की २३वी जिल्द की चतुर्थ, पंचम और षष्ठ संख्या में प्रकाशित)

(१)

स्वदोषराशिञ्च तृणाय मत्वा
ममोपरि त्वं यदकारणञ्च ।
करोषि कृष्णे ! करकानिपात-
माश्चर्यमेतन्ननु मेघमाले !

हे कृष्णे ! (काले रंगवाली) मेघमाले ! अपनी दोषराशि को तृणवत् समझकर, मेरे ऊपर, अकारण ही तू जो ओले बरसा रही है, वह बड़े आश्चर्य की बात है ।

(२)

रत्नाकरो यस्य पिता, च लक्ष्मी
स्वसा स्वयं सा जगतोऽस्य माता ।

नारायणो यद्भगिनीपतिश्च
स विश्रुत किं तव नो सुधांशु ?

जिसका पिता रत्नाकर (रत्नो की खान—समुद्र), जिसकी बहन स सारे ससार की माता, साक्षात् लक्ष्मी, जिसका भगिनी-पति (बहनोई) स्वय नारायण—उस सुधाशु (चन्द्रमा) का क्या तूने नाम भी कभी नही सुना ?

(३)

इन्दु सदा य शशिशेखरस्य
महात्मन सर्वसुखाकरस्य।
विराजते विस्तृतभालदेशे
तस्यागजामेव हि मामवेहि॥

सब सुखो के आकर (खानि) महात्मा महादेवजी के विशाल भाल-प्रदेश में सदैव जो शोभायमान है, उसी चन्द्रमा के अग से मै उत्पन्न हुई हूँ, समझो।

(४)

तामेव मा व्योम्नि वृथावृणोषि
पुन पुन कृष्णमुखि! त्वमेवम्।
कुबुद्धिशीले! त्रपसे कथ न
विशालवर्षोपलवर्षणेन ?

हे कृष्णमुखि! (काले मुखवाली) उसी मुझको, इस प्रकार आकाश में तू बारबार वृथा घेरती है। हे कुबुद्धिशीले! यह बडे बडे पत्थर बरसाते तुझे लज्जा भी नही आती!

(५)

नून विजानासि न मेघमाले
यदेतदन्याय्यमिह प्रदर्श्य।
श्रीश्रीपति त्र्यम्बकमिन्दुमब्धि
सर्वांश्च कोपाकुलितान् करोषि॥

हे मेघमाले! जान पडता है तुझे इस बात की खबर नही है, कि इस अन्याय के कारण, तू, मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले श्री-श्रीपति-त्र्यम्बक-इन्दु-अब्धि-इत्यादि इन सब देवताओ के क्रोध को बढा रही है।

(६)

सुश्लाघते यामनिशं त्रिलोकी
तां निन्दयन्ती प्रतिभासि मे त्वम् ।
उन्मादयुक्ता, किमु सन्निपात-
ग्रस्ता, पिशाचस्य करे गता वा ?

जिस मुझे तीनों लोक अहर्निश साधुवाद से प्रसन्न करते हैं, उसी की तू निन्दा करती है! मुझको जान पड़ता है, तुझे उन्माद हुआ है, अथवा उन्माद नहीं तो सन्निपात हुआ है, अथवा सन्निपात नहीं तो तेरे ऊपर कोई पिशाच सवार है ।

(७)

"अहं जगज्जीवनहेतुभूता"
यदेवमेव बहुशो विकत्थ्य ।
इतस्ततस्ताण्डवमातनोषि
जानामि तत्सर्वमहं यथार्थम् ।।

"मैं ही सब जीवों के जीवन का कारण हूँ", इस प्रकार पुनः पुनः प्रलाप करके चारों ओर, जो तू अपना नाच-कूद दिखला रही है, उसका मर्म मैं भली भाँति जानती हूँ ।

(८)

स्वस्यैव दोषञ्च गुणञ्च सम्यक्
नेत्रद्वयं पश्यति न स्वकीयम् ।
तत्त्वं मुखान्मे शृणु तत्त्वमद्य
यद्यस्ति वाञ्छा श्रवणे त्वदीया ।।

अपने ही दोष अथवा अपने ही गुण को, अपने ही नेत्र, अच्छे प्रकार से नहीं देख सकते। अतः यदि तेरी इच्छा सुनने की हो, तो तू आज मेरे मुख से अपनी यथार्थ लीला सुन ।

(९)

विभाव्यते चण्डि ! मयेति नूनं
समस्तदेशार्दनतत्परस्य ।
अवर्षणस्याद्य न तस्य कोऽपि
स्मृतिं विसस्मार विकम्पदात्रीम् ।।

हे चण्डि ! (लडाकी) मैं समझती हूँ, समस्त देश को पीडित करनेवाले, उस अकाल की, कम्पोत्पादक सुधि, अभी तक किसी को नही भूली।

(१०)

भिक्षारतामख्यमनुष्यजाति-
रहो प्रसादेन तवैव पश्य ।
विना जल वृष्टिभव विनान्न
कीनाशदेशातिथितामवाप ॥

देख, उस समय, तेरे ही प्रसाद से, विना पानी और विना अन्न के असख्य मनुष्य, क्षुधार्त्त हो होकर, यमपुरी को चले गये ।

(११)

वध्वश्च वाला विन्नवात्वमापु-
र्नरा पितृभ्रातृवियुक्तताञ्च ।
विचिन्त्य तत्तन् हृदय जनाना
हा ! हन्त ! ! हा हा ! ! ! शतधा प्रयाति ॥

नवीन विवाहिता स्त्रियाँ वि वा हो गई, मनुष्य विना भाई और विना वाप के हो गये। हाय ! हाय ! उन वातो का स्मरण होते ही कलेजे के सौ टुकडे हो जाते हैं !

(१२)

त्व* सैव पापे ! खल वत्सरेऽस्मि-
न्देशानहो मालवगुर्जरादीन् ।
पुनश्च निर्मानुनता विनेतु-
मवर्षणेनैव समुद्यताऽसि ॥

हे पापिनी ! वही तू, फिर भी, इस साल, पानी न वरसा कर, गुजरात, मालवा इत्यादि देशो को मनुष्यहीन करने पर उद्यत हुई है !

(१३)

विकत्थमे दुर्मुखि ! जीवदान-
कथा मुहुस्त्र कथयन तथापि।

---

* यह पद्य फरवरी, १९०० में लिखा गया है ।

विधाय कर्म्मेदृशमप्यनर्हं,
न लज्जसे ? धिक् तव साहसिक्यम् ।।

हे दुर्मुखि ! (बुरे मुखवाली) तिस पर भी तू, पानी बरसा कर लोगो को जीवदान देने की कथा, बारबार इधर उधर कहती फिरती है। स प्रकार का अनार्य कर्म करके भी तुझे लज्जा नही आती! तेरे साहस को धिक् !!

(१४)

विहारदेश सहसा बभूव
प्रायो विनष्ट सलिलाप्लवेन।
दिनानि जातानि बहूनि नैव
न विश्रुत तत्किमु मेघमाले ?

हे मेघमाले ! अभी बहुत दिन नही हुए, बूडा आने से प्राय सारा विहार-प्रान्त सहसा जल-मग्न हो गया। क्या यह भी तूने नही सुना ?

(१५)

मृता मनुष्या पशवो हताश्च
गता जले ग्रामगणा अनेके।
पिनाकपाणिर्मे न विद्यतेऽस्मिन्
साक्षी, त्वदीयोऽपि च वज्रपाणि ।।

अनेक मनुष्य मर गये, अनेक पशु मर गये, अनेक ग्राम रसातल चले गये। मै क्या झूठ कहती हूँ। कदापि नही। इस विषय में मेरे शकर साक्षी है, तेरे भी साक्षी इन्द्र है। उनसे पूछ।

(१६)

अयं प्रसादोऽपि तवेति लोके
विलक्षण वेत्ति मनुष्यवर्ग ।
दत्ते च तुभ्य बहु धन्यवाद
त्वया गृहीत स न वा, न जाने ।।

यह भी सब तेरा ही प्रसाद है। इस बात को सब लोग विलक्षण प्रकार से जानते है। जानते ही नही किन्तु तुझे धन्यवाद भी देते हैं! मै नही जानती, उनका धन्यवाद तूने ग्रहण किया अथवा नही !!

(१७)

नृशसताभ्यासपराङ्मिमा स्वा
कृतिञ्च विस्मृत्य तथापि कृष्णे!
चराचरप्राणवनप्रदान-
भेरी भृश वादयसीति चित्रम् ॥

हे कृष्णे! तिस पर भी, तू, अपनी एतादृशी मनुष्यसहारकारिणी कृति को भूलकर, चराचर को प्राण-दान देने की दुन्दुभी बजाती फिरती है। यह महा आश्चर्य की बात है!

(१८)

धन्या त्वदीया किल सत्यताया
प्रीतिश्च, धन्यस्तव, युक्तिवादः।
धन्यञ्च धाष्टर्यं ननु मेघमाले!
त्वञ्चापि धन्या स्वयमेव बाले!

मेघमाले! धन्य तेरी सत्य प्रीति! धन्य तेरी बातचीत करने की युक्ति! धन्य तेरी धृष्टता! धन्य तू स्वय भी!

(१९)

गृह्णासि पाथोऽधिपतेश्च यस्मात्
पाथ सदा पाणियुग प्रसार्य।
करोषि तस्मिन्नपि वज्रपातं,
हा हा विवेकस्तव कीदृशोऽयम् ॥

जिस समुद्र से सदैव हाथ जोड जोड तू पानी लेती है, उस पर भी तू वज्रपात करने से नही चूकती। हाय! हाय! तेरा यह अविवेक कैसा ?

(२०)

जानासि किं त्वन्न तवैव योग
प्राप्य प्रिया प्रेमपरा निशायाम्।
केलिस्थल सत्वरमेव गत्वा
कुर्वन्ति पाप व्यभिचारजातम् ॥

क्या तू नही जानती कि रात में, तेरे योग मे अधिक अन्धकार देख,

कामान्ध स्त्रियाँ, सकेतस्थान को जाकर, व्यभिचारजात घोर पातक करती है।

(२१)

तवैव योगेन निशि प्रहृष्टा-
श्चौरा धन ' धान्यमहो हरन्ति ।
दशन्ति सर्पा अपि घोररूपा
यदासि रात्रौ गगने त्वमेव ॥

तेरे ही योग को पाकर, प्रसन्नतापूर्वक, रात्रि में, चोर लोग धन-धान्य सभी हरण करते है। यही नही, किन्तु, रात्रि में जब तू आकाश आच्छादित कर लेती है तभी बडे बडे घोर सर्प भी लोगो को दश करते हैं।

(२२)

हे धूम्रवर्णे ! जलवाप्पदेहे !
कृष्णे ! न चाहङ्कृतिमुद्वहस्व ।
स्वल्पा स्थिति स्वामनुलक्ष्य तिष्ठ
वातोऽपि ते घातकरौ समर्थ ॥

हे धूम्रवर्णे ! हे जल-वाप्पदेहे ! हे कृष्णे ! बहुत घमड मत कर। तेरी स्थिति दो ही चार घडी की होती है। उसे न भूल। चुपचाप बैठी रह। और की तो बात ही नही, य कश्चिन् एक छोटा-सा वायु का झकोरा भी तुझे समूल उडा ले जाने के लिए बस है।

(२३)

दुर्वर्षिणि ! क्वापि भविष्यसि त्वं
प्रहर्षिणी मे न वदामि सत्यम् ।
पर्जन्यपूर्ति मदमित्रनेत्र-
धारा करिष्यन्ति सदा यथेच्छम् ॥

हे दुर्वर्षिणी ! तू मेरे लिए कभी भी प्रहर्षिणी (आनन्द देनेवाली) नही हो सकती। यह मैं सत्य कहती हूँ। तेरे बिना मेरा काम न चलेगा—यह तू मत समझ। मुझको, मेरे शत्रुओ के नेत्रो से निकली हुई अश्रुधारायें, वृष्टि का काम देने के लिए सदा अल होगी।

१५—कथमहं नास्तिकः

(२७ मई, १८९९ इत्येतत्तिथे राजस्थान-समाचारपत्रे प्रकाशित)

(१)

जागर्ति देव! तव शक्तिरनन्तरूपा
व्याप्ता चराचरमये भुवनत्रयेऽस्मिन्।
तारापथे, भुवि, नरे च, नरेश्वरे च
तोयेऽनले, मरुति, मृद्यपि साऽऽविरास्ते॥

हे देव! आपकी अनन्त शक्ति, इस चराचर पूरित त्रिभुवन मे व्याप्त होकर, देदीप्तमान हो रही है। वह कहाँ नही है? आकाश में, पृथ्वी में, राजा में, प्रजा में, अग्नि में, जल में, वायु में, सब कही है। और कहाँ तक कहे—मृत्तिका तक में वह विद्यमान है।

(२)

पश्यामि तां भुवननायक! भूतमात्रे
दृष्टं हि नैकमपि वस्तु तया विहीनम्।
एतन्मुहुर्मुहुरहं मनसा विचिन्त्य
पारं न यामि परमेश्वर! ते महिम्नः॥

हे भुवननायक! आपकी उस अनन्त शक्ति को हम भूत मात्र में देखते है। एक भी तो वस्तु ऐसी नही जिसमें वह अधिष्ठित न हो। बारम्बार यही सब मन ही मन चिन्तन करके, आपकी महिमा के पार जाने से, हम असमर्थ हो रहे है।

(३)

पत्रं न कम्पमयते धरणीरुहाणा—
माज्ञां विनैव तव तत्त्वविदो वदन्ति।
जानामि सर्वमहमीश्वर! चेदमीदं
तर्हि प्रभो! कथमहो ननु नास्तिकोऽस्मि?

हे ईश्वर आपकी आज्ञा बिना पत्ता तक नही हिलता—यह बडे बडे तत्वज्ञानी महात्मा कह रहे है। इस बात को हम भी भली भाँति जानते है, फिर हे प्रभो! हम नास्तिक क्योंकर है? यह हमें नही समझ पडता।

(४)

वेदास्त्वदीयवचसा यदय विलासो
जानाम्यह तदपि, तान् हृदि धारयामि।
केनास्तु नाम मम नास्तिक ? इत्यवैषि
त्वञ्चेद्दया न ! दयालुतयाऽभिधेहि ॥

चारो वेद आपकी वाणी का विलास है अर्थात् आपही के मुख से निकले हुए है, इसे भी हम जानते है, जानते ही नही किन्तु वेदो को हृदय मे मानते भी है। फिर हमारा नाम, "नास्तिक" क्योकर ो सकता ै? हे दया न ! यदि इसका भेद आप जानते हो तो, दया करके आपही हमें वतला ए।

(५)

लोकैकदीपकमणौ द्युमणौ त्वदीय
सत्व चकास्ति खलु यत्तिमिरापहारि
तस्यैव के.ऽपि भुवनाधिपते ! सदशो
रथ्यारज कणगणेषु विराजतेऽयम् ॥

हे भुवनाधिपते ! त्रैलोक्यदीपक सूर्य मे, अन्धकारनाशक आपका जो सत्व चमक रहा है, उसी का कोई क्षुद्र अश गलियो में पड़े हुए रज -कणो में भी विराजमान है।

(६)

जानाति तत्त्वमिदमेव सदा जनो यो
ब्रूहि त्वमेव भगवन् ! किमु नास्तिकः सः ?
एव भवेद्यदि तदा जगतीतलेऽस्मिन्
मन्ये ह्यभावमहमीश ! सदास्तिकानाम् ॥

हे भगवान् ! जो मनुष्य इस तत्त्व को जानता है, आपही कहिए, क्या वह नास्तिक है ? हे ईश ! यदि यह वात सम्भव है, तो इस महीतल में, हमारी समझ में, कोई आस्तिक ही नही, सभी नास्तिक है।

(७)

मूर्तिस्तु नौमि निखिलेष्वमगलयेषु
नाह, न, देव ! शृणु सत्यवचो वदामि।

सत्ता विलोक्य सकले जगति त्वदीया
प्रीतिस्तथाप्यतिशया प्रतिमासु नो मे ।।

हे देव ! जितने देव-मन्दिर है, उनमें स्थापन की गई मूर्तियो को हम नमस्कार नही करते, ऐसा नही, हम नमस्कार करते है। हमारे इस कथन को आप सत्य समझिए। तथापि, आपकी सत्ता को, इस सारे जगत् में विद्यमान देख, केवल प्रतिमाओ में ही हमारा अतिशय प्रेम नही।

(८)

आश्चर्यमेतदखिलेश ! न ते प्रभूता
शक्ति विलोकयत एव चराचरे मे।
सर्वत्र पश्यति तव प्रभुता प्रभो ! य
स त्वेकवस्तुनि कथ विदधातु भक्तिम् ?

हे अखिलेश ! आपकी महती शक्ति को, चराचर में देखनेवाले हमारे लिए, यह कोई आश्चर्य की बात नही। हे प्रभो ! आपकी प्रभुता को जो, सर्वत्र, सारी वस्तुओ में, देख रहा है, वह एक ही वस्तु की भक्ति में, किस प्रकार लीन हो सकता है ?

(९)

एतादृश जनमथो खलु ये विमूढा
आस्तिक्यतत्त्वरहित प्रवदन्ति, ते तु।
मैरेयनाशितधिय किमुत त्रिदोष-
पाशीकतानहृदया किमु नेत्रहीना ?

ऐसे मनुष्य को, जो मूढ नास्तिक कहते है, वे हमारी बुद्धि में मद्यप्राशन करके मतवाले हो रहे है, अथवा सन्निपात की पाश में फँसे है, अथवा आँखो के अन्धे है।

(१०)

द्रष्टु वधूजनमुखानि सुरालयेषु
साय प्रभात इह यत्क्रियते प्रयाणम्।
लोका स्तुवन्तु यदि नाथ ! तदेव नूनं
हा हा ! हन्त ! ! जगदधीश ! तदाऽऽस्तिकत्वम् ।।

हे जगदधीश ! जो लोग मृगनयनी कामिनी जनो की ओर घूरने

ही के हेतु, देवालयो को, सवेरे और सायकाल, जाते हैं उन्ही की सव कोई यदि प्रशसा करे, तो, हाय! हाय! आस्तिकता अस्त हो गई समझनी चाहिए!

(११)

हस्त निधाय जगदीश ! पटान्तरेषु
प्रातस्त्वनेकविध मन्त्रजपच्छलेन।।
कुर्वन्ति येऽन्यजनपीडनचिन्तनानि
तेभ्यो मदीयनमनानि लसन्तु दूरात ।।

हे जगदीश! तिदिन, प्रात काल, हाथ को कपडे में छिपा कर अनेक प्रकार के मत्र जप करने के मिष, जो लोग, दूसरो को पीडा पहुँचाने ही का चिन्तन करते हैं, उनको हमारा दूर ही से नमस्कार है!

(१२)

एवविधैव भुवि धार्मिकता जनेषु
तोष तनोति यदि देव ! तनोतु कामम्।
प्राणात्ययेऽपि ननु नाभिलषाम्यह ता
स्वैर जनाभिहितनास्तिकता ममास्तु।।

हे देव! यदि इसी प्रकार की धार्मिकता से लोगो को सन्तो होता हो तो, वहुत अच्छी वात है, वह भली भाँति सन्तुष्ट होवें। परन्तु हम तो प्राण जाने तक भी उस प्रकार की धार्मिकता की अभिलाषा नही रखते। लोग हमको भले ही नास्तिक कहा करें।

(१३)

कृत्य विधाय जगतीह मलीमस ये
भाले दधत्यमलचन्दनपंकलेपम्।
तेषा निशम्य गणनामतिधार्म्मिकेषु
हास्य जहाति जगदीश्वर ! नो मदास्यम्।।

हे जगदीश्वर ! इस ससार में काले से भी काले कर्म करके, जो लोग ललाट पर चन्दन का सफेद लेप लीपते हैं, उनकी भी गणना जब हम वडे वडे धार्मिको में सुनते है, तव हमारे मुख में, हँसी किसी कार नही रुकती।

(१४)

ये सन्ति म्र्मनिचया रणीतले ऽस्मि-
न्नेका दयैव सकलेषु च सारभूता।
जानन्ति तत्त्वमिदमीश्वर ! बालवृद्धा
श्रद्धास्तु, नास्तु, रुचिभेदवशेन तस्मिन्॥

हे ईश्वर ! इस भूतल में जितने धर्म है, सबमें एक मात्र दया ही सार है। छोटे-बडे सभी, इस सिद्धान्त को मानते हैं। फिर चाहै रुचि-वैचित्र्य के कारण उसमें उनकी श्रद्धा हो अथवा न हो।

(१५)

सद्धर्म्मसारमनुमाय यथामतीदं
शोकार्त्तबालविधवासु दया दधेऽहम्।
तेनैव नास्तिकनर किमहं भवेयम्?
पश्य त्वमीश ! जडता जगतोऽस्य केयम्?

हे ईश ! इस प्रकार, यथामति, सब सद्धर्मों का सार समझकर, शोकार्त्त बाल-विधवाओ के ऊपर हमको दया आती है। तो क्या इससे हम नास्तिक हो गये? देखिए तो सही, ससार की इस जडता का कही ठिकाना है?

(१६)

धर्म्मस्य मूलमिह देव! यदि प्रकृष्ट
आचार एव सुविचारकलोकदृष्ट्या।
तर्हि प्रयान्तु विलय श्रुतयस्त्वदीया
अब्धौ पतन्तु तरसा स्मृतयोऽस्मदीया॥

हे देव ! सुविचारक जनो की दृष्टि में, उत्कृष्ट आचार ही यदि धर्म का मूल हो तो, आपकी श्रुतियाँ विलय को प्राप्त हो जावें और हमारे पूर्वजों की स्मृतियाँ भी समुद्र में डूब मरें? उनकी आवश्यकता ही फिर क्या रह गई?

(१७)

ईश ! श्रुतिस्मृतिपथ प्रतिवासरञ्च
के न त्यजन्ति वहुवारमिहैव नूनम्?
एते तु धार्म्मिकशिरोमणयस्तथापि
ग्लानिं भजन्ति भुवनेश्वर ! नो कदापि!

हे ईश! श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित मार्ग का—एक बार नहीं अनेक बार—कौन नही उल्लघन करता? तथापि हमारे धार्मिक-शिरोमणि, ऐसा करके भी, मन में किञ्चिन्मात्र भी ग्लानि नही लाते!

(१८)

रूढिं विहातुमथ यो यतते परन्तु
त, दुर्बलमृगहरिण किल केसरीव।
विश्वेश! पश्यति रुषा रुगनेत्रलोको
हा हा! विवेकविषये किमियत्युपेक्षा!!

परन्तु, हे विश्वेश! रुढि मे वाहर होने की जो मनुष्य जरा भी इच्छा करता है, उसको—दुर्बल हरिण की ओर शेर के समान—लोग क्रोध से नेत्रो को लाल लाल करके देखते है। हा विवेक-ग्रहण में तनी उपेक्षा!!!

(१९)

आचारमात्रपरिपालनलीन एव
लोके किलास्तिकनरप्रवरो, जनोऽन्य'।
घोरो हि नास्तिक—इति ब्रुवता नराणा
स्वल्पापि देव! समुदेति कथ न लज्जा?

हे देव! "आचारमात्र के परिपालन मे जो लीन हो रहे हैं, वही आस्तिको मे श्रेष्ठ हैं, शेष सब मनुष्य घोर नास्तिक हैं" इस प्रकार प्रलाप करनेवालो को जरा भी लज्जा नही आती।

(२०)

यत्ते स्वय जगदिदं परिवृत्तिशील,
देवाधिदेव! तदहो! ननु को न वेत्ति?
आचार एव भजतु स्थिरतां कथं त-
न्नैसर्गिकं नियममीश! विहाय भूभौ॥

हे देवाधिदेव! आपका वनाया हुआ स्वय यह जगत् ही परिवर्तनशील है—कुछ न कुछ फेरफार इसमें हुआ ही करता है, इस वात को कौन नहीं जानता? हे ईश! फिर इस नैसर्गिक नियम को छोडकर, अकेला आचार ही किस प्रकार एक ही दशा में स्थिर रह सकता है?

(२१)

किं भूयसाऽस्ति ! भगवन् ! न बिभेमि नूनं
लोका ब्रुवन्तु नितरामिह नास्तिकं माम् ।
विश्वं विलोकयति नेत्रयुगञ्च याव-
त्तावद्भवामि भुवनेश ! न तादृशोऽहम् ॥

हे भगवन् ! और अधिक कहना-सुनना व्यर्थ है। हमको सब लोग यथेच्छ नास्तिक कहें, हम डरते नही। हे भुवनेश ! जब तक हमारे दोनो नेत्र, आपके निर्मित स संसार-चक्र को देख रहे हैं, तब तक तो हम, किसी प्रकार, नास्तिक नही हो सकते।

(२२)

हस्तं कदापि कलितो न हि गोमुखीषु
सन्ध्यापि देव ! समये समुपासिता न।
जानासि सर्वमिदमेव वदाम्यहं किम् ?
स्वान्ते सदैव यत ईश ! विराजसे त्वम् ॥

हे देव ! हमने भूल से भी कभी, गोमुखी में हाथ नही डाला, यही नही, किन्तु यथा-समय सन्ध्योपासन भी नही किया। हे ईश ! यह सब आप स्वयं जानते ही हैं, हमारे कहने की क्या आवश्यकता ? क्योंकि आप तो सदैव सबके हृदयारविन्द में विराजमान हैं।

(२३)

नित्यं जपामि यदहं शुचिसत्यसूत्रं
लोके तदस्तु मम मन्त्रजपं पवित्रं ।
या सज्जनेषु भगवन् ! मम भक्तिरेषा
सैव प्रभो ! भवतु देवगणस्य पूजा ॥

हे भगवन् ! पवित्र सत्य का जो हम सदैव जप किया करते हैं, उसी को आप हमारा मन्त्र-जप समझिए, और सत्पुरुषों में जो हमारी भक्ति है, उसी को, हे प्रभो ! हमारी देवपूजा मानिए।

(२४)

सर्वेषु जीवनिचयेषु दयाव्रतं मे
श्रेयो ददातु नियतं निखिलव्रतानाम् ।

अच्छाच्छचन्दनरसादपि शीतलो मा-
मानन्दयत्वनिशमीश ! परोपकार ॥

हे ईश ! जीवमात्र के वि य में हमने जो दयाव्रत धारण किया है, वही, हमारे लिए, प्रदोपादि सारे व्रतो के फल का दाता होवै; और उत्तमोत्तम चन्दन से भी अधिक शीतलता को धारण करनेवाला परोपकार, सदैव, हमको आनन्द देता रहे !

(२५)

अन्यद्ब्रवीमि किमह ? जगदेकबन्धो !
बन्धुर्न कोऽपि मम देव ! सुतोऽपि नास्ति।
तन्नास्तिकस्य भगवन्नथवाऽस्तिकस्य
हस्ते तवैव करुणाम्बुनिधे ! गतिर्मे ॥

हे देव ! और अधिक हम क्या कहे ? आप इस जगत् के एकमात्र बन्धु है, परन्तु ससार में हमारे कोई बन्धु नही, पुत्र भी कोई नही है। अतएव, हे करुणा-सागर ! हे भगवन् ! इस नास्तिक अथवा आस्तिक की गति केवल आप ही के हाथ में है।

१६—नागरी का विनय-पत्र

(१५ मई, १८९९ के भारत-जीवन में प्रकाशित)

(१)

मेरे प्रचार हित यत्न भये अनेका,
पै हा ! अभाग्यवश सिद्ध भयो न एका।
न्यायालयादि महँ होय न मत्प्रवेश;
कासो कहौं अपनि दीनदशा महेश !

(२)

मेरे सुयोग्य सुत जे, तिन धैर्य्य धारी,
कीन्हे उपाय बहु, देखि दशा हमारी।
काहू सुनी न अबलौं मम दु.खगाथा,
आवै हिए भरहुँ आपन फोरि माथा ॥

(३)

स्वीकार हाय! सरकार करै न मेरो,
धिक्कार मोहिं, कित जाय करो बसेरो?
घोरान्धकार अब मोहिं चहुँ दिखाई,
खाई न जाय अहिफेन तऊ दुराई॥

(४)

आत्मापघात करते करते बनै ना,
भारी बहाय जलधार थकै न नैना।
है एकमात्र अवशेष उपाय ईश!
कै ताहि कर्म्म कहँ नावब नष्ट शीश॥

(५)

राजर्षि राज-गण पूजित राजरानी,
विश्वोपकार-रतदान-दयादि-खानी।
विक्टोरिया नगर लण्डन में विराजै,
जासु प्रताप लखि दिव्य दिनेश लाजै॥

(६)

ताके सुराज्य महँ निर्बल जाति नारी;
सम्मान पाय विहरै सुखयुक्त सारी।
हुकार मात्र जिनकी सुनतैऽधिकारी,
धावै तुरन्त सिगरे करि कोप भारी॥

(७)

ताही महामहिमरानि-निदेश धारी,
सर्वोच्च तत्प्रतिनिधि-प्रतिमानुकारी।
है जो प्रयाग महँ धर्म-धुरीण लाट,
तद्द्वार ओर गत लैहहुँ आजु वाट॥

(८)

कै कै कठोर हिय धीरजहू दृढाई,
लज्जा विहाय बहु वार नम सुनाई।
आज स्वय विनयपत्रक हौं लिखै हौं,
स्वप्रान्त-लाट-मुख-सम्मुख यों सुनैहौं॥

(९)

न्यायी ! दयावन ! महाप्रभु ! दीनवन्धो !
नारी पुकार सुनियो करुणैकसिन्धो !
आवौ स्वकीय गृह वाहर नाथ ! आवौ;
आवौ, न वेर अव आज अहो लगावौ ॥

(१०)

एतत्प्रदेश-नगरी-पुर-खेर-वासी,
आवाल, वृद्ध, वनिताजन, दास, दासी ।
माता समान सव मोहिं चहैं सदाहीं,
तो सो छिपी तनिकहू यह वात नाही ॥

(११)

मैं हूँ अतीव रुचिराकृत धारि रूपा,
सेवौं सवैहि सम जानि भिखारि भूपा ।
विख्यात विश्व विच अद्भुत शुद्धि मेरी;
शका अलीक यह—होहि मदर्थ देरी ॥

(१२)

चाहै लिखै निपट अल्प वयस्क वाल;
सो अन्यथा न कहुँ कोउ पढ़ै त्रिकाल ।
सत्यानुराग मम ईदृश चित्त लाई,
वैठे विपक्षि—जनहू सहसा लजाई ॥

(१३)

तो हे कृपा-कुल-पते ! गत-पक्षपात !
काहेऽधिकार मम मोहिं न देहु तात ?
न्यायाधिदेवहि यदि प्रभु ! सत्य वात,
त्यागैं, तदा हठि हताऽस्मि विशीर्ण-गात ॥

(१४)

द्वै चारि चारुमति जे विपरीत भाखै,
स्वार्थान्ध ते तजि सिता शुचि, राख चाखै ।
सौ में करैं जु दश पाँच विपक्ष-जाप;
को वुद्धिशील सुनिहै तिनको प्रलाप ॥

(१५)

जो सत्य में गुणवती, नृपधर्म सत्य,
प्राय प्रजा सब चहै यदि मोहिं सत्य।
तौ सत्यशील! तुम कारण तौ बतावौ,
जा सो मदीय बिनती मन मे न लावौ॥

(१६)

सत्यानुयायि सुकरात महादुरन्त,
प्राणापहारि विष पान कियो तुरन्त।
गैलीलियोहु भुव मध्य भयो महाना,
सत्यानुरोध सिगरो जग जासु जाना॥

(१७)

लै सत्य पक्ष, तजि जीव, यश प्रसारा,
क्राइस्ट कीन्ह चहुँ जानत विश्व सारा।
तौ सत्य जीति करिहौ तुम जो न हा हा!
हे नाथ! तोहिं कहिहैं सब लोग काहा?॥

(१८)

जेती प्रजा सकल सन्तति तुल्य मेरी,
मत्प्रीति रीति तिनमें अति ही घनेरी।
तौ लौं रुको न करि तासु तथापि सेवा,
जौं लौं सहाय तव मोहि मिलै न देवा!

(१९)

नीके निकारि तव इंग्लिश वर्ण शाखा,
इँग्लैण्ड माहिँ हिवरु यदि होहि भा ।।
तो मद्विपत्ति सव नाथ! घरी मँझारा,
होवै त्वदीय हृदयस्थ भले प्रकारा॥

(२०)

तेरी दया वह कहाँ भगवन्! सिधारी?
मेरी विहार महँ जै विपदा विदारी।
सोऊ त्वदीय करुणा क्व? अकाल जाने,
लाखों मनुष्य जिहि अर्द्धमरे उवारे॥

(२१)

कीन्हे प्रजा दुख-विनाशक-काज नाना;
दीन्हे अनेक अबलौं अभय प्रदाना।
भ्रूभग मात्र महँ होहि भलो हमारो,
कार्पण्य तद्गत न युक्त अहो तिहारो॥

(२२)

श्रेय क्रिया जितिक, विघ्न विना न होही;
जानो स्वय तउ करो न कृतार्थ मोही।
देव! त्वदीय नहिं दोप, अभाग्य मेरो;
पावौं न मेरु मन जो कण हेम केरो॥

(२३)

विद्वद्धुरीण तव केतिक देश वारे;
सानन्द नित्य गुणगान करैं हमारे।
इस्लामजाति-नरपुगवहू कितेक;
सत्साधुवाद मम हेत कहैं अनेक॥

(२४)

तौहू अहो प्रभुवर! प्रभुता बिचारी;
अत्यल्प-विघ्न-भय-सम्भ्रम-चित्त धारी।
मान्यौ न नाथ! अवलौ विनती हमारी;
आश्चर्यकारि यह नीति नई तिहारी॥

(२५)

जाके सुराज्य महँ नाग सती न पावैं,
होतैं सुता न यमराज पुरी सिधावैं।
उद्दण्डदाप पति की लहिं अल्पवाला;
प्राणान्त दु ख सहती न कदापि काला॥

(२६)

ताही प्रभो! वृटिश-वश विशाल माही,;
त्वज्जन्म,—याहि विनरी निमिषार्द्ध नाही।
आगे कहौं कहा? कढै मुख ते न वानी,
दु खातिरेक-वश वात सबै भुलानी॥

(२७)

माता जु सुत सुता सन छूटि जाही,
होवै किती दुख परस्पर देहदाही।
लेडी स्वकीय सन या विधि पूछि, नाथ!
कीजै यथा उचित; नावहुँ तोहि माथ॥

(२८)

मैं नारि जाति, अबला, शिथिलांग, दीना;
द्रव्यादि कार्यकर सर्व सहाय हीना।
श्रीमल्ललाम म्यकडानल धाम जाई,
मध्यस्थ छोडि विनती मम को सुनाई॥

(२९)

ताते महान् मदनमोहन मालवीय!
दीजो पठाय यह पत्रक मद्द्वितीय।
विज्ञप्ति एक इतनी सुनियो मदीय,
होवो चिरायु, यश नित्य वढै त्वदीय॥

१७—सुतपञ्चाशिका

(८ जनवरी, १९०० के भारतमित्र में प्रकाशित)

(१)

दिन विगत भये पर एक वार, सदवंश-जात अति ही उदार।
चिरमित्र एक मम गेह आय, वोलेहु, यहि विधि मो सन सुनाय॥

(२)

करि राजकाज सव, आजु, मित्र! घर आय एक लीला विचित्र।
देखी तिहि विपयक सर्व वात, हौं तोहिं सुनावहुँ सुनिय तात॥

(३)

पद धारि गेह, पुनि पट उतारि जहँ के तँह सारे धरि सँवारि।
अन्त प्रवेश करि, दृश्य एक, लखि मोहिं भये संशय अनेक॥

(४)

माता मदीय विस्रस्तकाय, कर में कपोल करि, शीश नाय।
दृग दोउन से अँसुआ बहाय, बैठी, जनु निज सर्वसु गँवाय॥

(५)

मुख पै लट लटकत तीनि चारि, अवलोकत होवहिँ कप भारि।
धोती मलीन इक अग धारि, कछु सोचति-सी सुधि बुधि बिसारि॥

(६)

यह देखि भयो मम विकल चित्त, पत्नी तन हेरन के निमित्त।
गृहकोण माहिँ लोचन चलाय, जो दशा दीख सो कहि न जाय॥

(७)

मुख ऊपर घूँघुट-घटा तानि, रहि रहि सह सिसकी रुदन ठानि।
तन बसन सवै महँ धूरि सानि, फुफकरति मनहु नागिनि रिसानि॥

(८)

बनगमन-नाहि, वरु वज्रपात, मुनि इतो न दुख किय राम मात।
पतिनिधन जानि घननादनारि, पाई न विकलता इती भारि॥

(९)

सहधर्मचारिणी - नयन-वार, लखि समरथ फोरन में पहार।
अनुमान अमित किय हिये माहिँ, दुख हेतु सके हम जानि नाहिँ॥

(१०)

भयभीत पीतमुख विकलगात, करकपत हियरो थरथरात।
तव जाय मातु पहँ, डरत जात, जिमि तिमि, हम या विधि कही बात॥

(११)

हे अम्ब! कहहु किन, भयो काह? किहि कारण है यह दुख अथाह।
सुनि सुनि यह मातु! तिहारि आह, हौं पावहुँ दुस्तर देहदाह॥

(१२)

यदि कीन कोउ अपमान आय, कलिहौ तिहि ऊपर 'ममन' जाय।
यदि मौहिं मातु! अपराध-मद्म, मम माथ तिहारे पादपद्म॥

(१३)

हे अम्व! धैर्य अवलम्ब लेहु, इतनो वर माँगे मोहिँ देहु।
कहिये, कहिये, कहिये, बुझाय, किहि हेतु मची यह हाय हाय?

(१४)

सुनि या विधि मद्विनतो विनीत, अनुमानि मोहिँ अतिमात्र भीत।
जननी दुखपावकदग्ध मीत! आरम्भ कीन इमि बातचीत॥

(१५)

पूछहु कह मोसन बार बार, अनजान बने तुम हे कुमार!
सुधि लेत नही मम इष्ट देव, कछु जानि परै न अदृष्टभेव॥

(१६)

मै और वह व्रत किय अनेक, उपवास न जानहुँ धौं कितेक।
सुर ध्यान रो, बहु करो दान, सनमाने भूसुर, बुध, महान॥

(१७)

बरसो सन्तान-गोपाल मत्र-जप भयो, बँधाये विविध यन्त्र।
हरिवश पुराणहु बार सात, उन सुन्यो, न तउ कछु कहुँ दिखात॥

(१८)

सुनि मत्र तथैव पुराण वानि, भय भयो न्यून मम, मर्म्म जानि।
सुव्यर्थ सर्व यह घटाटोप, लखि उपज्यो मन महँ कछुक कोप॥

(१९)

तउ मान्यमातृ कर राखि मान्य हठि बीचहि मे हम कछु कहा न।
उन सोइ पूर्ववत अपनि गाथ, गाई इमि मन्द, नवाय माथ॥

(२०)

तुलसी अरु पीपल पेड केरि, दस लाख प्रदक्षिण कीन घेरि।
जल जड मे इनकी टारि टारि, कितनेक कूप हम किय उधारि॥

(२१)

व्रत बचे कौन जो हम न कीन? ग्रहदान कौन जो हम न दीन।
उपदेश कौन जो हम न लीन? हा हन्त! तऊ सुत सुत-विहीन॥

(२२)

गुरुचरणन मे करि नित्य लीन, प्रतिमास दीन ओषधि नवीन।
कीन्हे बहु यद्यपि मै उपाय, मम इष्टसिद्धि तउ भै न हाय!

(२३)

यह तनो धन, अरु, बग धाम, वन, उपवन बाग-विभाग, गाम।
हे पुत्र! कौन लैहहि समस्त? जिय विकल होत गुनि वश-अस्त॥

(२४)

विन पुत्र रही किहि विधि निशान, को दैहहि हाहा! पिण्डदान?
ये राशि राशि पोथी पुरान, कित जैहहिं तजि तव वास-स्थान?

(२५)

छल छाँडि करहु जउ शुद्ध प्रेम, स्वप्राणहु दै जउ चहहु क्षेम।
तउ अपनि होहिं नहिं जे परारि, हे पुत्र! सत्य वच ये हमारि॥

(२६)

यह सोचि, मोचि दिन रैनि धार, निज नैननि ते सुत! वार वार।
मैं पावहुँ हा हा! दुख अपार, प्रविशो जु होहि महि में दरार॥

(२७)

धिक मोहि, हाय मैं महा नीच, धिक भाग्य मोहि आवै न मीच।
धिक धिक धिक मैं पापिनि महान जिहि हियो न सुत-सुत लै जुडान॥

(२८)

यहि भाँति विविध विधि करि विलाप, सिर धुनि धुनि अति उपजाय ताप।
तन वसन केरि सुधि-बुधि विसारि, जब थाकी छाती मारि मारि॥

(२९)

निज जननी सम्मुख हाथ जोरि, बहु बार विनय करि अरु निहोरि।
तब बोले हम यो समय पाय, वाणी अवसरही पै सुहाय॥

(३०)

हे मातु! वृथा कत करहु शोक? सुनि कैहहिं कह बुधिवन्त लोक?
जामे न कछू अपनी बसाय, खेदित तदर्थ को होहि माय?

(३१)

सुत-वदन-धूरि धरि भूरि लोक, दुखहू महँ होवहिं विगत शोक।
यह सर्व सत्य, पै सुनहु तत्व, कर अपने मे नहिं ईश्वरत्व॥

(३२)

सब होहिं न जग मे पुत्रवान, न तथा सिगरे धन-धान्यवान।
बुधि, विद्या, आदिक सर्व माहिं, समता सदैव कहुँ होति नाहिं॥

(३३)

जाकी दशा जु, तिहि मे सुकर्म, करि तोष युक्त रहिवो हि धर्म।
इक पुत्र मात्र सब सौख्य-मूल, अस कहिवो भारी मातु! भूल॥

(३४)

हे अम्ब ! कहहुँ तोसों विचार, सुत में सुखसोऽधिक दुखसार।
यह केवल कल्पित कथासार, न करो तुम कबहूँ अन्य विचार॥

(३५)

हमरे सुत हाहा! होत नाहिं अस गुनि, निमग्न दुख-सिन्धु माहिं।
जब होत, तासु रोगादि काहिं लखि, पुनि दुखसागर में समाहिं॥

(३६)

यदि दुष्ट, मूर्ख, व्यभिचारि, चोर, नर पावहिं निशिदिन दुख घोर।
यदि गुणी, तासु दीर्घायु हेत, पितु मातु, बनैं चिन्ता-निकेत॥

(३७)

गुणवान मरै यदि पुत्र हाय! तब तो दुख सीमा नहिं दिखाय।
अति अगम शोक उर छाय छाय, लै जात तहँ जहँ पुत्र जाय॥

(३८)

शत सहस माहिं कहुँ इक सपूत, लखि परै, शेष सारे कपूत।
निज नैननि सों स्वयमेव निरख, जननी! तुम देखहु सत्य तत्व॥

(३९)

सुविचारि, यथा-विधि, सर्व बात नहिं मोहिं खेद कारण दिखात।
यदि होहि तनय दुर्गुण निधान, सुख दूरि दुख पावहु महान॥

(४०)

यदि निर्गुण अथवा सगुण जात,* निश्चय नहिं पहिले होहि मात।
तो सुत-विहीन रहिबो हि इष्ट, इक हेत अर्द्ध को तजहि शिष्ट॥

(४१)

लखि मातु पिता, सुतसुता हाल घर घर में सबके अति कराल।
हम भाय आपनो भव्य मानि सुखसों नित सोवहिं वस्त्र तानि॥

(४२)

तुम हौ जब लौं तब लौं निहारि आदेश हमेस करिहैं हमारि।
पीछे त्वदीय कथनानुसार, ह्वै है समस्त अन्त-प्रकार॥

(४३)

धन धान देखि मोको न शोक यदि होत हाय मेरे त्रिलोक
सब दै गरिबहु-न्यून-मानि, हम लूटिन यश विनही प्रयान॥

---

* जात = पुत्र

(४४)

दुर्दैव जो न अस करत दीन, पत्नी प्रयाण पहिलेहि कीन।
तो, जो यह भारतवर्ष राज, नभारत सबके देखि काज॥

(४५)

सोई मदीय अत्यल्प वाम, पट, पुस्तक, स्त्री और दान।
लै, यथायोग्य करि तदुपयोग, सकिहै न, कहो अस कौन लोग?

(४६)

बहु पुत्रवान, जनके निधान, मिट गये, न कोऊ कतहुँ जान।
पै सुयशवान, जउ पुत्रहीन, भे अमर विश्व बिच नाम कीन॥

(४७)

सुतही सुमुक्ति-दाता प्रवीन, अस बोलहि केवल बुद्धिहीन।
जिहि जाति माहि नाहि पिण्डदान, सब जावैं नरकहि! कह प्रमान?

(४८)

सत्कर्म, धर्म अरु दयाभाव, उपकार, सदा सरल स्वभाव।
सन्मुक्ति हेत येही समर्थ, आडम्बर और विशेष व्यर्थ॥

(४९)

मरणोत्तर चाहै मम शरीर, सुरसरित जाय वा ताल-तीर।
क्षिति, नभ, जल, पावक, पवन-जाल, जहँ के तहँ जैहहि अन्तकाल॥

(५०)

मम बन्धु विश्व, तो जे विशेष, मत्प्रीतिपात्र तिनमें अशेष।
अवलोकि आजु मेरोऽवलम्ब, मन में जनि अचरज करहु अम्ब॥

(५१)

हौ सम्प्रति मैं जिन पैऽनुकूल, ते द्वै करैं जउ तउ न शूल।
मन समुझव अस, तिन कृपा कीन, गत जन्म, तासु हम फेर दीन॥

(५२)

आद्यन्त मातु! ताते विचारि, तुम धरहु धीर, सब दुख विसारि।
परितोष वाक्य मैं यो उचारि, आयहुँ इत, सम्मति कह तिहारि?

(५३)

सुहृद कथित वानी सत्यतासारपूरी, श्रुतिपथ मि आनी, वाह वा भापि भूरी।
निज मत कहि तासो, वायुसेवा निमित्त, हम उपवन आये दोउ विश्वस्तचित्त॥

१८—स्वप्न

(४ दिसम्बर, १८९९ के भारतमित्र में प्रकाशित)

(१)

कविवर लक्ष्मणसिंह भूप को आत्मरूप अविनाशी,
नगर आगरा तें चलि पहुँचो जब सुरपुर सुखराशी।
दरश निमित्त चित्त उत्कण्ठित हिये बढाय हुलास,
गयो, प्रथमही, और छोडि सब, कालिदास के पास॥

(२)

मासहीन मानुस की ठठरी ठठ्ठ समान शरीरा,
पुतो मनहुँ मुख ऊपर कारो कज्जल जल गम्भीरा।
रोष-शोक-सन्ताप-जर्जरित अस कविकुल गुरु-रूप,
लखि सशंक भयभीत भये अति मन में लक्ष्मण भूप॥

(३)

क्रमश परिचय पाय कवीश्वर डगमग पग सम्भारी,
उठे मिलन हित अश्रु बहावत, दोऊ भुजा पसारी।
सकुचे लक्ष्मणसिंह प्रथम, कहुँ हाड न हिय गडि जाहिं,
सोचि समुझि पै लयो लगाई निज हृदय-स्थल माहिं॥

(४)

कछुक काल इकएक परस्पर देखत रहे दुखारे,
मुख ते कढै न बात, यत्न बहु दोऊ करि करि हारे।
क्षत्रित्रश अवतश क्षणिक महँ धीरज हिये दृढाय,
बोले,—कालिदास जी! कहिए अपनी दशा बुझाय॥

(५)

यश दिगन्तगामी तव, मुख पै कत मलीनता छाई?
किहि कारण अति कृशित भयो तनु? दृगजल कत अधिकाई?
सुनि अस प्रश्न और दुख दारुण मानहुँ तोरि कपाट,
निकसि परो लोचन-जल मिस ते गहि मनमानी बाट॥

(६)

गद्‌गद-कण्ठ विकल, विह्वल वह रहे दण्ड इक भारी,
कविवर लक्ष्मणसिंह सान्त्वना विविध भाँति उच्चारी।
अश्रु पोंछि वहु वार वस्त्र सो लै लम्बी निश्वास,
जिमि तिमि दशा सँभारि आपनी, बोले कालीदास॥

(७)

इत आये भे दिवस मोहिँ वहु, कवितावधू हमारी,
रही उतैहि भरत भूमी महं मम प्राणन ते प्यारी।
यदपि वियोग होत ही मेरो भइ वह निपट अनाथ,
पटकि पटकि सिर मित्र! आपनो फोरो वाने माथ॥

(८)

छाया यदपि पाणिपल्लव की पाय पवित्र तिहारी,
रण्डा-दशा-जनित दुख संसृति वाने कछुक बिसारी।
हाय ताहि तुमहूँ तजि आये उर कठोरता धारि,
मित्र! मरी अव विना मीचु वह हाहा! प्रिया हमारि॥

(९)

प्राणिमात्र कहँ नारि पियारी, जानत सब संसारा,
कवितावधू परम रसिका मम हती प्राण आधारा।
तासु दुर्दशा देखि हिये के होवहिँ खंड हजार,
रौरव नरक समान स्वर्ग यह देवै दुःख अपार॥

(१०)

विक्रम, भोज आदि भूपालन जाहि महा सनमानी,
छोडि ताहि, तोता मैना की नृप अव सुनैं कहानी।
दुःख तुम्हे प्रियतमे! प्रिये! हा प्राणाधिके! अथाह,
सोचि सुखानो तनु मम, मुख ते निकरत निशि दिन 'आह'॥

(११)

लखि कामिनि कमनीय अरक्षित, विविध लोग, जग माहीं,
चाहहिँ करन आपनी ताको यदपि योग्यता नाहीं।
तद्वत कविता प्रिया हमारी इत-उत ऐंची जात,
हे त्रिशूलपाणे! त्रिपुरान्तक! धावहु विगरनि वात॥

(१२)

रस के रुचिर भेद नहिं जानत तद्यपि बाहु पसारी,
वा रसिका सो चहहिं, मोहवश, आलिंगन, बलिहारी।
भागै दूरि घृणा करि जउ वह, सरै न एको काज,
तऊ बलात्कार में नको आवै तनिक न लाज॥

(१३)

रसिकशिरोमणि कालिदास बिनु, अन्य पुरु रस भाषी,
वाहि लखाहिं हीन, पौरुष बिन, अहहिं विबु मम साखी।
पति अब वाहि और नहिं भावै विधवा वर्ष करोरि,
चाहै रहै सहै दुख दा ण मित्र! बहोरि बहोरि॥

(१४)

माता सम अथवा भगिनी सम जानि, ताहि घर आनी,
सेवै जो सनेह युत, ताकी करै सदा मनमानी।
तुम औ नासिकस्थ 'लेले' हू हे प्रत्यक्ष प्रमान,
दिग्गामिनी कीर्ति दोउन की, जानत सबै जहान॥

(१५)

अनुचित भाव धारि, हठ ठानी, नर, असमर्थ घनेरे,
व्यर्थ वशी करिबे कहं ताको, करै यत्न व तेरे।
महा सरस रमणीया रमणी विरस होति यहि भांति,
जिमि हसी लखि ताल तीर पै उजरी बगुलन पांति॥

(१६)

सहृदय-लक्षण-हीन सकै नहिं वाको जब अपनाई,
चित्र-विचित्र वस्त्र छल-बल करि देहिं ताहि पहिराई।
आडम्बर अस घृणित देखि वह औरहु दूरि पराय,
हा हा प्रिये! तिहारी या विधि, दुर्गति देखि न जाय॥

(१७)

जरमन मे कोऊ पक्षी-पर-खचित टोप उपजाई,
फ्रास देश पेरिस में कोऊ चोली चारु सिलाई।
गौन बनाय पाय लौं कोऊ लंदनवासी वीर,
करन चहहिं अनुकूल ताहि हठि हाय! होय सुनि पीर॥

(१८)

पूना-नागपूर-मदरासी धोती रंग रँगीली,
लोगन पकरि पकरि पहिराई काली, लाली, पीली।
कहुँ बनारसी कहुँ कलकतिया कहुँ बम्बई जात,
सारी लाय लाय लिपटाईं कविता-कामिनि-गात॥

(१९)

घेरदार घाँघरो अवध को कोऊ बुरो बनाई,
ग्राम वधूटिनहू की, जिहि लखि, उठै आँख अधिकाई।
बरबस पकरि प्रिया की चोटी तन महँ दीन ढकेलि,
हाहाकार सुनै नहिं नेकहु वाके जानि अकेलि।

(२०)

अमि अनर्थ निज नैननि सो तुम दीख मित्र ! बहुतेरे,
पूँछहु तऊ भये किहि कारण अंग दूबरे मेरे।
लखि निज तिय अपमान जासु मुख मषीवर्ण नहिं होय;
रोष-वेग वश सत्य कहहि हम, जानहु मनुज न सोय॥

(२१)

तनीहूँ करि रसिक-शिरोमणि ये न रहहिं अरगाई;
आगे करैं जु ताहि देखि हिय टूक टूक ह्वै जाई।
वशीभूत जब होति न वह तब तत्प्रतिबिम्ब बनाय,
गाड़न चहहिं गेह अपने महँ, हा ! हा ! हा अन्याय॥

(२२)

चित्र-कला-कौशल्य सिखे बिनु हस्त लेखनी धारी,
बैठहिं तत्प्रतिरूप उतारन करि अभिलाषा भारी।
चित्र दुर्दशा देखि उडैं सब मेरे होश-हवास,
उमगैं एक बारही तीनों क्रोध, शोक, उपहास॥

(२३)

प्रतिकृति-लेख-परिश्रम सों जनु पाय प्यास अधिकाई,
लावण्योदक प्रथमहिं क्रमश घट घट जाहिं चढाई।
कोमलता तन की, प्रसन्नता मुख की, बहुरि बहाय;
ये कृतार्थ होवहिं रविवर्मा के प्रतिपक्षी हाय!

(२४)

मुग्ध रूप मोहक कविता को क्रम क्रम सबै नसाई,
जरठा साठि वर्ष की लिखि कै मारहिं वृथा बड़ाई।
हाट-बाट सब माहिं दिखावहिं, फूले उर न समात,
हे हे विषम-विलोचन! अनरथ नहिं अस देखो जात॥

(२५)

महा महाकवि कोउ दिखावत अतिशय हाथ सफाई,
अग अग कविता की दुर्गति करैं नित्य अधिकाई।
यदि कटि लिखै, न कुच, यदि सीधो कर, मुख वक्र बनाय,
एक पैर काटै, इक राखै, त्रिनयन! होहु सहाय॥

(२६)

श्रीभवभूति आदि औरहु कवि रसिक-शिरोमणि सारे,
बसि स्वर्गहु में सहत याहि विधि कष्ट नरक सम भारे।
निज निज प्रिय-कविता-वनिता की देखि दुर्दशा भूरि,
धुनो करैं सिर, अकविवृन्द को साहस निंद्य बिसूरि॥

(२७)

कविता-कुलकामिनि कलाप की दुर्गति कहि नहिं जाती,
को अस सहृदय विश्व बीच, सुनि जाकी फटै न छाती?
इतनो स्वप्न देखि हम, इक निशि, जागे प्रात काल,
कालिदास नहिं, कहुँ, तथैव नहिं लक्ष्मणसिंह भुवाल॥

१६—मेघोपालम्भ

(४ सितम्बर, १९८९ के हिन्दी-बंगवासी में प्रकाशित)

(१)

मेघ! त्वदीय अनिरीति सही न जाई;
कँहूँ न बूँद, कहुँ दीन नदी बहाई।
नावो धराधरनि ऊपर वारिधारा,
अत्यन्त घोर अविचार अहो तिहारा॥

(२)

नीकी यथासमय वृष्टि भये विनाही,
बोयो न बीज जिन लोगन भूमि माही,
तन्मर्म्मकृन्तक कथा सुनि हाय ! हाय !
होवै न को विकल दुःसह दुःख पाय ?

(३)

देखैं कहूँ कहुँ जु शस्यलता-वितान;
ज्वारी, तिली, मृदुल मुद्गल, मोठ, धान।
ज्यों ज्यों सुखाहि नित ते, दुखिया किसान,
त्यों त्यों करै रुदन, सूखत जात प्रान॥

(४)

सप्ताह, पक्ष, दिन, रैनि, घरी प्रमान,
त्वन्मार्ग दीख हम सर्व्व सदा समान।
बीते द्विमास नहि वारिद ! वारिदान,
ठानी कहा ? कत करौ विनती न कान ?

(५)

"आर्द्रान्तरात्म बहुश करुणार्द्र होही",
भूली तदुक्ति कवि की कह आजु तोही ?
देखौ, सुनौ, जलद ! चित्त करौ विचार;
हाहामयी सकल ओर उठी पुकार॥

(६)

तेरे विना गगनमडल नाहि सोहै,
कोऽन्य त्वदीय चपला विनु चित्त मोहै ?
हे मेघराज ! तुम आज कहाँ सिधारे ?
हारे पुकारि हम भूतल लोग सारे।

(७)

एहो घन ! प्रथम आय महा अथाह,
हाहा बहाय जिन दीन पय प्रवाह।
देवौ न बूँद कहूँ, तुम सोइ भाई !
लज्जाहु, दीन दुख देखि, तुम्है न आई॥

(८)

चारा नहीं, चरहिं काह पशू बिचारे ?
सूखीहु घास मिलती नहिं, खोजि हारे।
जो लोग-कष्ट लखि तोहिं दया न आवै,
तो काह मूक पशु-दुःखहुँ ना दुखावै ॥

(९)

वापी, तडाग, अरु कूप सुखान लागे,
पक्षी, पशू अबहिं ते बिललान लागे।
रोग प्रजाविपिन-तीक्ष्ण-कुठार जागे,
पानी बिना न बचिहैं इकहू अभागे ॥

(१०)

श्रीकृष्ण-वर्ण करुणाकर केर पाई,
सीखी कहाँ इतिक मेघ ! कठोरताई ?
प्राणातिरिक्त हरि की प्रिय धेनु सारी,
देखो, उठाय सिर, काह कहैं दुखारी ?

(११)

अन्नाम्बुदान जिन जीवन को हमेश,
दै प्राणरक्षण कियो तुम निर्विशेष।
कारुण्यपात्र तिनही कर आजु काहा,
हत्याप्रकाण्ड करिहो घन ! घोर हाहा ?

(१२)

ताते अहो जलदराज ! हिए विचारी,
आवो अवश्य जनदीन दशा निहारी।
नावो यथा-उचित वारि मही-मझारी,
भारी विपत्ति, यहि भाँति, हरो हमारी ॥

———

२०——शरत्सायङ्काल

(१३ नवम्बर, १८९९ के भारतमित्र में काशित)

(१)

जाके पूर्व, प्रतिपद, घने केतकी-कुञ्ज, बाग,
झाँसी में है विमल जल सों पूर्ण "लक्ष्मीतडाग"।
एक प्यारो सुहृद सँग लै, जाय तत्तीर देश,
सायंशोभा शरदऋतु की देखि जो जो विशेष॥

(२)

सो सो सारी गुनि निज हिये नित्य ही बारबारा,
मोदोद्रेकद्रवित सिगरो देह होवै हमारा।
कोकाबेली, पवन सियरी, वारि की चारुताई,
को है ऐसो, करहिं नहिं ये जासु तल्लीनताई?

(३)

नाना पक्षी अरुण पियरे पाद औ चञ्चुवारे,
चन्द्र-ज्योत्स्ना-सम-सित घने पक्षतिद्वन्द्व धारे।
धीरे धीरे विरुत मिस ते सर्व साथी बुलाई,
ऊँची ग्रीवा करि करि उडे पक्ति सो पक्ति लाई॥

(४)

थोरी ेला कलकल भयो पक्षिसम्भूत भारी,
मानो शालाशिशुगण तहाँ वेदवाणी उचारी।
पश्चात भृङ्गाऽऽरव तजि, चहूँ पूर्णत शान्ति छाई,
तत्कालीन प्रियवर! कही जाय ना रम्यताई॥

(५)

चेतो हारी सुभगनवलानारिवक्षोजरूपा,
ऊँची ऊँची कुमुदकलिका स्वच्छ अच्छी अनूपा।
बारबार स्परशि सलिल स्निग ता सग लाई,
गन्धोद्वाही अनिल अखिल श्रान्ति देवै नमाई॥

(६)

शाली-पंक्ति-प्रचुर-रचना शोभती जासु तीरा,
अम्भोजाऽऽली-दल सन छिपो मध्य में जासु नीरा।
छोटी छोटी चपल शफरी खेलतीं जासु माहीं,
शोभाशाली अस सर करै काहि सतुष्ट नाहीं ? ॥

(७)

येही भृङ्ग भ्रमि दिवस में पद्मिनीसद्म माहीं,
आये धाई शठ अब तै, नेकहू लाज नाहीं।
मानो योंही कुमुद वनिता षट्पदव्रात काहीं,
वाताघातच्छल सन शिर कम्प कै कै रिसाहीं ॥

(८)

ज्योंही सायसमय सविता रक्तिमा धारि भारी;
अस्त प्राय भयहु गगनग्रामलीला निवारी।
त्योंही काष्ठानल महँ जरी व्योमलक्ष्मी दुखारी,
तारारू ी प्रकटित करीं आपनी अस्थि सारी ॥

(९)

ज्योंही चण्डद्युति दुरि गयो, चन्द्रमा त्योंहि आई,
व्यक्त व्योमाङ्गण महँ भयो हर्ष नि सीम पाई।
होवै एक प्रमुदित, पर त्रस्त तत्काल लोग,
हा हा देखौ विषम विधि के पूर्व्वकर्म्मानुयोग।

(१०)

जैसे जैसे विशदशशि की भासपीयू राशी,
आकण्ठाग्र द्रुततर करी पान, लै लै उसासी।
तैसे तैसे विकसनगति व्याज ते एक एका,
देखादेखी कुमुद उदरस्फोट पावै अनेका ॥

(११)

ऊँची ऊँची चपललहरीमध्य देखो निशेष-
च्छाया काँपै मनहुँ भय सो भानु के निर्विशेष।
जोहू लोकत्रय यशकयाकौमुदीकीर्ण होवै,
तोहू को न प्रबल-रिपुज-त्रास ों धैर्य खोवै ? ॥

(१२)

नेत्रानन्दप्रद शरद की चन्द्रिका चारुताई,
मन्द स्निग्ध-श्वसन-सुखमा, नीरलीला निका
होवै चित्तस्थित जब, रहै मोद मर्य्याद नाहीं,
आधि, व्याधि, क्षण भरि, जिती सर्व बाधा

२१——श्रीधरसप्तक

(२५ दिसम्बर, १८९९ के भारतमित्र में प्रकाशि

(१)

बाला-वधू-अधर-अद्भुत स्वादुताई,
द्राक्षाहु की मधुरिमा, मधु की मिठा
एकत्र जो चहहु पेखन प्रेम-पागी,
तौ श्रीधरोक्त-कविता पढ़ियेऽनुरागी

(२)

पीयूष है यदि पदार्थ, यथार्थ कोऊ,
काहे न ताहि करि पान प्रसन्न होऊ
प्रत्येक पद्य, प्रति पंक्तिहु में सदाहीं,
सो विद्यमान कवि-श्रीधर-काव्य माहीं

(३)

जाकी कवित्व-पद-कोमलताऽविकाई,
आबाल-वृद्ध-जन चित्त लयो चुराई
सोई कवीन्द्र विजयी जयदेव आई,
लीन्ह्योऽवतार कह श्रीधर-देह पाई

(४)

माधुर्य्यमय, रसरञ्जन-सिद्धि   री,
अत्यन्त-कोमल-कवित्व-कलाप-कारी;
जाके कहे सुयशगीत सुनै सुरेश,
आयो सुअर्गलपुरी कह किन्नरेश ?

(५)

कोऊ कहूँ मृदुल पद्य सकै बनाई,
स्वारस्य-युक्त कहुँ कोउ सुअर्थ लाई।
लालित्य-लास्य, रसराशि, सदर्थ गाथा,
सोहै सदैव सब श्रीधर-काव्य साथा॥

(६)

बानी बसै सुकवि-आनन मे सयानी,
मानी जू जाय यह बात सुनी पुरानी।
तो सत्य सत्य कविता कविरत्न तेरी,
वाही त्रिलोक-परिपूजित-देवि प्रेरी॥

(७)

तोसौं कहौं कछु कवे! मम ओर जोवौ,
हिन्दी-दरिद्र हरि तासु कलक धोवौ।
होवौ शतायु; सुख सो रहि, दुख खोवौ,
फैलै त्वदीय यश, सर्व-व्यथा विगोवौ॥

२२—प्लेगस्तवराज

(१९ मार्च, १९०० के भारतमित्र में प्रकाशित)

ॐ अस्य श्री प्लेगस्तवराज-महामन्त्रस्य डाक्तर यमराजाचार्य डबल एम०, डबल डी०, ऋषि, पटापटश्छन्द, श्रीप्लेगदेवता, ह्लीशक्ति, म्रीं कीलकम्, वदत्रीजम, सर्व—स्वाहाकरणार्थ जपे विनियोग।

ॐ ह्लीं म्रीं मारय मारय माग्य—इति मत्र। अथ करन्यास—चूहावाहनाय अगुष्ठाभ्या नम। होगहारिणे तर्जनीभ्या नम। महाक्लेशकारिणे मध्यमाभ्या नम काल-स्वरूपिणे अनामिकाभ्या नम। प्रचण्डशक्तिधारिणे कनिष्ठकाभ्या नम। प्राणसहारिणे करतलकरपृष्ठाभ्या नम। अथ अगन्यास। महाशूलोत्पादकाय हृदयाय नम। पकड कर प्लेग अस्पताल नेत्रे शिरसे स्वाहा। अग प्रत्यगदारुणपीडादात्रे कवचाय हुम्। अत्युग्रसन्निवातकर्त्रे नेत्राभ्या वौषट्। गृहद्वारपुत्रकलत्रवन्धनविनाशिने अस्त्रत्रयाय फट्! अथ ध्यानम्—

ध्याये सदैव मनुजक्षयहेतुभूतम् ,
दंष्ट्राकरालवदनं किल कालरूपम् ।
प्राणापहारकरणे निपुणं नितान्तम् ,
प्लेगं विशालवदकारणमादिदेवम् ॥

२—अथ पूजापद्धिति । इस पूजा मे प्लेग की आराधना करनेवाले की अश्रुधारा पाद्य है। उसके कुटुम्बियो की आँखें अर्घा है और उनसे गिरनेवाले जल अर्घ है। दाँत पीसना अक्षत है। हाय हाय करते हुए ऊर्ध्व श्वास लेना धूप है। निराशा दीप है। दवाइयाँ पुष्प है। सन्निपातनाशक लेप चन्दन है। बर्गीना मधुपर्क है। घर की अथवा अस्पताल की चारपाई यूप (खूँटा) है। उसी यूप में, बलिदान के निमित्त, आशारूपी रज्जु मे प्राणपशु बँधा है। औषधोपचार खड्ग है। डाक्टर हाफकिन पुरोहित है।

३—अथ स्तवराज । हे प्लेग ! हे प्लेगराज ! हे मारकासुर ! आपको हम किस नाम से पुकारें ? विष्णुसहस्रनाम के समान यदि एक प्लेग सहस्र-नाम बनता तो भी आपके नामो की गणना नि शेष न होती। कोई आपको मरी कहता है, कोई विसर्प कहता है, कोई प्लेग कहता है, और कोई ग्रन्थिक सन्निपात कहता है। परन्तु ठीक ठीक कोई नही कह सकता कि आप कौन है। रूप तो आपका समझ में आगया है, परन्तु नाम अभी तक किसी की समझ में नही आया। अत हे बोखार के खालू ! हे दद के दादा ! हे सन्निपात के प्रपितामह ! आप तब तक यही नाम ग्रहण करे।

४—आप ब्रह्मा है। इसमे कोई सदेह नही। नहीं, नही, ब्रह्मा से भी बडे हैं। ब्रह्मा बिचारे को उत्पन्न करना ही आता है, मारना नही आता; मार वह एक खटमल तक भी नही सकता। परतु आप विलक्षण स्वयभू देव—क्या दानव है। बिना सूचना के, बिना पूर्व-रूप के, अकस्मात्, कुश्क में रूसी सेना के समान, आप प्रकट हो जाते है और एक एक का सहार करते चले जाते है। अत हे रुद्रब्रह्मरूपिणे युगपत सृष्टिसहारकारिणे तुभ्य नमोऽस्तु।

५—हे ब्यूबानिक प्लेग ! आप वामन-ओ, नो, (O, no) त्रिविक्रम है। पहले आपने अपना बालस्वरूप बम्बई में दिखलाया था, फिर धीरे धीरे पूना, शोलापुर, धारवाड, बँगलौर, मदरास, कराची, पजाब, नागपुर, कलकत्ता आदि तक बढ कर अब पश्चिमोत्तर देश में भी आपने अपना पैर फैलाया है। परन्तु याद रखिए, आपका आगे बढना अच्छा नही। अ क

हौसला दिखलाने मे सर अटोनी मेकडानलरूपी बलि आपको सात समुद्र पार, महाप्रलय तक, अहोरात्र खडा रक्खेगा। अत होशियार !

६–हे महामारी के मामा ! आपकी सत्ता सब कही जागरूक है, अत आप सर्वव्यापी विष्णु है। आप सहस्रलिंग स्वयभू शभु भी है, क्योकि गिलटी के बहाने आपका लिंग मनुष्य की बग़ल में, गरदन में, जॉघ की जड में सब कही आपही आप उत्पन्न हो जाता है। न लक्षणो से आप हरिहर-रूप हु । अत हरिहराकारामुदारा तनु" ते नम ॥

७–हे विसर्प के बाबा ! कहते डर लगता है, परन्तु हम कहे ही डालते है कि, आप अजीब सिफारशी टट्टू है। पहले और दूसरे दर्जे के टिकट का लालच दिखलाते ही आप अपने भक्तो को अभय कर देते है। फिर चौसा के मौसा की भी दाल नही गलाई गलती। परन्तु यह रिश्वत सच्चे दिल से न देने से, आप देनेवालो को अलीपुर, नैनी इत्यादि में बने हुए बिना भाडे के बडे बडे घरो की हवा खिलाते है। लोग कहते है कि मक्खी और बाल हज़म करनेवालो ही को रिश्वत हजम होती है, फिर, आप भला क्यो न हजम कर सकें ? आपने तो अनगिनत जीव और बालो से खचाखच भरे हुए अनगिनत मूँड खाये है। हे सर्वभक्षक ! मनुष्यो की अन्धी खोपडी आपका स्तोत्र गाने में असमर्थ है।

८–हे सन्निपातराज ! हमने सुना है कि जब आपका मानुषी नैवेद्य कम हो जाता है तब आप बदरो पर भी हाथ फेरने लगते है। परन्तु ज़रा पुरानी दिल्ली और पुरानी लका का स्मरण कर लीजिए। आपके लिए इतना ही शारा काफी है !

९–हे नरारण्यहिरण्येरत ! आपको साक्षात् अग्नि कहने में क्या आपत्ति है ? आपका आगमन होते ही ज्वराग्नि का वेग डाक-गाडी की गति के समान बढता हुआ, थोडी ही देर में, खाण्डव जलाने के समय का-सा रूप धारण करता है। अत अग्निमीडे प्लेगरूप त्व मा पाहि पुरोहितम् ।

१०—हे लयकर प्लेग ! आपके दया तो छू ही नही गई। निर्दयता में आप नाना साहब के भी नाना है। ज़रा ज़रा से बच्चो को आप बिना बाप का कर डालते है। जिनका द्विरागमन तक नही हुआ ऐसी अल्पवयस्का बालाओ को आप विधवा कर डालते है। जिनके एक ही पुत्र है उनको भी आप अपुत्री करने से नही हिचकते। जान पडता है आपके कलेजा ही नही है ! और अगर है भी तो ईस्पात का है, अथवा पत्थर का है। अत हे "वज्रादपि कठोर" ! आपको दूर ही मे दस्तवस्ता सलाम करना चाहिए।

११—हे प्लेगावतारी कालभैरव ! आपका नाम सुनते ही कलेजा कांप उठता है। नगर में आपका आगमन होते ही घर, द्वार, लडकेवाले कपडे-लत्ते छोडकर, मनुष्य इतस्तत भागते फिरते है, परन्तु आप उनको फिर भी नहीं छोडते। आपका प्रचण्ड दण्ड उठते ही श्मशान-यात्रा का प्रस्थान लोगो को रखना ही पडता है। आपकी वदौलत अगणित कपाल ढुलकते फिरते है। हड्डियो के भी इतने ढेर हो गये है कि एक क्या चाहे लाखो दण्ड तैयार कर लिय जावें। सर्पो का जनेऊ वनाने की तो वात ही जाने दीजिए, क्योकि आप स्वयमेव वासुकी, काली आदि सर्पो से भी अधिक भयकर विषधर है। अत —

करकलितकपाल कुण्डलीदण्डपाणि-
स्तरुणतिमिरनीलव्यालयज्ञोपवीती।

यह वर्णन आपके अनुरूप नही; इससे वढकर होना चाहिए ! इतनी शिष्टता आप अवश्य दिखलाइए कि जो आपके मत्र का अनुष्ठान करें उनको अपनी दष्ट्रा से वचाये रखिये। मत्र आपका यह है —

ॐ ह्री प्लेगाय जीविनोद्धारणाय कुरु कुरु प्लेगाय ह्री।

१२—हे गिलटी रोग के गवर्नर ! आपके यमराज होने में कोई सशय नही। यमराज तो एकही आत्र के ऊपर कभी कभी अपना त्रिशूल उठाते है; आप तो कुटुम्व के कुटुम्व स्वाहा करते चले जाते है, परन्तु फिर भी आपका पेट नही भरता। आपका शूल वहुत ही भयानक है। आप अपने वाहन भैसो से तो नही वोल्ते, परन्तु गणेश के वाहनो को ढूंढ ढूंढ प्लेगलोक को पहुंचाते है। गणेश ने भी आपसे वदला लेने के लिए डो व्रिटेन साहव को अपना एजेन्ट वनाया है। यही कारण है कि जो अहमदावाद के आस-पास आपका एक भी प्यारा भैसा और उसकी एक भी प्यारी भैस नही वचने पाती। उस प्रान्त में आप वहुत दिन तक रहे है; इसी लिए गणेश ने वही अपनी एजेन्सी खोली है। हममें तो वदला लेने की क्या आपके सम्मुख होने की भी शक्ति नहीं। अत, यस्य छायामृत यस्य मृत्यु, तस्मै देवाय भवते हविषा विधेम।

१३—हे प्लेगराज ! आप रसिको के शाहन्शाह है। महामारी का अस्पताल आपकी राजधानी है। पुलिस और पलटन के गोरे आपके पताकाधारी नक़ीव है। डाक्टर आपके पार्षद है। सेग्रोगेशन कैम्प आपका क्रीड़ाकानन है। वहीं आप और आपके आश्रित लोग नाना प्रकार की क्रीड़ाऐं किया करते है। कभी जल-विहार देखते है; कभी एक एक की गठरी खोलकर चित्र-

विचित्र वस्त्र और वस्तुओ से अपने नेत्र सफल करते है, और कभी स्त्री-पुरुषो की गिटि्टयाँ टटोलते है। इसी प्रकार आप अपना दिल बहलाते रहते है। जिसमें आप प्रसन्न रहे उसी में हमारी भी प्रसन्नता है, परन्तु हमारे आबरू रूपी जहाज की पतवार जो आपके हाथ मे है, उसे मत छोड दीजिएगा। हम हा हा खाते है! त्वा प्लेगदेव शरण प्रपद्ये।

१४—हे सन्निपात-शिरोमणे! आपको हम सफाई के मोहकमें का सबसे वडा अफसर समझते है। आप मनुष्यो की, चूहो की और बन्दरो की तो सफाई करते ही है, मकान और गली-कूचो तक की सफाई आपके भय से, समय समय पर, हुआ करती है। यो साल में, दिवाली पर, एक ही बार मकानो की सफेदी होती थी, अब आपके प्रभाव से कई बार दिवाली के दिन याद आते है। ऐसे तो आप गन्दे मकानो के भीतर चोर के समान छिपे पडे रहते है, परन्तु सफाई होते ही आप भग खडे होते है। इससे हम क्या समझें? सफाई से आपको रगबत है या नफरत? आपकी माया कुछ समझ मे नही आती! अत, मायाविन त्वा शिरसाऽभ्युपैमि।

१५—हे सर्वापहारिन्! जिस कृपाकटाक्ष से, जिस दयार्द्रभाव से, जिस प्रेमदृष्टि से आप इस समय डाक्टर और दाइयो को देख रहे है, उसका विचार करके बुद्धि चक्कर में आ जाती है। आपही के भाव मे आजकल इनकी धेली छ टके की चल रही है। आपकी कृपा का एक कण इस ओर भी आने दीजिए। स्त्री को पति से, पुत्र को माता से और सेवक को स्वामी से पृथक् होते देख अपने वज्र हृदय को द्रवीभूत होने दीजिए। घरो का तोड-फोड और गृहस्थी के सामान का सत्यानाश होते देख क्या आपका कठोर कलेजा ज़रा भी नही दहलता? आपका स्तवन करने की हममें शक्ति नही। हम एक य कश्चित् मनुष्य है। अत हमारे थोडे ही कथन को आप बहुत समझिए। हे ज्वरज्वालामालिन्! हे प्रतिप्रलयकारिन्! हे करालदंष्ट्रकाल! हे मनुष्यक्षयकारक प्रचण्ड पेंच! अब हम आपका स्तोत्र समाप्त करते है। इसका हम यही फल आपसे चाहते है कि इस स्तोत्र के पढनेवालो की ओर आप कभी भूल कर भी दृक्पात न करें! ॐ शान्ति! शान्ति!! शान्ति!!!

इमा प्लेग महाराज! पूजामादाय मामकीम्।
गच्छ त्व रौरव घोरमित आयाहि मा पुन ॥
यदक्षरपदभ्रष्ट मात्राहीनञ्च यद्भवेत्।
तत्सर्व क्षम्यता प्लेग शिरसा प्रणमाम्यहम् ॥

२३—अयोध्या का विलाप

(मार्च १९०० के सुदर्शन में प्रकाशित)

(१)

प्रासाद जासु नभमण्डल में समाने,
प्राचीर जासु लखि लोकपहू सकाने।
अत्यन्त दिव्य, दृढ़, दुर्ग विलोकि जाको,
आश्चर्ययुक्त मन मुग्ध भयो न काको?

(२)

जाकी समस्त सुनि सम्पति की कहानी,
नीचो नवाय सिर देवपुरी लजानी।
ताकी अरे निपट निष्ठुर काल! ऐसी,
तूने करी शठ! दशा अति ही अनैसी॥

(३)

प्राचीर नाहिं, नहिं दुर्ग, न सौधमाला,
अट्टालिकाहु नहिं हेरि परै विशाला।
उध्वस्त, जर्जरित, भग्न शरीर मेरो,
हा हा! न जाय अब मोसन और हेरो॥

(४)

हे राम! हे कुश! रघो! रविवंशदीप,
दुष्यन्त! भव्यभरतादि महामहीप!
नाना विपत्ति सहि, हाय! महादुखारी,
नामावशेष अब होति पुरी तिहारी॥

(५)

सायप्रभात जिन गेहनि में सदाही,
सत्सामगान तजि दूसरि बात नाही।
भल्लूक कूक दिन-रैनि तहाँ मचावैं,
लाखो शृगाल रव घोर घने सुनावैं॥

(६)

रत्नप्रदीप रविरश्मि छटा समान,
शोभायमान जहँ भे अतिदीप्तिमान।
देखो तहाँहि इकहू नहि दीपबाती,
काहे न होय अजहूँ दुइ टूक छाती ?

(७)

उत्तुंग-कुञ्जरघटा सुख सों अन्हाई,
कीन्हे जहाँ जलविहार सदैव आई।
हा हन्त! वाहि सरयूतट पै घनेरे,
बूढ़े वराह, खर आदि फिरैं सवेरे ॥

(८)

सानन्द राजगण चामरछत्रधारी,
कीन्ह्यो प्रवेश जिन द्वारनि तें सुखारी।
पैठें कढ़ें तिनहिं ते अब हाय! हाय!
निःशंक चोर चमगीदड वृन्द आय ॥

(९)

वापी, जहाँ जलजजाल खिले सुहाई,
काई कठोर तिनमे सब ओर छाई।
रत्नादिराशि जहँ हाय! हती घनेरी,
फैली तहाँहि अब कंकरकेशढेरी ॥

(१०)

दिव्यातिदिव्य रुचिराकृति गेहराजी,
गच्ची महामणिमयी जिनकी विराजी।
हाहा! अभाग्यवश, आज तहाँ कटीली,
है कटकारि उपजी सित, पीत, नीली ॥

(११)

न्दुप्रियामणि अनेक रही जहाँही,
जाले लगे मकरिकागण के तहाँही।
हो मैं सुनी जहँहि कोकिलकंठ कूक;
बोलै अमांगलिक बोल तहाँ उलूक ॥

(१२)

चन्द्राननी कमलकोमल-गात नारी,
क्रीडा विचित्र जहँ कीन निशामझारी।
हाहा ! तहाँहि अब वन्यविलाव-वाला,
निर्द्वन्द द्वन्दसुख लूटहिं सर्वकाला ॥

(१३)

बिच्छू, विषाक्त अहि, मोहिं सदा सतावैं,
उन्मत्त-मर्कट निरन्तर ही हावैं।
द्वै चारि चिह्न मम जो अजहूँ दिखाहीं,
ह्वै है विलीन सोउ सत्वर भूमि माहीं ॥

(१४)

अत्युच्च मन्दिर महार्ह जहाँ रहे हैं,
देखो, तहाँ, कवर, आज, चहूँ छये हैं।
अल्लाह और बिसमिल्लह आदि बैन,
कीन्हो तहाँ बधिर मोहिं सुनो परै न ॥

(१५)

जाही स्थल प्रचुर हीरन सो सँवारो,
सिंहासन-प्रवर राम ! रहो तिहारो।
पर्णालयस्थ, तहँ मस्जिदमध्य, देखी,
त्वन्मूर्ति, दुःखदव मोहिं दहै विशेषी ॥

(१६)

हे कोसलस्थजन ! रामपुरी दुखारी,
नाशोन्मुखी, नयननीर बहाय भारी।
सारी विपत्ति अब आज तुम्हें सुनाई,
माँगे विदा अहह ! अन्तिम शीश नाई ॥

(१७)

जो प्रीतिलेश कछु होहि स्वधर्म माहीं,
जो पै दया तुमहिं वंचित कीन्ह नाहीं।
जो देश-भक्ति हिय में कछुहू तिहारे,
तो धाय शीघ्र अब कष्ट हरो हमारे ॥

(१८)

नाना नरेश अजहूँ चहुँ ओर छाये,
मेरेहि सन्निकट एक अहो सुहाये ।
अत्यल्पहू यदि मिलै इनसे सहाय;
तौहू अदृश्य नहिं तौहुँ विनाश पाय ॥

(१९)

प्राचीन चिह्न अभिभावक लाटवीर !
हे दुर्ज्जनान्तकर कर्ज्जन ! धर्म्मधीर !
लीजो बचाय म्रियमाण शरीर मेरो,
कल्याण होय सब काल दयालु ! तेरो ॥

२४—कृतज्ञताप्रकाश

(अप्रैल १९०० के सुदर्शन में प्रकाशित)

(१)

काहे प्रजावदन आज दिकाशमान ?
उत्साह हू सब कहूँ कत वर्तमान ?
अज्ञान बाल-वनिताहु सबै समान,
चर्चा चहूँ दिशि करैं कह मोदमान ?

(२)

संवादपत्र कत आज सहस्रधारा,
धारा बहाय वचनामृत की अपारा ।
पूज्य प्रयागनगर स्थित-लाट केरो,
सप्रेम, शुभ्र यश-गान करैं घनेरो ?

(३)

सर्वत्र आज कत पश्चिम-उत्तरान्त-
वासी प्रफुल्ल अपने मन मे नितान्त ।
न्यायप्रियत्व निज-शासक को सराहैं,
तत्पूर्ण-आयु-पद-वृद्धि विधान चाहैं ?

(४)

हाँ ! आज, राज-अनुशासन-पत्र पाई,
न्यायालयादि महँ, आदर सो, सिधाई।
हिन्दी असह्य दुख झेलि महा महान,
बैठी तुरन्त उरदू सँग सावधान ।।

(५)

ऐसो अपूर्व मुददायक दृश्य देखी,
प्रेमाश्रु-पूर-परिपूरित ह्वै विशेषी।
आनन्दगीत नर-नारि-समूह गावैं,
सोत्साह उत्सव अनेक सबै मनावैं ।।

(६)

हे न्यायधाम ! गुण-गौरव-धर्म-धाम !
सत्शीलधाम ! म्यकडानल पूर्णकाम !
सारी प्रजा पुलक-पूरित-गात धारी,
उन्मत्तवत् कहहिं "जै जय जै" तिहारी ।।

(७)

प्रत्येक काम हलको अथवा ऽति भारी,
सत्यानुराग तव सर्व कहूँ निहारी।
प्राचीन सत्य हरिचन्द गयो भुलाई,
हैं सत्य सत्य, न असत्य कहौ बनाई ।।

(८)

अन्यान्य शासक निजाकृति अश्म* रूप,
हैं राजमार्ग महँ छाडि गये अनूप।
त्वन्मूर्ति नाथ ! रहिहै सुख सो सदाही,
आबाल-वृद्ध सबके हृदयाब्ज माहीं ।।

(९)

अन्याय सो अननुरक्ति, तथैव, तेरी,
न्यायानुरक्ति लखि, यो मति होय मेरी।
न्याय स्वय, अनय† सो डरि, भागि आयो,
आकार धारि तव, भूतल माहिं छायो ।।

---

* अश्म = पत्थर।
† अनय = अन्याय।

(१०)

सत्यानुरोध, नय* दिव्यदया-विधान,
तीनौ, त्रिवेणिवत, ये गुण भासमान।
सीखे प्रयाग सन काह ? कहो बुझाय,
हे तीर्थराजपुर-लाट ! पुनीत-काय !

(११)

सारी प्रजा महँ निरन्तर विद्यमान,
वात्सल्यभाव तव देखि सदा समान।
सन्देह होय मन में यह सोचि बाता,
को है पिता ? तुमऽथवा निज जन्मदाता ?

(१२)

विक्टोरिया विजयिनी-वर राज्य माही,
अन्याय-लेशहु कभू कहुँ होत नाही।
पूरी प्रतीति इहि की हम आज पाई,
योही परस्पर मनुष्य कहैं सुनाई॥

(१३)

हिन्दी-हितार्थ तुम जो कछु कीन्ह आज,
तत्तुल्यता न सकिहै करि अन्य काज।
लोकोपकारक किये तुम काज नाना,
पै सत्यमेव सब माहि इहै प्रधाना॥

(१४)

एतन्निमित्त रहिहैं चिरकाल सारे,
ये पश्चिमोत्तर-मनुष्य ऋणी तिहारे।
औरौ अनेक दिन राज्य रहै त्वदीय,
इच्छा इती सफल शंभु करै मदीय॥

(१५)

जौ लौं प्रभो ! बृटिश-शासन-सूर्य चण्ड†,
अस्तित्व नागरिक-अक्षर को अखण्ड।
तौ लौं त्वदीय यश-सौरभ सो विशेष,
ह्वै है सुगन्धयुत भारतवर्ष देश॥

---

* नय = न्याय। † चण्ड = प्रचण्ड।

२५—बलीवर्द

(१९ अक्टूबर, १९०० के श्रीवेंकटेश्वर-समाचार में प्रकाशित)

(१)

बलीवर्द जो, मर्द गाय के, गर्द उड़ानेवाले वीर,
प्यारे वृषभ वृषभवाहन के, अति दुर्मद, अतिशय रणधीर।
नन्दीश्वर के विशद वंशधर, कंस समान विवेक-विहीन,
वर्दराज! वृषराज! बैलवर! सुनिये कुछ निज कथा नवीन॥

(२)

विश्वनाथपुर में जब कोई विश्वनाथ को जाता है,
सम्मुख वहीं देख तुमको वह कम्पित हो घबड़ाता है।
भीम भूधराकार भयंकर रूप याद जब आता है;
म्यूनीसिपल गाड़ियों के भी बैल देख डर जाता है॥

(३)

जुतो तुम्हीं हल में, गाड़ी में, चरसे तुम्हीं चलाते हो;
बनजारों के गोन हजारों तुम्हीं पीठ पर लाते हो।
तिस पर, कभी कभी कौड़ी के तीन तीन बिक जाते हो;
वधिक-वेश में पड़ जीते ही अपनी खाल खिंचाते हो॥

(४)

बूढ़े हो जाने पर भी तुम कभी विरक्त न होते हो,
किसी न किसी काम में, सब दिन, जब देखो तब जोते हो।
तुमने साहब लोगों का भी, इस सद्गुण में मात किया,
इसी लिए, सबने, घर घर में, सादर तुमको वास दिया॥

(५)

अतिशय अद्भुत सहनशीलता तुम सदैव दिखलाते हो,
मार तड़ातड़ खाने पर भी सिर तक नहीं हिलाते हो।
छिले हुए कन्धे से भी तुम छकड़े नित्य चलाते हो,
बहुत कष्ट पाने पर मग में, गिरते हो उठ जाते हो॥

(६)

तुम्ही अन्नदाता भारत के सचमुच बैलराज ! महराज !
बिना तुम्हारे हो जाते हम दाना दाना को मुहताज।
तुम्हे खण्ड कर देते हैं जो महा निर्दयीजन-सिरताज,
धिक उनको, उन पर हँसता है, बुरी तरह, यह सकल समाज॥

(७)

"मैं जैसा विषयी हूँ वैसा और नहीं दिखलाता है",
किसी किसी कामी के मन में यह घमण्ड आ जाता है।
वह क्या वस्तु तुम्हारे सम्मुख ? जब तरुणाई आती है,
काली, पीली, धवल, घूमरी धेनु न बचने पाती है॥

(८)

इस प्रकार की अनाचारता जब विशे बढ जाती है,
म्यूनीसिपल सभा की, तुम पर, तब रिस अति अधिकाती है।
पकड पकड तुमसे वह अपना कूडा-कीट ढुलाती है,
वहाँ किये का फल पाते हो, सामत पूरी आती है॥

(९)

सजातीय अनगिनत तुम्हारे चक्र छाप लगवाते है,
स प्रकार द्वारकापुरी से आये से दिखलाते हैं।
शकर-चिह्न शूल अति सुन्दर कोई कोई पाते है,
इस मिष, नये नये, निशिदिन, वे मजे सदैव उडाते है॥

(१०)

इसी तुम्हारे जाति-वर्ग ने स्वतन्त्रता-सुख जाना है,
लूट-मार में यह अति निष्ठुर नादिर का भी नाना है।
यह फिरका वृषराज ! तुम्हारा गाँव गाँव मे फिरता है;
मारी कृषी स्वर्ग जाती है जहाँ कही यह गिरता है॥

(११)

एक वार म्यूनिसपैलिटी का पाकर अखण्ड आदेश,
काशी के दुर्मद साँडो ने ढोया है कूडा नि शेष।
दण्ड न पाता है कोई यदि उन्हे चुरावे, डाले मार;
हुई नजीरे प्यनलकोट पर ऐसी ही कितने ही बार॥

(१२)

अभिमानी से वृषभ ! तुम्हारा लक्षण सभी समाता है,
तौल तुम्हारी करें उसी से यही चित्त में आता है।
बलीवर्द ! मत बुरा मानना, बात सत्य हम कहते हैं;
झूठ बोलनेवाले से हम सदा दूर ही रहते हैं ॥

(१३)

गज भी जो आवे, तुम उसकी ओर न आँख उठाते हो,
लेटे कभी, कभी बैठे हो, कभी खड़े रह जाते हो।
अभ्यागत को अभिमानी भी मन में तुच्छ समझता है,
वह उसके मानापमान का ज़रा खयाल न रखता है ॥

(१४)

धनीगर्व मदमत्त, गले में गोफ-गुन्ज लटकाता है,
लटका कर, सब काल उन्हीं में अपनी आँख लड़ाता है।
तुम भी मोरपख का गहना गरदन में सजवाते हो,
देख देखकर उसे मनीमन फूले नहीं समाते हो ॥

(१५)

धनी पुरुष गद्दी के ऊपर, धोतीभर कटि से लिपटाय,
तुन्दिल तनु पर हाथ फेरता रहता है घमण्ड में आय।
वृषभराज ! तुम भी निज थल पर झूल पीठ पर से लटकाय
पूँछ फिराते हो शरीर पर बैठे ही बैठे सुख पाय ॥

(१६)

बलीवर्द ! तुम पशु होने से अविवेकी कहलाते हो,
मद पर भी निज उन्मदता से विजय-बड़ाई पाते हो।
साभिमान धनवान पास भी नहीं विवेक फटकता है,
अहंकार-मद में बह जाने नर मुर्दा रहता है ॥

(१७)

यदपि देखना चाहे कोई मूर्तिमान अद्भुत अभिमान,
बलीवर्द ! वह रूप तुम्हारा देखे तन-तनग समान।
अहो भाल, रम्या विशाल थन, शैल-शिखर सम ग्रीवा महान,
भूमि-भार-हर अहो सदा तुम अति उन्नत अंग बलवान ॥

(१८)

खड़े खड़े जब घोरनाद तुम करते हो सगर्व भरपूर,
तुम्हें देख कर मदमत्तो का मद होता है चकनाचूर।
होती नही पूछ भी तिस पर अभिमानी नर मोछ मरोड;
ठसक दिखाने के करते है यत्न सदैव करोड करोड ।।

(१९)

"मै कुबेर, मै ही सुरगुरु हूँ, मेरा ही सब कही प्रमाण";
यह घमण्ड रखनेवालो का मुख-दर्शन है पाप-निधान।
तदपेक्षा हे वृषभ! तुम्हारा पीवर अण्डकोष-समुदाय,
अवलोकन करना अच्छा है, सच कहते है भुजा उठाय ।।

(२०)

बिना तुम्हारे अन्न दिये नर यमपुर जाय विचरते है,
अत्यादर अतएव तुम्हारा भारतवासी करते है।
बिना तुम्हें, इस वर्ष, देखिये, कितना कष्ट उठाते है,
गुर्जर और राजपूताना हाहाकार मचाते है ।।

(२१)

चतुष्पाद-कुलकैरव-हिमकर! हे वृष! हे अति उपकारी!
बना रहे यह देश तुम्हारी कृपादृष्टि का अधिकारी।
बिना तुम्हारे शकर का भी क्षण भर नही गुज़ारा है,
कारणवश, झटपट, यह हमने अल्प लेख लिखमारा है ।।

२६—शेख़ सादी की उक्तियाँ

(ब्रजवासी के प्रथम खण्ड की नवम और दशम सख्याओ में प्रकाशित)।

(१)

स्वाभाविक सौन्दर्य जो सोहै सब अँग माँहि।
तो कृत्रिम आभरन की आवश्यकता नाँहि ।।

(२)

मधन होन तें होत नहि कोऊ लक्ष्मीवान,
मन जाको धनवान है सोई धनी महान ।।

(३)

एक कामरो में रहैं दस साधू सुख पाय।
द्वै नरेस इक देश में पै नहि सकत समाय॥

(४)

अपने जीवन तें मनुज जो निरास ह्वै जात।
वह जो चाहै कहि सकै भली बुरी सब बात॥

(५)

जो पै अपनो मित्र है मूरख निपट अजान।
तौ तासो शत्रुहि भलो बुद्धिवान गुणवान॥

(६)

मित्र आपनो अहहि जो सब प्रकार अनुकूल।
शत्रु करैगो तौ कहा? बनो रहै प्रतिकूल॥

(७)

विमल मधुरजल सो भरो जहाँ जलाशय होय।
पशु, पक्षी, अरु नारि, नर, जात तहाँ सब कोय॥

(८)

विपति भोग भोगे गरू जिन लोगनि बहु बार।
सम्पति के गुण जानहो वे ही भले प्रकार॥

(९)

"कहो सत्य ही"—ईश कर यह निदेस राव काहिं।
सत्य पथ गहि आजु लौ कोऊ भटक्यो नाहिं॥

(१०)

जानी जात सुगन्ध सो सोई मृगमद जान।
ज्ञान नाम तें होत जो तौ न खरो पहचान॥

(११)

पिता पितामह आदि की सम्पति जो चह लैन।
तौ तु पहले बन अवसि तिनके गुन सो ऐन॥

(१२)

औरन के जो कहत हैं तासो दोस सुनाय,
वह औरन सो कहहिगो दोस तिहारहु जाय॥

(१३)

बिस र भीम भुजग को अग नामि जो कोय।
दया सँपेलन पै करत बुद्धिमान नहिं सोय॥

२७—मांसाहारी को हंटर

(१९ नवम्बर, १९०० के हिन्दी-बगवासी में प्रकाशित)

(१)

सद्वंश-गर्व अपने मन माहि धारे,
सोहै परोस महँ एक युवा हमारे।
ताकी अतीव रुचि आमिष में निहारी,
हौं, एक बार, इमि, उग्र गिरा उचारी॥

(२)

रे मास-भोज-रत ! निर्दयता-अगार !
रे ज्ञान-शून्य नर ! सभ्य-समाज-भार !
सुस्वच्छ शीघ्र करिकै निज दोउ कान,
हौ जो कहौ कछु अरे ! सुनु सावधान॥

(३)

अत्यन्त मिष्ठ अमृतोपम दुग्धधारा,
देवै जु पुष्टि नित सेवन सो अपारा।
सन्तुष्ट देवगण जो विनु होत नाही,
न प्राप्त गो कह अरे ! यहि देश माही ?

(४)

पीयूष-दर्प-हर वर्फ-सम-स्वरूप,
हा हा ! कहा नसि गयो दधिहू अनूप ?
माधुर्य-मूर्ति कह मजुलहू मलाई,
वीभत्स भक्ष्य तव देखि कहूँ सि ाई ?

(५)

रे रे अजान ! रसना-रत ! बोलु ोलु,
मौनावलम्ब कत ? रे ! मुख खोलु खोलु।
मिष्ठान्नहू न कहे एकहु तोहिं भावै ?
स्वादिष्ठ मूल-फलहू न कहा सुहावै ?

(६)

जो तू अरे! कहत कम्पित होत गात,
लीलै महा मलिन मास मिलाय भात!
जानै नहीं निज-हिताहित-युक्त वात,
है हानि जाहि महँ तोहिं सुई मुहात!!

(७)

अत्यन्त मोदकर मोदक मञ्जु मीठे,
तोको न देहिं मृद लागहिं हाय सीठे।
पक्वान्न तोहि नहिं तादृश तोषकारी
तू को? कहै न कत? रे नररूपधारी!

(८)

अच्छाच्छ अन्न अरु शाक-समूह-सारे,
अन्यान्य देश तरसैं जिनको विचारे।
हा! हा! भरै न तिनहूँ मन पेट तेरो,
रे बुद्धिहीन! जनि जीव जराउ मेरो॥

(९)

आरक्त रक्त जिहि माहिं सनो घनेरो,
मज्जा-प्रपुञ्ज मन जो सब ओर घेरो।
जामे भरो अति अपावन अस्थि-जाल,
तू सोइ मांस गटकै नित लाल लाल॥

(१०)

धिक्कार तोहि, नर-जन्म वृथाहि पायो,
आहार मांस करि मानुषता नसायो।
तो सों भले पशु, अभक्ष्य मनुष्य आदि;
हा हन्त! हन्त!! तव जीवन-काल वादि!!!

(११)

लै अस्थि, ताहि अपने मुख माहिं टारो;
चूमैं शुनी शुनक हर्ष विशेष धारो।
जो तुहुँ मोद-युत चाखतु हाड़ हा हा!
तो स्वान-वर्ग अरु तो महँ भेद काहा?

(१२)

जे अन्य देश-जन आमिष खानवारे,
तेऊ अनेक, तजि ताहि, भये सुखारे।
पै तू सदैव सुख सो रत वाहि माही,
तेरे समान नर निर्घृण और नाही॥

(१३)

जामे मलीन मल, मूत्र, रहैं सदा ही,
नीके, भले, सकल भक्ष्य, अभक्ष्य, जाही।
सोई महा-घृणित दुर्बल छाग छागी,
तू प्रीति-युक्त उदरस्थ करे अभागी॥

(१४)

सर्व प्रकार निरुपद्रव-कार दीन,
वाणी-विहीन, बल-हीन, सहाय-हीन।
ऐसे अनेक बकरे बलिदान होवैं,
तेरेहि हेत अपने प्रिय प्राण खोवैं॥

(१५)

माता समान पय-पान सदा करावैं,
बेरी, पलाश, अरु आक, जवास खावैं।
सोई अजा भखत तोहिं न लाज आईं,
हा हन्त! हा!! इतिक घोर कृतघ्नताई!!!

(१६)

नाई जु भूलि नख जीवित काटि देवै,
तू आर्तनाद करिकै कर खैंचि लेवै।
तो कण्ठ काटि पशु मारन में कितेक,
होवै व्यथा शठ! हिये महँ सोचु नेक॥

(१७)

जीतेहि देह सन दुःसह गन्ध छूटै,
वाणी अभद्र सुनि मानहुँ कान फूटै।
आनन्द ताहि मृत-छागल काहि रे रे!
तू खाय, नित्य उठि, साँझ तथा सवेरे!!!

(१८)

जो तू, तथा अपर जे तव तुल्य सोऊ,
सकल्प सत्य करि मास छुवै न कोऊ ।
तो ये निरे निरपराध पशू विचारे,
मारे न जाहि जन-भोजन हेत सारे ॥

(१९)

अत्यल्प काल अथवा बहु काल माही,
रे ! नाश है अवशि सशय लेश नाही ।
जो अन्त, मास-रस-पुष्ट-शरीर छूटै,
तो मूढ ! व्यर्थ कत पातक-पुञ्ज लूटै ?

(२०)

स्वप्राण है प्रिय अरे शठ ! तोहि जैसे,
अन्यान्य जीव-गणहू कहँ मूर्ख ! तैसे ।
काहे कमात पर-पीडा-पाप-भार ?
धिक्कार तोहि शत वार ! सहस्र वार !!

(२१)

रे आत्म-शत्रु ! यह निन्दित मास त्यागु,
हिसादि पाप सन पामर ! भागु भागु !
घी, दूध, अन्न यदि है तन पुष्टकारी,
तो मास खाय कत लूटतु पाप भारी ?

(२२)

पक्षी, पशू, मनुज, कीट, पतग जो है,
विश्वेश-अश सब माहि समान सोहै ।
ताते दयालु-दृग सो लखु तू सबै—ही,
सद्धर्मसार अरु तत्त्व-विचार एही ॥

(२३)

ऐसी घनी वचन-चाबुक-चोट खाई,
धिक्कारवाक्य-मय-मुष्टिनिपात पाई ।
शिक्षा-प्रभाव-वश ह्वै वह मासचारी,
तत्काल मास तजि भक्त भयो हमारो ॥

२८––द्रौपदी-वचन-बाणावली

(नवम्बर १९०० की सरस्वती में प्रकाशित)

(१)

धर्मराज से, दुर्योधन की, इस प्रकार, सुनि सिद्धि विशाल,
चिन्तन कर अपकार शत्रु-कृत, कृष्णा कोप न सकी सँभाल।
क्रोध और उद्योग बढानेवाली, तब, वह गिरा रसाल,
महीपाल को सम्बोधन कर बोली युक्तियुक्त तत्काल ॥

(२)

आप सदृश पंडित के सम्मुख निपट नीच नारी की बात,
तिरस्कार-कारक-सी होती है हे नरपति-कुल-विख्यात!
वस्त्र-हरण आदिक अति दुस्सह दुःख, तथापि, आज इस काल,
बार बार प्रेरित करते हैं मुझे बोलने को भूपाल!

(३)

तेरे ही वंशज महीपवर सुरनायक सम तेज-निधान;
जो धरणी अखंड, इस दिन तक, धारण किये रहे बलवान।
हा हा! वही मही निज कर से तूने ऐसे फेंकी आज,
सिर से हार फेंक देता है जैसे महामत्त गजराज!

(४)

कपटी कुटिल मनुष्यों से जो जग में कपट न करते हैं,
वे मतिमन्द मूढ नर, निश्चय, प्राय पराभव, मरते हैं।
उनमें कर प्रवेश, फिर उनको शठ यों मार गिराते हैं,
कवचहीन तनु में ज्यों पैनें बाण प्राण ले जाते हैं ॥

(५)

हे मानव-सम्पन्न नराधिप! हे क्षत्रियकुल-अभिमानी!
कुलजा, गुण-गरिमा-दशवदा यह लक्ष्मी सब सुख-खानी।
तुझे छोड कर अन्य कौन नृप इसको दूर हटावेगा,
अपनी मनोरमा रमणी मम रिपु से हरण करावेगा?

(६)

हे महीप ! मानी नर जिसको महानिन्द्य बतलाते हैं,
उसी पन्थ के आप पथिक हैं, नहीं परन्तु लजाते हैं।
कोपानल क्यों नहीं आपको भस्मीभूत बनाता है ?
सूखे शमीवृक्ष को जैसे ज्वाला-जाल जलाता है ॥

(७)

यथासमय जो कोप-अनुग्रह को प्रयोग में लाते हैं,
स्वयं देहधारी सब उनके वशीभूत हो जाते हैं ।
क्रोधहीन नर की रिपुता से कोई भय नहिं पाते हैं,
तथा मित्रता में, वे, उसको आदर भी न दिखाते हैं।

(८)

चन्दन-चर्चित-गात भीम जो रथ ही पर चलता था तब,
धूलिधूसरित वही, विपिन में पैदल फिरता है सर्वत्र ।
क्या तव मन, इस पर भी, पीडित होता नहीं, पाय सन्ताप ?
सत्यशील बन कर अनर्थ यह हाय ! कर रहे हैं क्या आप ?

(९)

देवराज सम जिस अर्जुन ने उत्तर-कुरु सब विजय किया,
करके हे नृप ! तुझे अकृत्रिम अतुलित धनोपहार दिया।
तेरे लिए, वही, अब हा हा ! तरु के वल्कल लाता है,
इसे देख कर भी क्या तुझको कुछ भी क्रोध न आता है ॥

(१०)

यहाँ महीतल पर सोने से, मृदुल गात हो गया कठोर !
वन-गज-तुल्य देख पडते हैं !! जटा लटकती है ! सब ओर !!!
नकुल और सहदेव युग्म की ऐसी दुर्गति देख नरेश !
क्या तू शेष नहीं कर सकता अब भी अपना धैर्य विशेष ?

(११)

हे नृप ! तेरी मति-गति मेरी नहीं समझ में आती है,
चित्तवृत्ति भी किसी किसी की अद्भुत देखी जाती है !
तेरी प्रबल आपदाओं का चिन्तन करती हूँ मैं जब,
मनस्ताप से फट जाता है यह मेरा हृदय-स्थल तब !

(१२)

मूल्यवान मंजुल शय्या पर पहले निशा बिताता था,
सुयश और मंगल गीतो से प्रात जगाया जाता था।
वही, आज, तू, कुश-काशो से युक्त भूमि पर सोता है !
श्रुतिकर्कश शृगाल-शब्दो से हा हा ! निद्रा खोता है !!

(१३)

द्विज-भोजन से बचा हुआ, शुचि षटरस अन्न, पुष्टिकारी,
खाकर, जिसने इस शरीर को, पहले किया मनोहारी।
भूप ! वही तू, आज, उदर निज वनफल खाकर भरता है,
यश के साथ देह भी अपनी हा हा हा ! कृश करता है ॥

(१४)

रत्न-खचित-सिंहासन ऊपर जो सदैव ही रहते थे,
नृप-मुकुटो के सुमन-रज कण जिनको भूषित करते थे।
मुनियो और मृगो के द्वारा खंडित कुश-युत वन भीतर,
अहह ! नग्न फिरते रहते है वे ही तेरे पद मृदुतर !

(१५)

यह विचार कर कि यह दुर्दशा वैरी ने की है भूपाल,
• हृदय समूल उखड जाता है, पाती हूँ मै व्यथा विशाल !
जिन मानी पुरुषो का विक्रम हर नहि सके शत्रुकुलकेतु,
उनकी ईश्वरदत्त हार भी होती है सुख ही का हेतु ॥

(१६)

मुझ पर करके कृपा वीरता धारण करिये, फिर, इस बार,
क्षमा छोडिये, जिसमे रिपु का होवे नृप ! सत्वर संहार।
षड्रिपुनाशक सहनशीलता निस्पृह मुनियो ही के योग्य,
भूपालो के लिए सर्वदा, वह सब, भाँति, अयोग्य अयोग्य ॥

(१७)

तेरे सम तेजोनिधान नर यशोरूप धन के धनवान,
हे महीप ! अरि से पाकर भी, यदि ऐसा दुसह अपमान।
बैठे रहे, शान्तचित, धारण किये हुए सन्तोष महान,
तो हाहा ! हत हुआ, निराश्रय, मानवान पुरुषों का मान ॥

(१८)

तुझे तुच्छ जँचते हैं यदि ये शौर्य आदि शुभगुण-समुदाय,
क्षमा अकेली सतत सौख्य का मूल जान पड़ती है हाय !
तो यह राज-धर्म्म का सूचक वीरोचित को दण्ड विहाय,
यहीं अखण्ड अग्नि की सेवा करता रह तू जटा बढाय ॥

(१९)

कपट कर रहा है रिपु, इससे, तुझ तेजस्वी को महिपाल !
पालन करना नहीं चाहिए पूर्व-प्रतिज्ञा-प्रण, इस काल ।
अरि पर विजय चाहनेवाले धराधीश बल-बुद्धि-निकेत,
विविध दोष, की हुई सन्धि मे, दिखलाते हैं युक्ति-समेत ॥

(२०)

दैवयोग से दुःखोदधि में तुझ डूबे को यह आसीस,
शत्रु-नाश होने पर, लक्ष्मी मिले पुनः ऐसे अवनीश !
जैसे, प्रातःकाल, सिन्धु में मग्न हुए दिनकर को आय,
तिमिर-राशि हटने पर, दिन की शोभा मिलती है सुख पाय ॥

(२१)

भारवि-रूपी कवि-सविता की कविता विद्वज्जन की प्राण,
अति उद्भट, अति अगम, मनोहर, महाअलौकिक अर्थ-निधान ।
मुझ अतिशय अल्पज्ञ अज्ञकृत यह उसका जघन्य अनुवाद,
अनुशीलन कर हे रसज्ञ जन ! करिये मेरे क्षमा प्रमाद ॥

२६—काककूजितम्

(जून १९०१ के छत्तीसगढ़-मित्र में प्रकाशित)

(१)

रे क्रूरकोकिल ! रव कुरु मा कदापि,
वाचयमत्वमधुना भुवने भजस्व ।
जानासि किन्न नवनीरदनीलदेह
वा कोऽस्मिन्नाननन नृपागतोऽस्य ॥१॥

भावार्थ—रे क्रूर कोकिल ! तू कदापि कलरव न कर। संसार में इस समय, तुझे चुप ही रहना चाहिए। क्या तू नहीं जानता कि नवीन नीरद

के समान देहवाला और पीयू -सिञ्चित वाणी बोलनेवाला काक नामधारी मैं आगया हूँ ?

त्व पञ्चमेन विरुत विजहीहि नून,
वक्तु वसन्तसमयेऽपि न तेऽधिकार ।
सम्प्रत्यहं दशसु दिक्षु सदा सहर्षं,
तारस्वरेण मधुरेग रव करिष्ये ॥२॥

भावार्थ—तू पञ्चम स्वर में आलाप करना छोड; वसन्त समय में भी मुख खोलने का तुझे अधिकार नही। इस समय, दशो दिशाओ में, उच्च स्वर से, मै ही सहर्ष मीठी मीठी बोली बोलूँगा।

दृष्ट्वापि मामुपगत किल कज्जलाभ
किन्नाम रे शुक ! न मुञ्चसि पञ्जर त्वम् ?
वाचाविमर्दितविशुद्धसुधारसोऽह
स्थाने तवाद्य मधुराणि फलानि भोक्ष्ये ॥३॥

भावार्थ—रे शुक ! कज्जल के समान आभावाले मुझे आया देख कर भी तू क्यो नही अपने पिंजडे को छोडकर पलायन करता ? अपनी वाणी से विशुद्ध सु ा को भी विमर्दित करनेवाला मै, अब तेरे स्थान मे बैठ कर मीठे मीठे फलो का स्वाद लिया करूँगा।

लोकस्तनोतु नयनद्वयदु खदात्रे
वर्णाय ते नतिर्तिति हरिताय कीर !
शौरिं स्मरत्वसितभीमभुजङ्गमाङ्ग—
रङ्गाभिरामवपुष परिपालयन् माम् ॥४॥

भावार्थ—हे कीर (शुक) ! दोनो नेत्रो को दु ख देनेवाले तेरे हरित वर्ण को लोग, अब, दूर ही से हाथ जोडें। काले भुजङ्ग के रग के समान सुन्दर शरीरवाले मुझे पाल कर, आज से, वे आनन्दपूर्वक विष्णु भगवान् का स्मरण किया करें।

धातुर्विमानवहनेन विदीर्णदेह !
रे राजहस ! खगवशकलङ्कभूत !
निर्गच्छ तुच्छ ! जगतीतलतस्त्वमाशु
मा मा कदापि मम सम्मुखमेहि भूय ॥५॥

भावार्थ—ब्रह्मा के विमान में जुते रहने मे विदीर्ण देहवाले, पक्षि-कुल के कलङ्क, रे तुच्छ राजहस ! इस भूतल मे तू तुरन्त दूर हो। कदापि पुनर्वार तू मेरे सम्मुख मत आ।

लोकातिशायि गमनं हि ममेति तावद्-
गर्वं वहस्यतितरां ननु हंस ! यावत् ।
दृष्टा त्वया मम गतिर्न विलासिनीनां
लीलाललामगमनानि विडम्बयन्ती ॥६॥

भावार्थ—रे हंस ! "मेरी चाल सबसे अच्छी है"—इस प्रकार के गर्व का बोझा तू तभी तक उठाता है जब तक तूने विलासनी कामिनियों की लीला-ललाम गति की भी विडम्बना करनेवाली मेरी चाल नहीं देखी ।

मुक्ताफलानि कठिनानि मराल ! भुङ्क्षे,
मा तेन चेतसि चकास्तु तवाभिमानः ।
भुञ्जे ततोऽपि मधुराणि सुकोमलानि
श्राद्धादिकेषु पृथु-पिंड-कदम्बकानि ॥७॥

भावार्थ—रे मराल ! कठोर कठोर मुक्ताफल तू चुगता है, यह समझ कर तू अपने चित्त में अभिमान का अंकुर न उगने दे। श्राद्धादिक में मुक्ताफलों से भी मधुर और कोमल बड़े बड़े पिंडे मैं सानन्द आस्वादन करता हूँ।

रे नीलकण्ठ ! शितिकण्ठतनूभवस्य,
भारं वहन्नपि नहि त्रपसे, तदस्तु ।
चित्रं मदीयचरणौ मृदुलौ मनोज्ञौ
दृष्ट्वापि नैव यदधोमुखतां प्रयासि ॥८॥

भावार्थ—रे नीलकण्ठ !—(मयूर)—शंकर के पुत्र (कुमार कार्तिकेय) के बोझे को लादकर भी यदि तुझे लज्जा नहीं आती, तो न सही, परन्तु आश्चर्य यह है कि, तू मेरे महामृदुल और महा सुन्दर पैरों को देखकर भी, अपना सिर नीचा नहीं कर लेता।

सर्वे खगा शृणुत मत्सदृशं वदामि,
लोकत्रयेऽपि किल कोऽपि न सत्तमोऽस्ति ।
दृष्टा विशीर्णनगणस्य नि[illegible]
आयाति [illegible] न मे प्रनागम् ॥९॥

भावार्थ—हे समस्त पक्षिगण ! सुनो मैं [illegible], [illegible] मेरी बराबरी करनेवाला कोई नहीं है। [illegible] को देखनेवाले एक [illegible] ।

(९)

उपलपात, जलपात, भयकर वज्रपात भी सहते, है,
देहपात तक भी सहने में कोई कुछ नहिं कहते है।
किन्तु असह्य उरोज-पात का करते ही कुविचार,
तेरी विषम बुद्धि पर बुधवर हँसते है शत वार॥

(१०)

कटु इन्द्रायण में सुन्दर फल! मधुर ईख में एक नही!
बुद्धिमान्द्य की सीमा तूने दिखलाई है कही कही।
निपट सुगन्धहीन यदि तूने पैदा किया पलाश,
तो क्या कञ्चन मे भी तुझको करना न था सुवास?

(११)

विश्व बनानेवाला तुझको सब कोई बतलाते है,
विहग बनाने में भी तेरी भूल किन्तु हम पाते है।
यदि तेरे कर में कुछ होता कला-कुशलता लेश,
काक और पिक एक रग के क्यो होते लोकेश?

(१२)

वायस विहरै है गलियो में हस न पाते जाते है,
कण्टकारि सब कही; कमल-कुल कही कही दिखलाते है।
मृगमद पाने का क्या कोई था ही नही सुपात्र,
जो तूने उसमे पशुओ का किया सुगन्धित गात्र॥

(१३)

नित्य असत्य बोलने में जो तनिक नही सकुचाते है,
सींग क्यो नही उनके सिर पर बडे बडे उग आते है?
घोर घमण्डी पुरुषो की क्यो टेढी हुई न लक?
चिह्न देख जिसमें सब उनको पहचानते निशक॥

(१४)

दुराचारियो को तू प्राय धर्म्माचार्य्य बनाता है,
कुत्सित-कर्म-कुशल कुटिलो को अक्षरज्ञ उपजाता है।
मूर्ख धनी, विद्वज्जन निर्धन, उलटा सभी प्रकार!
तेरी चतुराई को ब्रह्मा! वार वार धिक्कार॥

(१५)

घोड़े जहाँ अनेक, गधों का वहाँ काम क्या था? सच कह;
विविद हो गई तेरी सारी चतुराई, तू चुप हो रह।
शुद्धाशुद्ध शब्द तक का है जिनको नहीं विचार,
लिखवाता है उनके कर में नये नये अखबार॥

(१६)

विधे! मनोज्ञ-मातृ-भाषा के द्रोही पुरुष बनाना छोड़,
रामनाम सुमिरन कर बुड्ढे और काम में अब मुख मोड़।
एकानन हम, चतुरानन तू, अतः कहें क्या और विशेष?
बुद्धिमान जन को इतना ही बतलाना बस है भुवनेश!

२१—हे कविते!

(जून १९०१ की सरस्वती में प्रकाशित)

(१)

सुरम्यरूपे! रसराशिरञ्जिते!
विचित्रवर्णाभरणे कहाँ गई?
अलौकिकानन्दविधायिनी महा-
कवीन्द्र-कान्ते! कविते! अहो कहाँ?

(२)

कहाँ मनोहारि-मनोज्ञता गई?
कहाँ छटा क्षीण हुई नई नई?
रही न तेरी कमनीयता रही;
बता तुही तू किस लोक को गई॥

(३)

नहीं रही भी तुकतान्तराग में,
छिपा पड़ी है नव रूपसम्पदा।
सजीव होती यदि जीवलोक में,
कहीं कहीं तो मिलती अवश्य ही॥

(४)

सती हुई क्या कवि-कालिदास के,
शरीर के साथ तभी अनाथ हो ?
विलुप्त किंवा भवभूति सग ही,
हुई मही से, अवलम्ब के विना ?

(५)

प्रयाण तूने तब तो नही किया,
विराजती भूतल में रही कही ।
अवश्य श्रीहर्ष-शरीर गोद ले,
सहर्ष तू साथ गई, गई, गई ।।

(६)

हुआ पुनर्जन्म फिरङ्ग-देश मे,
परन्तु सो भी कुछ काल के लिए ।
पता वहाँ भी मिलता नही हमें,
वता कहाँ है अब तू मनोरमे ।।

(७)

नितान्त अन्धो पर भी कभी कभी
कृपावती होकर हे सुलक्षणे !
सदैव तू तन्मुख-मन्दिर-स्थिता,
प्रकाशती है निज सर्व सम्पदा ।।

(८)

मुनेश्वरो यदि तू चहै नही,
अनेश्वरो का न अभाव हिन्द में ।
अत उन्ही मे चुन एक आव को,
कृपाधिकारी अपना वना, वना ।।

(९)

कभी कभी तू अव भी दयावने !
दया करै है इस दीन देश पै ।
महान्महाराष्ट्र, विशाल-वङ्ग में,
विकास तेरा कविते ! कही हुआ ।।

(१०)

मनुष्य मारे सम हैं तुझे सदा,
विचारती जाति न पाँति तू कभी।
इसी लिए दोष तुझे न दे सकें,
अनेक-दोषाकर हाय! हैं हमी॥

(११)

अनन्तवर्षावधि तू यहाँ रही,
तथापि तेरा कुछ ज्ञान ही नहीं।
विचित्रता और विशेष क्या कहूँ;
कृतघ्नता का बस अन्त हो गया॥

(१२)

अभी हमें ज्ञात यही नहीं हुआ,
रही किसाकारक तू रसात्मिके!
स्वरूप ही का जब ज्ञान है नहीं,
विभूतियों की तब क्या कहें कथा?

(१३)

तुषान्त ही में कावनान्त है यही,
प्रभाग कोई मतिमान मानते।
उन्हें नहीं काम कदापि और से,
अहो महामोह! प्रचण्डता तव॥

(१४)

नवीन कोई घनघ-च्छटामयी,
महाघटाटोपवती सुनीलिमा।
बनाए नाना गिरि हे विलक्षणे!
तुझे वशीभूत हुई विचारने॥

(१५)

सदा मनस्या भरका नई नई;
सुनाय कोई रवि पात्र पूर्णिमा।
तुझे कहीं मैं अनुरक्त मान, मैं
[illegible] होते नहीं, न [illegible]!

(१६)

कही कही छन्द, कही सुचित्रता,
कही अनुप्रास-विशेष मे तुझे।
सुजान ढूँढे अनुमान मे सदा,
परन्तु तू काव्य-कले ! वहाँ कहाँ ?

(१७)

सके तवाकार वनाय भी यदि,
वृथा परिश्रान्ति तथापि सर्वथा।
वताइए, जीवविहीन देह से,
सजीव की सुन्दरि क्या समानता ?

(१८)

विचार ऐसे जगदम्ब ! है जहाँ,
न दर्शनो का तव आसरा वहाँ।
अजेय इच्छा उस ईश की, उसे
मिटाय देवै, यह शक्ति है किसे ?

(१९)

विडम्बना जो यह हो रही तव,
समूल ही भूल उसे दयामयी !
पधारने की अभिलाष होय जो,
न आव तौभी कुछ काल लौं यहाँ ॥

(२०)

अभी मिलैगा व्रज-मण्डलान्त का,
सुभुक्त-भाषामय वस्त्र एक ही।
शरीर-सगी करके उसे सदा,
विराग होगा तुझको अवश्य ही ॥

(२१)

इसी लिए हो भवभूति-भाविते !
अभी यहाँ हे कविते ! न आ, न आ।
बना तुही कौन कुलीन कामिनी,
सदा चहैगी पट एक ही वही ॥

(२२)

सुरम्यता ही कमनीय कान्ति है,
अमूल्य आत्मा, रस है मनोहरे!
शरीर तेरा, सब शब्द मात्र हैं,
नितान्त निष्कर्ष यही, यही, यही॥

(२३)

हुआ जिन्हों को यह तत्त्व ज्ञात,
वही वशीभूत तुझे करेंगे।
विलम्ब से वा अविलम्ब से वा
दया उन्हीं पै तव देवि! होगी॥

(२४)

कुछ समय गये हैं याचता जो दिखावैं
सदय-हृदय हो के तू उन्हीं से यही था।
न उचित अबला का नित्य स्वच्छन्द-राग;
बस अधिक कहूँ क्या? हे महानन्द-दात्रि॥

३२—ग्रन्थकार-लक्षण

(अगस्त १९०१ की सरस्वती में प्रकाशित)

(१)

एक प्रकारी ज्ञान-निधान,
नीरोगशरीरी, गुणवान,
बुद्धि-राशि विद्या की वारिधि पार करके आया है।
नाना रचा नवीन नवीन
करने में जो महा-प्रवीण,
ग्रन्थकार-माहात्म्य अनन्त कहने में सुनाता है॥

(१६)

कही कही छन्द, कही सुचित्रता,
कही अनुप्रास-विशेष मे तुझे।
सुजान ढूँढे अनुमान मे सदा,
परन्तु तू काव्य-कले! वहाँ कहाँ?

(१७)

सकै तवाकार वनाय भी यदि,
वृथा परिश्रान्ति तथापि सर्वथा।
वताइए, जीवविहीन देह से,
मजीव की सुन्दरि क्या समानता?

(१८)

विचार ऐसे जगदम्ब! है जहाँ,
न दर्शनो का तव आसरा वहाँ।
अजेय इच्छा उस ईश की, उसे
मिटाय देवै, यह शक्ति है किसे?

(१९)

विडम्बना जो यह हो रही तव,
समूल ही भूल उसे दयामयी!
पधारने की अभिलाष होय जो,
न आव तौभी कुछ काल लौं यहाँ॥

(२०)

अभी मिलैगा व्रज-मण्डलान्त का,
सुभुक्त-भाषामय वस्त्र एक ही।
शरीर-सगी करके उसे सदा,
विराग होगा तुझको अवश्य ही॥

(२१)

इसी लिए हो भवभूति-भाविते!
अभी यहाँ हे कविते! न आ, न आ।
वना तुही कौन कुलीन कामिनी,
सदा चहैगी पट एक ही वही॥

(२२)

सुरम्यता ही कमनीय कान्ति है,
अमूल्य आत्मा, रस है मनोहरे!
शरीर तेरा, सब शब्द मात्र है,
नितान्त निष्कर्ष यही, यही, यही॥

(२३)

हुआ जिन्हा को यह तत्त्व ज्ञात,
वही वशीभूत तुझे करेंगे।
विलम्ब में वा अविलम्ब में वा
दया उन्हीं पै तव देवि! होगी॥

(२४)

कुछ समय गये हैं योग्यता तो दिखावे
सदय-हृदय हो के तू उन्हीं के यहाँ आ।
न उचित अबला का नित्य स्वच्छन्द-वास,
बस अधिक कहें क्या? हे महामोद-दात्रि॥

३२—ग्रन्थकार-लक्षण

(अगस्त १९०५ की सरस्वती में प्रकाशित)

(१)

एक प्रधानी ज्ञान-निधान,
तीर्थराजवासी, गुणवान,
बुद्धि-राशि विद्या का [illegible] इधर आता है।
नाना ग्रन्थ नवीन नवीन
करने में यह महा-प्रवीण,
[illegible] सबको सुनाता है॥

(२)

सुनकर वह माहात्म्य अपार,
सोचसमझ कर भले प्रकार,
परमानन्द रूप-नद मे मन बहता है लहराता है।
उसका ही लेकर आधार;
निज वचनो का कर विस्तार,
लक्षण-मात्र ग्रन्थकारो का यहाँ सुनाया जाता है ॥

(३)

शब्द-शास्त्र है किसका नाम ?
इस झगडे से जिन्हें न काम,
नही विराम-चिह्न तक रखना जिन लोगो को आता है।
इधर-उधर से जोर-बटोर,
लिखते है जो तोड-मरोड,
इस प्रदेश में वे ही पूरे ग्रन्थकार कहलाते है ॥

(४)

भला-बुरा छपवाये सिद्ध,
धन न सही, नामही प्रसिद्ध,
नाटक, उपन्यास लिखने मे जरा न जो सकुचाते है।
जिनके नाच-कूद का सार,
बँगला-भाषा का भडार,
वे ही महा-महिम-विद्वज्जन ग्रन्थकार कहलाते है ॥

(५)

जिनके लोचन कोटर-लीन,
कच-कलाप तक तैल-विहीन,
जिनके जर्जर तन को मैले कपडे सदा छिपाते है।
कुटिल कटाक्ष किन्तु दुर्दान्त,
मति भी, गति भी कुटिल नितान्त,
वे ही भारतवर्ष देश में ग्रन्थकार-पद पाते है ॥

(६)

अन्यदेश-भाषा का ज्ञान,
कालकूट के घूँट समान,
स्वयं मातृभाषा भी जिनको देख देख घबड़ाती है।
भाड़े पर रख विज्ञ विशेष,
लिखवाते हैं जो निज लेख,
ग्रन्थकार-पदवी उनको ही दौड़ दौड़ लिपटाती है॥

(७)

जिनकी जिह्वा की खर धार,
देख, चमत्कृत छुरे हज़ार,
किन्तु लेखनी जिनके कर में धार-हीन हो जाती है।
लेखन-कला-कुशलता-हीन,
बातों मे जो बड़े प्रवीण,
ग्रन्थकार-पदवी उनको ही बिना मोल मिल जाती है॥

(८)

लक्ष्मी जिन लोगों के द्वार
आती नहीं एक भी बार,
सरस्वती जिनके प्रताप से भूतल से भग जाती है।
मानी मत्त-गयन्द समान,
अथवा मूर्तिमान अभिमान;
उनको ही सद्ग्रन्थकार की पदवी गले लगाती है॥

(९)

पापालय का अन्तर भाग
नहीं देखता जलती आग,
किन्तु सदा ईर्षानिल से तन जिसका जलता रहता है।
गुरु-जन को भी गाली-दान
देने में जिसको लज्जा न,
उसको ही ऊँचे दर्जे का ग्रन्थकार जग कहता है॥

(१०)

ए, वी, सी, डी का भी ज्ञान
जिनको अच्छी भाँति हुआ न,
अँगरेज़ी उद्धृत करने में किन्तु न जो शर्माते हैं।
ऐसे विद्या-बुद्धि-निधान
जिनका बड़ा मान-सम्मान,
निश्चय वे ही परम प्रतिष्ठित ग्रन्थकार कहलाते हैं ॥

(११)

संस्कृत-भाषा कौन पदार्थ?
जिन्हें न यह भी विदित यथार्थ,
धर्मशास्त्र का मर्म किन्तु जो लिख लिख कर समझाते हैं।
जन-समाज-संशोधन-कार्य,
व्यर्थ-वाद जिनका व्यापार,
सत्य सत्य वे ही अति उत्तम ग्रन्थकार कहलाते हैं ॥

(१२)

अपने ग्रन्थों का प्रतिवर्ष
विज्ञापन लिख स्वयं सहर्ष,
व्यास और वाल्मीकि तुल्य जो अपने को बतलाते हैं।
अथवा पुत्र, मित्र का नाम
देकर जो निकालते काम,
अति गम्भीर ग्रन्थकारों के गुरुवर वे कहलाते हैं ॥

(१३)

अपनी पुस्तक की सानन्द,
स्वयं समीक्षा लिख स्वच्छन्द,
अन्य नाम से अखबारों में जो शत बार छपाते हैं।
निज मुख से जो गुण-विस्तार
करते सदा पुकार पुकार,
ग्रन्थकार-पद-योग्य सर्वथा वे ही समझे जाते हैं ॥

(१४)

गृह में गृहिणी कोप-निधान,
देती जिन्हें न आदर-दान,
बाहर जिन्हें न पाठकगण भी भक्ति-भाव दिखलाते हैं।
जिनका कहीं नहीं सम्मान,
तिस पर घोर घमण्ड घटा न,
ग्रन्थकार-सिंहासन ऊपर आसन वही लगाते हैं॥

(१५)

ग्रह ज्यों रवि के चारों ओर
किया करें हैं दौरा-दौर,
त्यों पुस्तक-विक्रेता की जो बहु प्रदक्षिणा करते हैं।
दामोदर जो किसी प्रकार
भरते हैं सदैव झखमार,
ग्रन्थकार-गौरव की झोली वे ही यश में भरते हैं॥

(१६)

किसी समालोचक के द्वार
सिर घिस घिसकर बारबार,
निज पुस्तक की समालोचना जो सविनय लिखवाते हैं।
यदि आशय पाया प्रतिकूल,
ढूँढ़ा और कहीं अनुकूल,
ग्रन्थकार-कुल-कुमुद चन्द्रमा वे ही गिने जाते हैं॥

(१७)

टेक्स्ट-बुक की [illegible],
उसके जितने सभ्य सुजान,
उनके सिर [illegible] हैं।
[illegible],
और [illegible],
[illegible]॥

(१८)

नूतन-चित्र-चरित्र प्रचार,
करके उनकी चि अनुसार,
निज पुस्तक में जो धनिको की व्यर्थ बडाई गाते हैं।
उनमे रख भिक्षा की आस,
करते हैं जो वचन-विलास,
ग्रन्थकार-गुरुओ के भी वे कर्णधार कहलाते हैं॥

(१९)

न्थकार-गुण-गण नि शेष,
गान नही कर सकता शेष;
इमी लिए हम इस वर्णन को आगे नही बढ़ाते हैं।
हे हे ग्रन्थकार ! गुण-धाम !
हे स र्थं ! हे पावन-नाम !
शत योजन से हम यह अपना मस्तक तुम्हे झुकाते हैं॥

३३—सेवावृत्ति की विगर्हणा

(७ सितम्बर, १९०२ के अवध-समाचार में प्रकाशित)

(१)

चाहे कुटी अति घने वन में वनावै,
चाहे विना नमक कुत्सित अन्न खावै।
चाहे कभी नर नये पट भी न पावै,
सेवा प्रभो ! पर न तू पर की करावै॥

(२)

सेवा-समान अति दुस्तर दुखदायी,
दुर्वृत्ति और अवलोकन में न आई,
जीना कभी न उसका जग में भला है,
जो पेट-हेत पर-सेवन को चला है॥

(३)

स्वातन्त्र्य-तुल्य अति ही अनमूल्य रत्न,
देखा न और बहु बार किया प्रयत्न।
स्वातन्त्र्य में नरक-बीच विशेषता है,
न स्वर्ग भी सुखद जो परतन्त्रता है ॥

(४)

जो आत्मभाव अपना गिरि से गिरावें,
मानापमान कुछ भी मन में न लावें।
जो शीश नीच-नर-सम्मुख भी झुकावें,
सेवा वही कर, किसी विध पार पावें ॥

(५)

निद्रा, क्षुधादिक न जो जन जानते हैं,
न प्रात, रात, दिन जो पहचानते हैं।
जो मौन, दुर्वचन भी सुन ठानते हैं,
स्वातन्त्र्य खोकर वही सुख मानते हैं ॥

(६)

कोई कठोर यदि बात उसे कहे है;
कुत्ता कभी न फिर पास खड़ा रहे है।
दुर्वाक्य-बाण सह जो न करें विचार,
धिक्कार क्या न उनको [illegible] बार ?

([illegible])

जो श्वान के सदृश [illegible] मानते हैं
वे तुच्छता न [illegible] नर [illegible] ।
कुत्ता [illegible]
[illegible]

([illegible])

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥

द्वितीय खण्ड

कुमारसम्भवसार

भूमिका

कालिदास के काव्यों में कुमारसम्भव का भी बड़ा आदर है। इसमें र १७ सर्ग हैं, परन्तु पहले सात ही सर्गों के पठन-पाठन का दस्तूर रहा ार है। अष्टम सर्ग में कवि ने शंकर और पार्वती के शृंगारिक वर्णन की ाकाष्ठा कर दी है, यहाँ तक कि अनेक स्थल अश्लीलता-दूषित हो गये । शायद इसी कारण से सप्तम सर्ग तक ही इस काव्य के अनुशीलन की रिपाटी पड़ गई हो। कोई कोई यह भी कहते हैं कि आठ ही सर्ग कालिदास बनाये हुए हैं, शेष ९ सर्ग किसी ने उसके नाम से बनाकर जोड़ दिये हैं। र सम्भावना का कारण वे यह बतलाते हैं कि यदि सत्रह सर्गपर्यन्त ालिदास ही की रचना होती तो इस काव्य का 'तारकवध' अथवा इसी र्थ का द्योतक और कोई ऐसा ही नाम रक्खा जाता, 'कुमारसम्भव' न रक्खा ता, क्योंकि कुमार के द्वारा तारक का वध वर्णन करके सत्रहवें सर्ग की माप्ति हुई है।

कुमारसम्भव की कथा कालिदास ने शिवपुराण से ली है। ऐसा करने कवि ने कहीं कहीं शिवपुराण के श्लोकों के पूरे चरण के चरण ले ही र दिये हैं, पदयोजनाओं और भावों के ले लेने के प्रमाण तो एक सिरे से दूसरे रे तक सभी कहीं विद्यमान हैं। दो-चार उदाहरण लीजिए —

शिवपुराण १३ अध्याय	कुमारसम्भव प्रथम सर्ग
[illegible]	[illegible]

प० २०

गिरिशमुपचचार प्रत्यहे सा सुकेशी।

१४ अध्याय

महासुरस्तारकाख्यस्त्वत्त प्राप्तपराक्रम
सर्वलोकविनाशाय केतुराजिरिवोत्थित
एवमाराधितश्चापि स क्लिश्नाति जगत्त्रयम्
शाम्येत्प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जन

१५ अध्याय

असम्मत कस्तवेन्द्र, मुक्तिमार्गं पेक्षते।
त सुन्दरीकटाक्षैस्तु वध्नाम्याज्ञापय प्रभो

१६ अध्याय

अपिक्रियार्थं सुलभ पुष्पवारिसमित्कुशम्
अपि देवि तपोमूर्ध्नि स्वशक्त्या परिवर्तसे

गिरिशमुपचचार प्रत्यह सा सुकेशी
नियमितपरिखेदा तच्छिरश्चन्द्रपादै।

द्वितीय सर्ग

भवल्लब्धवरोदीर्णस्तारकाख्यो महासुर
उपप्लवाय लोकाना धूमकेतुरिवोत्थित
इत्थमाराध्यमानोपि क्लिश्नाति भुवनत्रयम्
शाम्येत्प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जन ॥

तृतीय सर्ग

असम्मत क तव मुक्तिमार्गं।
पुनर्भवक्लेशभयात्प्रपन्न।
बद्धश्चिर तिष्ठतु सुन्दरीणा-
मारेचितभ्रूचतुरै कटाक्षै ॥

पञ्चम सर्ग

अपि क्रियार्थं सुलभ समित्कुश
जलान्यपि स्नानविधिक्षमाणि ते।
अपि स्वशक्त्या तपसि प्रवर्तसे
शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम् ॥

कालिदास के विषय मे हम एक पृथक् निवन्ध लिखना चाहते हैं, उसमे कालिदास की इस कृति का विशेष रूप से विचार करने की हमारी इच्छा है। अत यहाँ पर, हम और कुछ नही कहते।

इस काव्य के प्रथम पाँच ही सर्ग सर्वोत्तम हैं। इसलिए हमने उन्ही का अनुवाद किया है। वहुत कम अवकाश मिलने के कारण तृतीय और पचम सर्ग का ही पूरा अनुवाद करके प्रथम, तृतीय और चतुर्थ सर्ग के अनुवाद में हमने मूल का आशय मात्र लिया है।

यह अनुवाद कलकत्ते के भारतमित्र में क्रमश छपा था, अव इसे काशी-नागरीप्रचारिणी-सभा पुस्तकाकार प्रकाशित करती है।

झाँसी,
१६ नवम्वर, १९०२

महावीरप्रसाद द्विवेदी।

कुमारसम्भवसार

प्रथम सर्ग

(६)

करि-कपोल-ताडित-मालद्रुम-दुग्ध-गन्ध की अधिकाई,
जिसकी शिखरमालिका को अति सुरभित करती, सुखदायी।
जमे हुए शीतल हिम पर भी, जिस गिरि मे, किन्नर-नारी,
चलती है मन्दही लिये निज-कुच-नितम्ब-त्राभा भारी॥

(७)

रवि के भय, उलूक-सम, दिन में, अन्धकार जब आता है,
अपनी गुहा बीच रख, जो गिरि, उसके प्राण बचाता है।
महा-नीच भी शरणागत को, जन महान वर-विज्ञानी,
अभय-दान देते है, तत्क्षण, कहते हुए मृदुल वानी॥

(८)

जिस पर्वत पर किन्नरबाला जब रतिसमर मचाती है,
वस्त्र खींचने से, लज्जावश, सकुच सकुच रह जाती है।
गुहाद्वार पर, अनायास, जब आँखे उनकी आती है,
लटके देख मेघ, परदे सम, सब सङ्कोच मिटाती है॥

(९)

सुरागाय अपनी पूँछो मे जिस पर चमर चलाती है,
"है यह महीधरो का राजा" यह मानो बतलाती है।
थके किरात जहाँ पाते है सुरसरि-क -लानेवाला,
विमल वायु, जिसने की कम्पित देवदारु-तरुवर-माला॥

(१०)

जिसके उच्च-शिखर-गत-जल के कमलो को, नीचे रह कर,
नित्य ऊर्ध्वगामी किरणो से, विकसित करता है दिनकर।
शाक्त देख जिसकी धरणी के धारण करने की अतितर,
यज्ञभाग, भूधरपतिपद भी, विधि ने दिया जिसे सुखकर॥

(११)

उसी हिमालय पर्वतपति ने विधिवत अपना किया विवाह,
पितरो की मानसी सुता शुचि मेना से, समेत उत्साह।
जिससे सुत मैनाक नाम का हुआ, पयोधि-मित्र, गुणवान,
नही काट जिसके पंखो को सका सुरेश महा बलवान॥

(१२)

तदनन्तर, शङ्कर की पहली पत्नी सती नामवाली,
दक्षयज्ञ में जल कर जिसने भस्म देह निज कर डाली।
आई गर्भ-मध्य मेना के रूप-शील-गुण-उजियाली,
जिसके जन्मकाल में सारी हुईं दिशा शोभाशाली॥

(१३)

स्थावर जङ्गम सबको, उसके होने से, सुख हुआ अनन्त,
शोभित हुई उसे निज गोदी में लेकर माता अत्यन्त।
चन्द्रकलावत नित दिन दिन वह बढ़ने लगी रूप की खान,
चढ़ने लगी लुनाई तन में परम रम्य चाँदनी समान॥

(१४)

नाम पार्वती, पर्वतकन्या होने से, उसने पाया,
"उ-मा", निषेध-वाक्य माता ने निजमुख से जो प्रकटाया।
"मत जा सुता तपस्या करने" इस प्रकार कह समझाया,
उमा उमा कहने सब लागे, नाम दूसरा छवि छाया॥

(१५)

था यद्यपि सुत; किन्तु पिता की हुई वही बढ़ कर प्यारी,
सच है, आम-मञ्जरी ही पर प्रीति मधुपगण की भारी।
जैसे ज्योति दीप को, सुरसरि सुरपुर को शोभादायी,
तैसे हुई हिमाचल को वह कन्या उसके घर आई॥

(१६)

नित खेलती गेंद गुड़िया ले, गंगा-तट को भी जाती,
बालू के घर रच रच, रहती क्रीडारस में वह माती।
हुई प्राप्त उसको, कुछ दिन में, पूर्वजन्म-विद्या सारी,
शरद-समय सुरसरि को जैसे हंस-पङ्क्ति तन-सञ्चारी॥

(१७)

विना किये शृङ्गार, अंग में शोभा जिससे आती है,
मदिरा पियें विना ही, जिससे मद-तरंग चढ़ जाती है।
विना बाण का बाण काम का, जो जन-मन-मन्थनकारी,
वही युवापन, उसे, समय, पर, आया अद्भुत, बलिहारी॥

(१८)

जैसे रंग, चित्र की दूनी छवि, क्षण में दिखलाता है,
जैसे कमलकली की शोभा भानु विशेष बढाता है।
तैसे नवयौवन ने उसके तन की सुन्दर सुघराई,
अग अग में दरसित करके, छटा अनूपम उपजाई ॥

(१९)

महि को, चरण अँगूठो से, जब, चलते समय दबाती थी,
नखआभा के मिस वह मानों लाल रंग टपकाती थी।
उससे नूपुर-शब्द सीखने की इच्छा रखनेवाले,
हसो ने क्या उसे सिखाये चलने के क्रम मतवाले ?

(२०)

त्वचा मत्त करिवर के कर की अतिशय कर्कश होती है,
केले की आकृति को उसकी शीतलता हठि खोती है।
देखा गया न यद्यपि जग में नका-सा आकार कही,
उनकी जघा के, ये दोनो, तदपि उचित उपमान नही ॥

(२१)

अन्य कामिनी जिस गोदी तक पहुँची नही कभी भी भूल,
वही जिसे, पीछे से, शिव ने सुख से धारण किया समूल।
विश्व- शसित उस बाला की कटि का पिछला भाग महान,
था कैसा कमनीय ? कीजिए, इतने से, उसका अनुमान ॥

(२२)

उसकी कटि-करधनी-मध्यगत-नीलम के आभास समान,
रोमावली हुई अति शोभित, नाभी तक बढाय परिमाण।
त्रिवली रुचिर, उदर ऊपर, उस कृशोदरी ने धरी, नवीन,
यौवन चढने की, मनोज ने, दो मानों सीढी स्वाधीन ॥

(२३)

उस सरोजनयनी के दोनो सटे हुए कुच कलशाकार,
एक दूसरे से लग लग कर, दुख देते थे बारबार।
काले मुखवाले वे गोरे, बढकर, इतने हुए विशेष,
नही मृणाल-तन्तु भी, उनके बीच, कभी कर सका प्रवेश ॥

(२४)

फूलों ही के काम वाण हैं, यह सब कहते आते हैं,
सिरस फूल से भी मृदुतर, हम, उसके बाहु बताते हैं।
क्योंकि पराजय पाने पर भी, जब बल अपना सभाला,
रतिपति ने श्रीकण्ठ-कण्ठ में यही बाहुबन्धन डाला॥

(२५)

पयोधरों से उन्नत उसका कण्ठ, और मुक्तामाला,
एक दूसरे की शोभा का हुआ नित्य देनेवाला।
कभी नहीं होती इकठौरी शशि-सरोज-सुन्दरताई,
किन्तु उमा के मुख में निज निज दोनों ने छवि दिखलाई॥

(२६)

फूल नवल पल्लव पर रहता, विद्रुम ऊपर जो मोती,
उसकी सित मुसकानि अधरयुत तो नके समान होती।
मृदु-भा ण मे जब वह मुख से सुधा-सलिल बरसाती थी,
कोकिल-कूक, विषम-वीणा-सम, कानों को न सुहाती थी॥

(२७)

वायु-वेग मे कम्पित सुन्दर नील-कमल की छवि-हारी,
उस विशालनयनी की चञ्चल चितवनि की मैं बलिहारी।
ऐसी चपल दृष्टि क्या उसने ृग-किशोरियों से पाई,
अथवा मृगकिशोरियों ही को उसे स्वय वह दे आई?

(२८)

उसकी देख विलासशील अति भव्य भौंह काली काली,
तजी काम ने निज-धनु-विषयक बातें सब घमण्डवाली।
पशु लज्जा रखते यदि, तो कच देख उमा के अति प्यारे,
चमरी गाय शिथिल करतीं निज केश-प्रेम-बन्धन सारे॥

(२९)

चन्द्र, कमल आदिक सब उपमा देने योग्य वस्तु-समुदाय,
जिसे जहाँ था उचित वहाँ ही रख ब्रह्मा ने चित्त लगाय।
साथ देखने की इच्छा से मानो विश्व सुन्दरता-सार,
रची उसे अत्यन्त यत्न से आकृति शोभा का आगार॥

(३०)

एक बार, नारद मुनि, उसको बैठी देख पिता के पास,
बोले "हर-प्रिया यह होगी, कर आ शरीर मे वास"।
इससे, उसके लिए पिता ने, की न अन्य वर की अभिलाष,
अग्नि विहाय, नही पाते हैं, शुद्ध हव्य को, अपर प्रकाश ॥

(३१)

उसके पाने की महेश ने इच्छा किन्तु न दरसाई,
इमी लिए कर सका न गिरिवर बात व्याह की मनभाई।
इष्ट कार्य्य में भी, सज्जन जन चुप-अवलम्बन करते है,
वचन-भङ्ग होने के भय से, मन में वे अति डरते है ॥

(३२)

जब से पूर्व जन्म मे गिरिजा जली, तभी से वैरागी
हुए महेश विना पत्नी के, विषय-वासना भी त्यागी।
गये हिमालय की उस चोटी ऊपर तप करने भारी,
मृग-कस्तूरी से सुरभित है जिसकी वनस्थली सारी ॥

(३३)

कुसुमकली के कुण्डल पहने, भूर्ज-वृक्ष की कोमल छाल,
बैठे शिलातलों पर नन्दी, भृङ्गी आदिक प्रमथ विशाल।
बर्फ खोदते हुए खुरों से वृ भराज ने बारबार,
असहनीय सिंहध्वनि सुनकर, किया भयङ्कर शब्द अपार ॥

(३४)

जिसमे स्वय सदा पाते है तप के फल, जन अनुरागी,
वही ईश निज आठ मूर्त्तियो में मे एक मूर्त्ति आगी।
रख सम्मुख, प्रज्वलित उसे कर, छोड काम सब ससारी,
किमी अपूर्व कामना के वश, बने तपश्चर्य्याकारी ॥

(३५)

इमी समय, दो सखी साथ दे, शैलराज ने निज कन्या,
शिव-सेवा करने को भेजी, रूप-राशि गुणगण-धन्या।
यदपि विघ्नकर थी वह तप की, तदपि शम्भु ने स्वीकारी,
ऐसे में भी, मन जिनके वश, सच्चे वही धीरधारी ॥

(३६)

वेदी सदा स्वच्छ करती थी, फूल तोड़ने जाती थी,
जल पूजन के लिए, तथा कुश, प्रेम-सहित ले आती थी।
इस प्रकार शङ्कर की सेवा कर, वह उन्हें लुभाती थी,
उनके भाल-चन्द्र की किरणों से श्रम सकल मिटाती थी॥

इति प्रथम सर्ग।

द्वितीय सर्ग

(१)

उस समय महा बलवान निशाचर तारक,
त्रैलोक्य जीत कर, हुआ देवसंहारक।
भयभीत अमरगण किये इन्द्र को आगे,
इसलिए पितामह पास गये सब भागे॥

(२)

जब उन मलीन-मुख-युक्त सुरों के सम्मुख,
वे हुए प्रकट, कर कृपा, कृपालु चतुर्मुख।
रच रुचिर पद्य, इस भाँति, भक्तिरस साने,
तब, शीश नाय, सुर लगे ब्रह्मगुण गाने॥

(३)

थे सृष्टि आदि में तुम्हीं अकेले स्वामी!
कर जोड़, भक्ति युत, तुम्हें नाथ! प्रणमामी।
रज, सत्व, तमोमय भेद, अनन्तर, तीन,
कर, भिन्न भिन्न त्रयमूर्ति हुए, स्वाधीन॥

(४)

जल बीच, प्रथम, निज बीज तुम्हीं ने डाला,
अतएव तुम्हीं से हुआ चराचर जाला।
विधि, विष्णु रुद्र आकार, यथाक्रम, धारी,
उत्पादक, पालक तुम्हीं, तुम्हीं संहारी॥

(२९)

तन्नाश हेत हे नाथ! एक सेनानी,
हम चाहते हैं अति शूर, वीर, बलखानी।
जिसको कर आगे, इन्द्र, विजयवाला वर,
बन्दीवत लावे छीन शत्रु से जाकर॥

(३०)

वाचस्पति की निःशेष हुई जब वानी,
विधि बोले, गर्जन अन्त पड़े ज्यों पानी।
हे देव! तुम्हारा काम सफल सब भाँती,
पर, स्वयं रचूँगा मैं न तारकाराती॥

(३१)

यह उसे हमी से मिला विभव-विस्तारा,
फिर, कैसे उसका करें हमी संहारा?
विष-पादप भी यदि बड़ा किया जाता है,
उस पर भी न्हीं कुठार दिया जाता है॥

(३२)

उसने तप अतिशय घोर किया मनमाना,
मुँहमाँगा हमने दिया उसे वरदाना।
अतएव, छोड़ शिव-अंश, अन्य बलवाना,
सह सकता उसका नहीं एक भी बाणा॥

(३३)

वे परम ज्योतिमय देव तमोगुण-हीन,
जानें गति उनकी विष्णु और हम भी न।
उनका मन तप में लीन, उमा के द्वारा,
तुम खींचो, खींचे अयस्कान्त* ज्यों सारा†॥

(३४)

तेजोमय शिव का बीज रिपुक्षय-कारण,
कर सकती केवल एक उमा ही धारण।
तत्सुत बन सेनाधीश बलिष्ठ तुम्हारा,
खोलेगा बन्दी-देववधू-कच-भारा॥

* अयस्कांत = चुम्बक।
† सारा = लोहा।

(३५)

स भाँति, इ र, कह, हुए लोप लोकेश,
सुर गये, उधर, सुरलोक, सहित देवेश।
सुरपति ने जाके वहाँ, विदाकर सुरगण,
मन ही मन चिन्तन किया काम का तत्क्षण ॥

(३६)

चाप, रम्यरमणी की अति ही बाँकी भृकुटी-लता समान,
रतिकङ्कण-अङ्कित स्वकण्ठ मे सज्जित कर, सौन्दर्य-निधान।
सखा वसन्त-हाथ में देकर आम्रमञ्जरी-रूपी बाण,
आया, तब, सम्मुख सुरेश के, प्रणत पुष्पधन्वा बलवान ॥

इति द्वितीय सर्ग।

तृतीय सर्ग*

(१)

सारे देववृन्द से खिंचकर देवराज के नयन हजार,
कामदेव पर बड़े चाव से आकर पड़े एक ही बार।
अपने सब सेवक समूह पर स्वामी का आदर-सत्कार,
प्राय घटा बढ़ा करता है सदा प्रयोजन के अनुसार ॥

(२)

"सुख से बैठो यहाँ मनोभव!"— स प्रकार कर वचन-विकाश,
आसन रुचिर दिया सुरपति ने अपने ही सिंहासन-पास।
स्वामी की इस अनुकम्पा का अभिनन्दन कर शीश झुकाय,
रतिनायक, इस भाँति, इन्द्र से बोला उसे अकेला पाय ॥

(३)

सबके मन की बात जानने में अति निपुण! प्रभो! देवेश!
विश्व बीच कर्त्तव्य कर्म्म तब क्या है मुझे होय आदेश।
करके मेरा स्मरण, अनुग्रह दिखलाया है जो यह आज,
उसे अधिक करिए आज्ञा से—यही चाहता हूँ सुरराज!

---

* इस सर्ग की कथा बहुत ही मनोहर है, सलिए, हमने इसका पूरा अनुवाद किया है।

(४)

इन्द्रासन के इच्छुक किसने करके तप अतिशय भारी,
की उत्पन्न असूया तुझमे ? मुझमे कहो कथा सारी।
मेरा यह अनिवार्य शरासन पाँच-कुसुमसायक-धारी,
अभी बना लेवै तत्क्षण ही उसको निज-आज्ञाकारी ॥

(५)

जन्म-जरा-मरणादि दुःख से होकर दुखित कौन ज्ञानी,
तव सम्मति-प्रतिकूल गया है मुक्तिमार्ग में अभिमानी ?
भृकुटी-कुटिलकटाक्ष-पात से उसे सुन्दरी सुरबाला,
वाँ डाल रक्खै, वैसे ही पड़ा रहै वह चिरकाला ॥

(६)

नीति शुक्र से पढ़ा हुआ भी है यदि कोई अरि तेरा,
पहुँचै अभी पास उसके झट दूत रागरूपी मेरा।
जल का ओघ नदीतट दोनो पीडित करता है जैसे,
धर्म्म, अर्थ—दोनो ही उसके पीडन करूँ कहो तैसे ॥

(७)

महापतिव्रतधर्म्मधारिणी किस नितम्बिनी* ने अमरेश !
निज चारुता दिखाकर तेरे चञ्चल चित में किया प्रवेश।
क्या तू यह इच्छा रखता है, कि वह तोड लज्जा का जाल
तेरे कंठदेश में डाले आकर अपने बाहु-मृणाल ?

(८)

समझ सुरत-अपराध, कोपकर, किस तरुणी ने हे कामी !
तुझे तिरस्कृत किया, हुआ तव शीश यदपि तत्पदगामी।
उग्रताप से व्याकुल होकर वह मन में अति पछतावै,
पड़ी रहै पल्लवशय्या पर, किये हुए का फल पावै ॥

(९)

मुदित हूजिए वीर ! वज्र तव करै अखण्डित अब विश्राम;
बतलाइए, देवताओ का वैरी कौन पराक्रम-धाम।
मेरे शरसमूह से होकर विफल-बाहुबल कम्पितगात,
अधर कोप-विस्फुरित देखकर, डरै स्त्रियो से भी दिनरात ॥

---

* नितम्बिनी = स्त्री।

(१०)

हे सुरेश ! तेरे प्रसाद से कुसुमायुध ही मैं इस काल,
साथ एक ऋतुपति को लेकर, और प्रपञ्च यहीं सब डाल।
धैर्य्य पिनाकपाणि हर का भी, कहिए, स्खलित करूँ देवार्थ,
और धनुष धरनेवाले सब मेरे सम्मुख तुच्छ पदार्थ !

(११)

पादपीठ को शोभित करते हुए इन्द्र ने, इतने पर,
जंघा से उतार कर अपना खिले कमल सम पद सुन्दर।
निज अभिलषित-विषय में सुनकर मन्मथ का सामर्थ्य महा,
उससे, अति-आनन्द-पूर्वक, समयोचित, इस भाँति कहा ॥

(१२)

मन्मथ ! सभी तू कर सकता है, तेरी शक्ति जानता हूँ,
तुझको और कुलिश को ही मैं अपना अस्त्र मानता हूँ।
तपोबली पुरुषों के ऊपर वज्र व्यर्थ ही जाता है,
मेरा तू अमोघ साधन है, सभी कहीं तू जाता है ॥

(१३)

तेरा बल है विदित, तुझे मैं अपने तुल्य समझता हूँ,
बड़े काम में इसी लिए ही तुझे नियोजित करता हूँ।
देख लिया जब यह, कि शेष ने सिर पर भूमि उठाई है,
तभी विष्णु ने उस पर अपनी शय्या सुन्दर बनाई है ॥

(१४)

यह कह कर, कि सदाशिव पर भी चल सकता है शर तेरा,
मानों अंगीकार कर लिया काम ! काम तूने मेरा।
यही इष्ट है; क्योंकि, शत्रु अब अति उत्पात मचाते हैं,
यज्ञभाग भी देववृन्द से छीन छीन ले जाते हैं ॥

(१५)

जिसके औरस पुत्ररत्न को करके अपना सेनानी,
सुर विजयी होना चहते हैं, मार असुर नर अभिमानी।
वही महेश समाधिमग्न है, पास कौन जा सकता है ?
तेरा विशिख तथापि एकही कार्य्य-सिद्धि कर सकता है ॥

(१६)

ऐसा करो उपाय जायकर, हे रतिनायक बडभागी !
हो जिससे पवित्र गिरिजा में योगीश्वर हर अनुरागी।
उनके योग्य कामिनी-कुल में वही एक गिरि-वाला है,
सत्यवचन ब्रह्मा ने अपने मुख मे यही निकाला है॥

(१७)

जहाँ हिमालय ऊपर हर ने तप-लीला विस्तारी है,
गिरिजा वही पिता की अनुमति से सेवार्थ सिधारी है।
यह सवाद अप्सराओ से सुन पाया मैंने सारा,
भेद जान लेता हूँ सवका सदा इन्ही के ही द्वारा॥

(१८)

अत सुरों की कार्यसिद्धि के लिए करो अव तुम प्रस्थान,
इसे करेंगी सफल उमा ही, इसमें कारण वही प्रधान।
तू भी है तथापि इस सवका हेतु अपेक्षाकृत बलवान,
उग आने के पहले, आदिम अकुर के जलदान समान॥

(१९)

सकल सुरों की विजय-कामना के उपाय हैं हर, उन पर,
शर तेरे ही चल सकते हैं, वडभागी है तू अतितर।
अप्रसिद्ध भी कार्य, और से हो सकता जो कभी नही,
उसके भी करने में यश है, यह तो विश्रुत मर्मी कही॥

(२०)

ये सब सुर तेरे याचक हैं, गति नकी कुण्ठित सारी,
है तीनो लोकों का मन्मथ ! कार्य महामगलकारी।
तव धन्वा के लिए कर्म्म यह नही निपट घातक भारी,
तेरे तुल्य न वीर और है, अहो विचित्र-वीर्यधारी !

(२१)

ऋतुनायक तेरा सहचर है सदा साथ रहनेवाला,
विना कहे ही तुझको देगा वह सहायता, इस काला।
"शिखा अग्नि की वढा दीजिए हे समीर ! जीवनदाता" !
भला पवन से क्या कोई भी इस प्रकार कहने जाता ?

(२२)

एवमस्तु कह कर, स्वामी के अनुशासन को अति-अभिराम,
मालावत मस्तक ऊपर रख सादर, चला वहां से काम।
ऐरावत की पीठ ठोकने से कर्कश कर को स्वच्छन्द,
सुरपति ने उसके शरीर पर फेरा कई बार सानन्द॥

(२३)

प्रिय वसन्त, प्रियतमा प्राणसम रति भी, दोनों निपट सशङ्क,
मन्मथ के अनुगामी होकर, चले साथ उसके सातङ्क।
"मैं अवश्य सुरकार्य करूँगा, चाहे हो शरीर भी नाश",
यह दृढ़ कर, हिमशैल-शृङ्ग पर गया अनङ्ग शिवाश्रम-पास॥

(२४)

उस आश्रमवाले अरण्य में थे जितने संयमी मुनीश,
उनके तपोभङ्ग में तत्पर हुआ वहां जाकर ऋतु-ईश।
मन्मथ के अभिमानरूप उस मधु* ने अपना प्रादुर्भाव,
चारों ओर किया कानन में, दिखलाया निज प्रबल प्रभाव॥

(२५)

यक्षराज† जिसका स्वामी है उसी दिशा की ओर प्रयाण,
करते हुए देख दिनकर को, उल्लङ्घन कर समय-विधान।
मन में अति दुःखित-सी होकर, हुआ समझ अपना अपमान,
छोड़ा दक्षिण-दिशा-वधू ने मलयानिल निश्वास-समान॥

(२६)

कामिनियों के मधुर-मधुर-रवकारक-नव-नूपुर-धारी-
पद से स्पर्श किये जाने की न कर अपेक्षा सुखकारी॥
गुद्दे ने लेकर अशोक ने, तत्क्षण, महा-मनोहारी,
कली नवल-पल्लव-युत सुन्दर धारण की प्यारी प्यारी॥

(२७)

कोमल पत्तों को बनाय, झट पक्षपंक्ति लाली लाली,
आम्रमञ्जरी के प्रस्तुत कर नये विशिख शोभाशाली।
शिल्पकार ऋतुपति ने उन पर मधुप मनोहर बिठलाये,
काम-नाम के अक्षर मानों काले काले दिखलाये॥

---

* मधु=वसन्त। † यक्षराज=कुबेर।

(२८)

रहती है यद्यपि कनेर मे रुचिर रग की अधिकाई,
तदपि सुवासहीनता उसके मन को हुई दु खदाई।
वही विश्वकर्ता करता है जो कुछ जी में आता है,
सम्पूर्णता गुणो की प्राय कही नही प्रकटाता है ॥

(२९)

बालचन्द्र सम जो टेढी है, जिनका अब तक नही विकाश,
ऐसी अरुणवर्ण कलियो से अतिशय शोभित हुआ पलाश।
मानों नव-वसन्त-नायक ने, प्रेम विवश होकर, तत्काल,
वनस्थली को दिये नखो के क्षतरूपी आभरण रसाल ॥

(३०)

नई वसन्ती ऋतु ने करके तिलक फूल को तिलक समान,
देकर मधुपमालिकारूपी मृदु कज्जल शोभा की खान।
जैसा अरुण रंग होता है बालसूर्य में प्रात काल,
तद्वत नवल-आमपल्लव-मय अपने अधर बनाये लाल ॥

(३१)

रुचिर चिरौंजी के फूलों की रज जो उड उड कर छाई,
हरिणों की आँखो में पडकर, पीडा उसने उपजाई।
इससे, वे अन्धे से होकर, मरमरात पत्तेवाले,
कानन में, समीरसम्मुख, सब भागे मद से मतवाले ॥

(३२)

आममञ्जरी का आस्वादन कोकिल ने कर बारम्बार,
अरुणकण्ठ से किया शब्द जो महा मधुरता का आगार।
"हे मानिनी कामिनी ! तुम सब अपना मान करो नि शेष",
स प्रकार मन्मथ-महीप का हुआ वही आदेश विशेष ॥

(३३)

जिनके अधर निरोग हो गये हिम पडना मिट जाने से,
जिनकी मुख छवि पीत हो गई कुकुम के न लगाने से।
ऐसी किन्नर-कामिनियो के तन में स्वेदबिन्दु, सुन्दर,
रुचिर-पत्ररचना के ऊपर, शोभित हुए, प्रकट होकर ॥

(३४)

शिव-आश्रम के आस पास थे जितने मुनिवर वनवासी,
असमय में ही देख आगमन ऋतुपति का मायाराशी।
सहसा अति गुरुतर विकार का, कई बार, खाकर झोंका,
किसी प्रकार उन्होंने अपना विचलित-चित्त-वेग रोका॥

(३५)

पुष्पशरासन पर चढ़ाय शर, उस प्रदेश में जब रतिनाथ,
पहुँचा निज सहधर्म्मचारिणी रति को लेकर अपने साथ।
जितने थे स्थावर, जङ्गम, सब, आतुरता-वश, वारवार,
रति-सूचक-शृंगार-भावना करने लगे अनेक प्रकार॥

(३६)

फूलरूप एक ही पात्र में भरा हुआ मीठा मकरंद,
भ्रमरी के पीने के पीछे, पिया भ्रमरवर ने स्वच्छंद।
छूने से जिस प्रिया मृगी ने सुखवश किये विलोचन बन्द,
एक सींग से उसे खुजाया कृष्णसार मृग ने सानन्द॥

(३७)

गजिनी ने मुख में रख कर जल पङ्कज रज-सुवासवाला,
रस के वश होकर, फिर, उसको निज गज के मुख में डाला।
आधे खाये हुए कमल के मञ्जुल-तन्तुजाल देकर,
चक्रवाक ने किया प्रिया का आदर, अनुरागी होकर॥

(३८)

ऊँचे स्वर से गान समय में, प्रचुर परिश्रम होने से,
कुछ कुछ बिगड़ गई जिस मुख पर पत्रावली पसीने से।
पुष्पासव पीने से जिन पर घूम रहे दृग अरुणारे,
रसिक-किन्नरों ने पत्नी के चूमे मुख ऐसे प्यारे॥

(३९)

फूले हुए नवल फूलों के गुच्छे ही कुचवाली,
हैं उज्ज्वल-पल्लव ही जिनके अधर मनोहरतावाली।
ऐसी ललित लता-ललनाओं से तरुओं ने भी पाया,
झुकी हुई शाखाओं के मिस भुजबन्धन अति मन भाया॥

(४०)

चतुर अप्सराओं का, इस क्षण, सुन कर भी मंजुल गाना,
आत्मा का चिन्तन ही करते रहे महेश्वर भगवाना।
जिन महानुभावों के वश में अपना मन हो जाता है,
तपोविघातक विघ्न कभी भी उनके पास न आता है॥

(४१)

लिये हुए थे वाम हस्त में अति अभिराम हेम का दण्ड,
लताभवन के भव्य द्वार पर गया हुआ नन्दी उद्दण्ड।
मुख पर उँगली रख, सञ्ज्ञा से, बोला ऐसे वचन विशेष —
"हे गणवृन्द! करो न चपलता, मानो तुम मेरा आदेश॥"

(४२)

कम्पहीन सब हुए महीरुह, निश्चल हुए मधुप-समुदाय,
मूक हुए खग, शान्त हुए मृग, अपना आवागमन भुलाय।
वह सारा अरण्य नन्दी का दुर्विलंघ्य अनुशासन पाय,
तत्क्षण ही होगया चित्रवत, स्वाभाविक भी नियम विहाय॥

(४३)

यात्रा में सम्मुख पड़ता है जहाँ शुक्र, उस देश-समान,
दृष्टि बचाय नन्दिकेश्वर की, बड़े बड़े कर यत्न-विधान।
सुरपन्नाग-वृक्ष की शाखा फैली थी जिस पर सविशेष,
शङ्कर के समाधि-मण्डप में रतिनायक ने किया प्रवेश॥

(४४)

पावन देवदारु तरुवर की विशद वेदिका सुखदायी,
शार्दूल के रुचिर-चर्म्म से भलीभाँति जो थी छाई।
योगमग्न त्रिनयन को बैठे हुए वही उसके ऊपर,
शीघ्र-शरीर-छोड़नेवाले मनसिज ने देखा जाकर॥

(४५)

तन का भाग ऊपरी स्थिर था, वीरासन में थे शङ्कर,
वे विशेष, सीधे भी थे, पर कन्धे थे विनम्र अतितर।
उलटे रक्खे देख पाणियुग, मन में ऐसा आता था, —
खिला कमल उनकी गोदी में मानों शोभा पाता था॥

(४६)

लिपटाकर भुजङ्गवर, ऊँचा जटा-कलाप वनाया था,
दोनों कानों में द्विगुणित कर अक्षमाल लटकाया था।
कृष्णभार मृग-चर्म्म उन्होने, गाँठ वाँध, लिपटाया था,
कण्ठ-कालिमा ने कालापन उसका वहुत वढाया था॥

(४७)

जो किञ्चित ही भासमान थे, जिनकी अचल उग्र तारा,
और, जिन्होने भुला दिया था भृकुटी का विलास सारा।
पलक-जाल जिनके निश्चल थे, किरण अधोमुख पडते थे,
ऐसे नयनो मे नासा की नोक महेश देखते थे॥

(४८)

वारिद-वृन्द विना वर्षा के जैसे शोभा पाता है,
विना लोल कल्लोल*-कला के जैसे सिन्धु दिखाता है।
विना वायुवाले मन्दिर में कम्पहीन दीपक जैसे,
अन्तर्गत-मारुत-निरोध से शम्भु हो रहे थे तैसे॥

(४९)

विमल ज्योति की छटा शीश से, होकर उदित, निकलती थी,
निकल, तीसरे दृग के पथ से जो सव ओर फैलती थी।
उससे, मृदुल-मृणाल-तन्तु की माला से भी कोमलतर,
वालचन्द्रमा की शोभा को म्लान कर रहे थे शङ्कर॥

(५०)

त्रिगुण तीन द्वारों में मन का आवागमन रोक, ईशान
वश में कर उसको समाधि, से, दे हृदयारविन्द में स्थान॥
जिसको अविनाशी कहते है वडे वडे विज्ञान-निधान,
उस आत्मा को वह अपने में देख रहे थे करके ध्यान॥

(५१)

मन मे भी जिनकी न घर्षणा हो सकती है किसी प्रकार,
ऐसे दुराधर्ष त्रिनयन को देख समीप भाग से मार।
वह, यह सका न जान, तनिक भी, शिथिलित-कर होकर, डर से,
शर भी, और शरासन भी, कव खिसक पडे उसके कर

---

*कल्लोल = लहर।

(५२)

तदुपरान्त, निज सुन्दरता से, मन्मथ का प्राय निःशेष,
हुआ वीर्य, पुनरुज्जीवित-सा फिर मे करती हुई विशेष।
साथ लिये वन की दो देवी, धरती हुई शम्भु का ध्यान,
हुई नयनगोचर गिरिकन्या गिरिजा गुण-गौरव की खान ॥

(५३)

जिसके नव-अशोक फूलों ने पद्मराग-छवि छीन लिया,
जिसके कर्णिकार कुसुमो ने स्वर्णवर्ण दुर्वर्ण किया।
जिसके निर्गुण्डी के गुच्छे हुए मोतियों की माला,
वही वसन्त-पुष्प के गहने पहने थी वह गिरिबाला ॥

(५४)

अति उत्तुङ्ग-उरोज-भार से वह कुछ नम्र दिखाती थी,
बालसूर्य-सम लाल वस्त्र से ऐसी शोभा पाती थी।
प्रचुर-पुष्प-गुच्छों से झुक कर नये नये पल्लववाली,
चलती है, भूतल पर, मानों ललित-लता लाली लाली ॥

(५५)

अच्छे बुरे स्थान के ज्ञाता चतुर मनोभव के द्वारा,
रक्खी गई धनुष की अन्या डोरी सम शोभा सारा।
कटि-करधनी बकुल-फूलों की ढीली हो हो जाती थी,
उसको वह अपने नितम्ब पर बार बार हटाती थी ॥

(५६)

परम-सुगन्धवती श्वासों से बढ़ी हुई तृष्णावाले,
बिम्बाधर के पास, मधुप जो आते थे काले काले।
इससे, वह दृग चञ्चल करके, क्षण क्षण में घबडाती थी,
और खेल के कमल फूल से उनको दूर उडाती थी ॥

(५७)

काम-कामिनी* को भी लज्जित करनेवाली बारबार,
उस सर्वाङ्ग-सुन्दरी को कर लोचन-गोचर भले प्रकार।
अति दुर्जय, अति-अगम जितेन्द्रिय, शूलपाणि शिव के स्वाधीन,
अपने कार्य सिद्धि की आशा मनसिज को फिर हुई नवीन ॥

---

* काम-कामिनी = रति।

(५८)

निहार निज पति शङ्कर का तपोभवन जो था सुन्दर,
उसके परम पवित्र द्वार पर शैलसुता पहुँची जाकर।
अन्तर्गत परमात्मासञ्ज्ञक तेज पुञ्ज विलोकन कर,
प्रखर-योग-साधक-समाधि से विरत शम्भु भी हुए उधर॥

(५९)

जिनके आसन के नीचे के भूमिभाग को सर्पाधीश,
फण-सहस्र पर बड़े यत्न से, रक्खे रहा लगाये शीश।
वे महेश निज प्राणवायु को धीरे धीरे, युक्तिसमेत,
छोड, निविड वीरासन अपना शिथिलित करके, हुए सचेत॥

(६०)

"महाराज! गिरिवर की कन्या सेवा करने है आई"—
शीश नाय नन्दी ने उनसे कही बात यह सुखदाई।
स्वामी के भ्रूभग-मात्र से जब उसने निदेश पाया,
गिरिजा को सत्कार-सहित वह उनके सम्मुख ले आया।

(६१)

तोडे हुए हाथ से अपने, महा मनोहरता के मूल,
पत्तो के टुकडे युत, नूतन, शिशिरान्तक वसन्त के फूल।
गिरिजा की दोनों सखियो ने, विधिवत करते हुए प्रणाम,
शिव के पैरो पर विथराये, जोड पाणिपकज छविधाम।

(६२)

नील अलक में शोभित नूतन कर्णिकार-कलिका सुन्दर,
देह झुकाते समय गिराती हुई महीतल के ऊपर।
कानो के पल्लव टपकाती, मस्तक निज नीचे रख कर,
किया उमा ने भी, तदनन्तर, शकर को प्रणाम सादर॥

(६३)

"पावै तू ऐसा पति जिसने देखी नही अन्य नारी"—
यह सच्ची आशीष ईश ने दी उसको सब सुखकारी।
महामहिमपुरुषो के मुख से वचन निकल जो जाता है,
विश्व बीच विपरीत भाव वह कभी नही दरसाता है॥

(६४)

जलती हुई आग में गिरने के इच्छुक पतङ्ग-सम मार,
बा छोड़ने का शुभ अवसर आया है यह कर सुविचार।
गिरिजा के समक्ष शंकर को लक्ष्यीकृत कर भले प्रकार,
अपने धन्वा की प्रत्यञ्चा तानी उसने बारम्बार॥

(६५)

मन्दाकिनी नदी ने जिसको निज जल में उपजाया है,
दिनकर ने अपनी किरणों से जिसे विशेष सुखाया है।
वह सरोज-बीजों की माला, अरुण-वर्ण कर में लेकर,
गिरिश तपस्वी को गौरी ने अर्पण की सुन्दर सुन्दर॥

(६६)

प्रिय होगा प्रेमिणी उमा को इसके लेने का व्यापार,
यह विचार कर उस माला को शिव ने इधर किया स्वीकार।
समोहन-नामक अमोघ शर निज निषङ्ग से उधर निकाल,
कुसुम-शरासन पर, कौशल से, मन्मथ ने रक्खा तत्काल॥

(६७)

राकापति को उदित देख कर क्षुब्ध हुए सलिलेश-समान,
कुछ कुछ धैर्य्यहीन होकर के, संयमशील शम्भु भगवान।
लगे देखने निज नयनों से, सादर, साभिलाष, सस्नेह,
गिरिजा का बिम्बाधर-धारी मुखमण्डल शोभा का गेह॥

(६८)

खिले हुए कोमल कदम्ब के फूल तुल्य अङ्गो-द्वारा,
करती हुई प्रकाश उमा भी अपना मनोभाव सारा।
लज्जित नयनों से भ्रमिष्ट सी, वहीं, देखती हुई मही,
अति सुकुमार चारुतर आनन तिरछा करके खड़ी रही॥

(६९)

महा जितेन्द्रिय थे, इस कारण, महादेव ने, तदनन्तर,
अपने इस इन्द्रियक्षोभ का बलपूर्वक विनिवारण कर।
मनोविकार हुआ क्यों? इसका हेतु जानने को सत्वर,
चारों ओर सघन कानन में प्रेरित किये विलोचन वर॥

(७०)

नयन दाहिने के कोने में मुट्ठी रक्खे हुए कठोर,
कन्ध झुकाये हुए, वाम पद छोटा किये भूमि की ओर।
धनुष बनाये हुए चक्र सम, विशिख छोडते हुए विशाल,
मनसिज को इस विकट वेश में त्रिनयन ने देखा उस काल ॥

(७१)

जिनका कोप विशेष बढा था तपोभग हो जाने से,
जिनका मुख दुर्दर्श हुआ था भृकुटी कुटिल चढाने से।
उन हर के, तृतीय लोचन से तत्क्षण ही अति विकराला,
अकस्मात अग्निस्फुलिङ्ग की निकली दीप्तिमान ज्वाला ॥

(७२)

"हा हा! प्रभो! कोप यह अपना करिए करिए करिए शान्त"—
इस प्रकार का विनय व्योम में जब तक सब सुर करें नितान्त।
तब तक हर* के दृग से निकले हुए हुताशन ने सविशेष,
मन्मथ के मोहक शरीर को भस्मशेष कर दिया अशेष ॥

(७३)

अति दारुण विपत्ति के कारण महामोह का हुआ विकाश,
उसने रति के इन्द्रियगण की नियत वृत्ति का किया विनाश।
प्रियतम पति की विषम दशा का क्षणभर उसको रहा न ज्ञान,
उस अबला पर हुआ, इसी मिष, मानो यह उपकार महान ॥

(७४)

तरुवर के टुकडे करता है भीषण वज्रपात जैसे!
तप के विघ्नरूप मनसिज का देह-भग करके तैसे।
नारी के नैकट्य-त्याग की इच्छा से, सब भूत लिये,
भूतनाथ, अपने आश्रम से, तत्क्षण अन्तर्धान हुए ॥

---

*मूल श्लोक में, यहाँ पर, कालिदास ने 'भव' शब्द का योग किया है। भव महादेव का नाम है, और भव, जन्म (उत्पत्ति) को भी कहते हैं; अत इस अवसर पर हमारे मत के अनुसार, सहारवाची शकर का दूसरा नाम 'हर' याद आता तो अधिक सुयुक्तिक होता। —अनुवादक

(१०)

लाल तथा कुछ हरे चारुतर-वन्धन धारी,
कोकिल-कल-विज्ञात, लोक-लोचन-सुखकारी।
ऐसे नवल रसाल-फूलते अद्‌भुत शायक,
ग्रहण करेगा कौन ? कहो प्रिय हे मम नायक !

(११)

मधुकर-पक्ति मनोज ! जिसे तूने अपनाया,
प्रत्यञ्चा वहु वार धनुष की जिसे वनाया।
वनस्थली को आज करुण-रव से भरती है,
मुझको दुखित देख, रुदन-सा वह करती है ॥

(१२)

धारण कर तनु रुचिर, उठो, मुख मुझे दिखावो,
रति-योजक-उपदेश पिकों को नाथ ! सुनावो।
स-प्रणाम स-विकम्प सुरत-याचन वह तेरा,
सोच सोच कर, धैर्य्य नाश होता है मेरा ॥

(१३)

हे रति-कला-प्रवीण ! कुसुम वासन्तिक लेकर,
तुमने किये मदर्थ स्वयं जो आभूषण-वर।
अङ्ग अङ्ग में उन्हे किये हूँ अब तक धारण,
किन्तु देखती नही देह तव उनका कारण !

(१४)

यावक-रस मम वाम पाद मे, आय, लगावो,
असम्पूर्ण ही छोड गये तुम उसको, आवो।
अथवा सुर-सुन्दरी तुम्हे जब तक न लुभावें,
तब तक सुरपुर हमी, अनल में जलकर, आवें ॥

(१५)

"रति मनसिज के विना रही पल भर भी जीवित—"
हे मम जीवित-नाथ ! कहेंगे यही सभी नित।
यद्यपि तनु तज, अभी तुम्हे फिर अङ्क भरूँगी,
इस कलङ्क को दूर तदपि किम भाँति करूँगी ?

(१६)

शोक ! शोक !! हा शोक !!! अहो परलोक-निवासी !
अन्त्य कृत्य तक नहीं कर सकी है यह दासी।
अवितर्कित गति हुई हाय ! तेरी हे स्वामी !
जीवन भी तव गया, गया वह तनु भी नामी।

(१७)

गोदी में रख चाप, अहह हे हृदय-विहारी !
सीधा करते हुए विशिख त्रिभुवन-वशकारी।
तुमने ऋतुपति सङ्ग किये जो कथन रसीले,
सव आते हैं स्मरण, नहीं है मुझको भूले ॥

(१८)

तव हृदयङ्गम सखा सुमन-धन्वा का दाता,
कहाँ गया ऋतुराज ? नहीं वह मुझे दिखाता।
क्या उसको भी कुपित शम्भु ने दोषी पाया ?
जो गति तेरी हुई उसी गति को पहुँचाया ?

(१९)

ये विलाप के वचन लगे ऋतुपति को ऐसे,
लगते हैं विष-वाण हृदय के भीतर जैसे।
समझाने के लिए रूप उसने प्रकटाया,
आतुर रति के निकट वहाँ वह तत्क्षण आया ॥

(२०)

रति ने, उसको देख, अश्रु की धार वहाई,
पीडा भी, उर पीठ उरोजों को पहुँचाई।
निज-जन-सम्मुख दुःख बहुत ही बढ़ जाता है,
वह, कपाट से तोड, निकल वाहर आता है ॥

(२१)

वोली वह म भाँति, महा-शोकाकुल वानी,
हे वसन्त ! यह देख मित्र की बची निशानी।
रज में परिणत हुआ पडा वह दिखलाता है,
पवन इधर से उधर उसे अव विखराता है।

(२२)

हे मन्मथ ! हे मदन ! आय अव दर्शन दीजै,
　　उत्सुक यह ऋतुराज, अनुग्रह इस पर कीजै।
नारी में नर-प्रेम सर्वदा चल रहता है,
　　किन्तु मित्र में अचल,—यही सब जग कहता है ॥

(२३)

चाप-रज्जु के लिए कमल के तन्तु मनोहर,
　　तथा शरों के लिए फूल अति कोमल देकर।
स सहचर ने विश्व सुरासुर-पूरित-सारा,
　　वशीभूत, सब भाँति, कर दिया नाथ ! तुम्हारा ॥

(२४)

गया सखा तव, दीप पवन से ज्यों जाता है,
　　बत्ती-सी मैं रही, चित्त अति अकुलाता है।
पति-वध ही विधि ने न, किया मम वध भी उसने,
　　आश्रय-विटप-विहीन लता देखी है किसने ?

(२५)

निशा शशी के सङ्ग, दामिनी घन के जाती,
　　सङ्ग-गमन की रीति जडों में भी दिखलाती।
हे वसन्त ! अतएव कृपा करिए यह मुझ पर,
　　प्राणनाथ के पास भेजिए मुझे भस्म कर ॥

(२६)

पति-तनु की रज रुचिर कुचों से मैं लिपटाऊँ,
　　पल्लव-तल्प समान अनल की सेज बनाऊँ।
बहुधा मिला सहाय सुमन-शय्या में तेरा,
　　प्रस्तुत कर अब चिता, विनय तुझसे यह मेरा ॥

(२७)

फिर मलयानिल छोड जलाना मुझको सत्वर,
　　मेरे बिना मनोज नही रह सकता पल भर।
देना जल की हमें एक ही अञ्जलि सादर;
　　उसे करेंगे पान वहाँ हम दोनो मिल कर ॥

(२८)

महा मनोहर फूल आम की डालीवाले,
पल्लव जिनमें लगे मृदुल-तर लाले लाले।
पिण्ड-दान के समय यही रखना मुददायक,
करता है अति प्यार इन्हे मम नागर-नायक ।।

(२९)

शुष्क-सरोवर-मध्य मीन मूर्छित मुरझानी,
होती है ज्यों मुदित पाय पावस का पानी ।
मरण-हेतु उद्योगवती, त्यों मनसिज नारी,
सुनकर प्रमुदित हुई व्योम-वाणी सुखकारी ।।

(३०)

हे रति ! सत्वर तुझे मिलैगा तव मनभाया,
कारण सुन जिस लिए ईश ने उसे जलाया।
उसने विधि का चित्त सुता-अनुरक्त बनाया,
शाप-बद्ध हो, अत, आज फल ऐसा पाया ।।

(३१)

जब शिव सङ्ग विवाह करैगी शैल-कुमारी,
तब अनङ्ग को अङ्ग-दान देंगे त्रिपुरारी।
ब्रह्मा ने, स भाँति, शाप की अवधि कही है,
कोप अनन्तर कृपा—बडों की रीति यही है ।।

(३२)

विशदवदनि ! इसलिए बना रख यह वपु सुन्दर,
यथा-समय तनु पाय, मिलैगा तेरा प्रियवर।
आतप से जो नदी निर्जला हो जाती है,
पावस में वह नया नीर पुनरपि पाती है ।।

(३३)

छिपे छिपे, स भाँति, किसी ने वचन सुनाया,
रति का मरण-विचार शिथिलता को पहुँचाया।
ऋतुनायक ने उसे विविध विध तब समझाया,
समयोचित कह कथा, युक्ति से दु ख घटाया ।।

(३४)

तदनन्तर, यों, दुःख-दलित वह मदन-वधू अति कृशित-शरीर,
करने लगी प्रतीक्षा पति की किसी भाँति धारण कर धीर।
ज्यों दिन में उत्पन्न शशि-कला छटा-क्षीण सुन्दरता-हीन,
सुखकर सायङ्काल प्रतीक्षा करती है तनु लिये मलीन ॥

इति चतुर्थ सर्ग

पञ्चम सर्ग*

(१)

सम्मुख ही, उस भाँति, शम्भु ने कामदेव का करके दाह,
कर दी विफल साथ ही उसके, निज विषयक गिरिजा की चाह।
अतः उमा ने रम्य-रूप को धिक्कारा बहु बार लजाय,
वही सुघरता सफल समझिए जो प्रियतम को सकै लुभाय ॥

(२)

जाय समाधि अखण्डित तप का अनुष्ठान करके भारी,
सफल उमा ने करना चाहा अपना रूप मनोहारी।
बिना यह किये कैसे मिलती दोनों बातें सुखकारी ?
वैसा प्रेम, और फिर, वैसा मृत्युञ्जय पति त्रिपुरारी ॥

(३)

मेना ने जब सुना कि मेरी कन्या शिव को चहती है;
और उन्हीं के लिए तपस्या, वन में, करने कहती है।
तब मुनियों के कठिन धर्म्म से करती हुई निवारण वह,
बड़े प्रेम से शैलसुता को गले लगा कर बोली यह ॥

(४)

मनमाने घर ही में सुर हैं सुते ! उन्हीं की सेवा कर,
कहाँ क्लेशकारी तप ? तेरा कहाँ कलेवर कोमल-तर ?
अति मृदु सिरस-फूल मधुकर का हलका पद सह सकता है,
पक्षी का पद सह सकने की शक्ति वह नहीं रखता है ॥

---

* तृतीय सर्ग के समान इस सर्ग की मूल कविता बहुत ही मनोहारिणी है। इसलिए, इस सर्ग का भी हमने पूरा अनुवाद किया है। —अनुवादक

(५)

माता ने इस भाँति, उमा से कहा सभी कुछ मनमाना,
किन्तु न रुकी तपस्या से वह, व्यर्थ हुआ सब समझाना।
मन का दृढ़ सङ्कल्प, और जल जो नीचे को गिरता है,
कोटि यत्न करने पर भी वह किसका फेरा फिरता है ?

(६)

मनोऽभिलाष जाननेवाले गिरिवर से निज अभिलाषा,
एक बार आली के मुख से शैलसुता ने यों भाखा।
"फल मिलने तक, वन में मुझको, तप-निमित्त रहने दीजै,
यही आपसे मैं चहती हूँ, प्यारे पिता कृपा कीजै" ॥

(७)

यह अपने अनुरूप प्रार्थना लगी पिता को अति प्यारी,
दिया निदेश उसी क्षण उसने, मन में मान तोष भारी।
जिस मयूर-मण्डित गिरि ऊपर गौरी तप के लिए गई,
उसको गौरी-शिखर नाम की पावन पदवी मिली नई ॥

(८)

अपनी लोल-लरों से चन्दन-लेप मिटानेवाली माल,
दृढ़-निश्चय धारिणी उमा ने तृण समान तजकर तत्काल।
उच्च-कुचों की कठिनाई से फटा हुआ वल्कल अभिराम,
बाल-सूर्य-सम पीत-वर्ण का बाँधा निशिदिन आठो याम ॥

(९)

कुञ्चित-कच-कलाप-युत उसके मुख पर थी जो मधुराई,
जटा-जूट रखने पर भी वह रही पूर्ववत ही छाई।
मधुपावली-सग जो शोभा पङ्कज-कलिका पाती है,
सघन-सिवार-सङ्ग में भी वह वैसी ही दिखलाती है ॥

(१०)

क्षण क्षण में रोमाच-कारिणी मूँज-मेखला तिहराई,
व्रत-पालन के लिए उमा ने निज कटि को जो पहनाई।
पहले पहल पहनने से वह हुई बहुत ही दुखदायी,
उसके अति-सुकुमार जघन पर कर दी ,उसने अरुणाई ॥

(११)

अधरों के रँगने में अपना अतिशय-कोमल कर न लगाय,
कुच-गत-अङ्गराग से अरुणित कन्दुक मे भी उसे हटाय।
कुश के अंकुर तोड़ तोड़ कर घाव उँगलियों मे उपजाय,
किया अक्षमाला का साथी उसे उमा ने वन में आय ॥

(१२)

मूल्यवान शय्या के ऊपर निज केशों से कोमल फूल
गिर कर, जिसको चुभते से थे, होते थे पीडा का मूल।
वही बिछौने बिन वेदी पर तकिया अपनी बाँह बनाय,
सोई और वही बैठी भी तप-साधन में ध्यान लगाय ॥

(१३)

व्रत-पालन में तत्पर उसने "फिर ले लूँगी"—यह मन ठान,
ये दोनो ही इन दोनों को दिये धरोहर-वस्तु समान।
ललित-लताओ को पहले के अपने सब शृङ्गारिक-भाव,
हरिण-नारियों को नयनो को चञ्चलता का सहज स्वभाव ॥

(१४)

आश्रम के अनेक पौधों को, आलसता तज, क्लेश उठाय,
बडा किया उसने घटरूपी-स्तन का पय स्वयमेव पिलाय।
प्रथम जन्म पाने के कारण जिनका सुत-वात्सल्य विशेष,
पुत्र-शिरोमणि कार्तिकेय भी नही कर सकेंगे निःशेष ॥

(१५)

नित्य अञ्जली भर भर पाकर वन के विमल अन्न का दान,
हरिण-यूथ हिल, हुए यहाँ तक गिरिजा में विश्वास-निधान।
कि निज सखी-जन के सम्मुख ही उसने कौतूहल मे आय,
उनके अति चञ्चल नयनो से नापे अपने नयन मिलाय ॥

(१६)

शुचि-स्नान कर, डाल गले मे वर वल्कल शोभाशाली,
हव्य हुताशन को पहुँचाकर, नित्य पाठ करनेवाली।
उस तापसी उमा का दर्शन करने आये मुनि ज्ञानी,
धर्म्म-वृद्ध में वय की लघुता कही नही जाती मानी ॥

(१७)

जन्म-विरोधी जीवों ने भी वैर परस्पर त्याग दिया,
फल-फूलों से अतिथि-जनों का तरुओं ने सत्कार किया।
नवल पर्णशालाओं में अति अमल अग्नि रहने लागी,
हुआ महापावन वह भाग तपवाला वन बड़भागी॥

(१८)

इतना तप करने पर उसने जी में जब यह अनुमाना,
कि फल मुझे तने से अब भी नहीं मिलेगा मनमाना।
देह-मृदुलता की अनपेक्षा करके तब वह सुकुमारी,
करने लगी उसी क्षण से ही तपो-विधान महा भारी॥

(१९)

घर पर, गेंद खेलने से भी जिसे थकावट हुई विशेष,
उसी उमा ने मुनीश्वरों के दुर्गम पथ में किया प्रवेश।
कञ्चन के कमलों से निर्मित था अवश्य गिरिजा का गात,
मृदुता और कठिनता दोनों जिनकी स्वाभाविक विख्यात॥

(२०)

उस सुहासिनी सिहकटी ने, ग्रीष्म-काल में, पावक चार,
अपने चारों ओर जलाकर, मध्य-भाग में आसन मार।
करके विजय नेत्र-संहारक किरणों की ज्वाला का जाल,
कटक सूर्य्य-बिम्ब को देखा ऊँचा किये हुए निज भाल॥

(२१)

दिनकर की मरीचि-माला से महा तप्त हो, उक्त प्रकार,
उसके मुख-मण्डल ने पाया सरसिज की शोभा का सार।
अति विशाल दोनों नयनों के केवल कोनों ही के पास,
श्यामलता ने, धीरे धीरे आकर, अपना किया निवास॥

(२२)

बिना याचना के जो कोई स्वयं सलिल ले आता था,
सरस शशी का किरण-जाल जो यथा-समय मिल जाता था।
उसे छोड़कर शैलसुता ने और न कुछ मुख में डाला,
वृक्षों के समान आकाशी-वृत्ति-व्रत उसने पाला॥

(२३)

रवि-रूपी आकाश-निवासी, महिवासी इन्धनवाला,
इन दोनों अनलो से उसने अपना तन तपाय डाला।
वर्षा-ऋतु में पहला पानी बरसा जब उसके ऊपर,
तब उसने साथ ही मही के छोडी उष्ण भाफ खर-तर॥

(२४)

प्रथम-वृष्टि के बूँद उमा की बरोनियों पर कुछ ठहरे,
फिर, पीडित कर अधर, कुचों पर चूर चूर होकर बिखरे।
तदनन्तर, सुन्दर त्रिवली का क्रम क्रम से उल्लङ्घन कर,
बडी देर में पहुँच सके वे उसकी रुचिर नाभि भीतर॥

(२५)

वायु-वेग के साथ, निरन्तर, हुई वृष्टि जब महा अपार,
तब भी शैल-शिला-ऊपर वह पडी रही छोडे घर-द्वार।
ऐसे तप की सत्य-साक्षिणी नील-निशाओं ने, बहु बार,
उसे, उस समय, मानों देखा चपला-रूपी-चक्षु उघार॥

(२६)

साथ छूट जाने के कारण करुणामय विलापकारी,
चक्रवाक जोडे को करती हुई कृपा का अधिकारी।
जिनमें पवन-सङ्ग पडता था दुख-दायक पाला भारी,
ऐसी पूस-निशायें उसने पानी में काटी सारी॥

(२७)

तुहिन-वृष्टि होने से सरसिज जिस सर के थे गये सुखाय,
उसमें, उस गिरिराजसुता ने रात रात भर खडे बिताय॥
कम्पित-अधर-पत्र से शोभित अपना मुख-सरोज बिकसाय,
पुनरपि किया प्रफुल्लित मानो नये नीरजो का समुदाय॥

(२८)

वृक्षो से जो पीली पत्ती गिर कर नीचे आती है,
उसकी वृत्ति तपश्चर्य्या की सीमा समझी जाती है।
इस प्रकार के जीर्ण पर्ण को भी न पार्वती ने खाया,
इससे उसने नाम 'अपर्णा' इतिहासज्ञो से पाया॥

(२९)

ऐसी कठिन तपस्या से निज कमल-नाल-सम कोमल गात,
अस्थि-शेष होने तक क्रम क्रम करती हुई कृशित दिन रात।
मुनियों के कठोर अगों से सञ्चित तप को वारम्वार,
मात किया शैलेश-सुता ने अपने तप से भले प्रकार ॥

(३०)

लिए मजु मृग-चर्म्म, और, शुचि किंशुक-दण्ड मनोहारी,
जलता-सा वर ब्रह्म तेज से, बातों में प्रगल्भ भारी।
पावन-ब्रह्मचर्य्य-आश्रम की दिव्य-देह का अनुकारी,
एक वार गिरिजा के वन में आया एक जटाधारी ॥

(३१)

भक्ति-भाव-युत शैल-सुता ने पूजा का लेकर सामान,
निज आश्रम से आगे बढ़ कर किया जाय उसका सम्मान।
सब प्रकार से सम होकर भी महा-महिम-जन धर्म्म-निधान,
किसी किसी का, बड़े प्रेम से, करते है सत्कार महान ॥

(३२)

विधिवत किये गये आदर का हर्ष-सहित करके स्वीकार,
क्षण भर बैठ और कर पथ के श्रम-समूह का भी परिहार।
कुटिल-कटाक्ष-हीन नयनों से शैलनन्दिनी ओर निहार,
किया यथाक्रम उसने अपने मधुमय वचनों का विस्तार ॥

(३३)

क्या कुश, समिधादिक सब तुमको यहाँ सुलभ दिखलाता है ?
स्नान-योग्य क्या निर्मल जल भी इस वन में मिल जाता है ?
बल-बाहर तो नहीं तपस्या करती है हे सुकुमारी ?
क्योंकि, देह यह सब धर्म्मों के साधन में सहायकारी ॥

(३४)

लाक्षा-रस यद्यपि बहु दिन से पाया नहीं तदपि लाले,
न तेरे अधरों की समता भली भाँति करनेवाले।
तुझसे सींची गई लताओं के नव-पल्लव अरुणारे,
क्या अपनी अपनी डालों में क्षेम-कुशल-युत हैं सारे ?

(३५)

हे नवीन-नीरज-दललोचनि ! निज चञ्चल-लोचन दिखलाय,
तव विलोचनों की समता सी करनेवाले मृग-समुदाय।
प्रेम-सहित, कर-कमलो से कुश छीन छीन कर वारम्वार,
उपजाते तो नही चित्त में तेरे कोइ कोप-विकार ?

(३६)

"रूपवान जन पाप-वृत्ति के नही पास भी जाता है—"
इस प्रकार का कथन सर्वथा सत्य मुझे दिखलाता है।
तेरा शील विलोचन करके हे उदार-दर्शनवाली !
मिलता है उपदेश उन्हे भी जो अति अद्‌भुत तपशाली ।।

(३७)

प्रात सप्त ऋषियो के फेके फूलो को हँसनेवाले,
अमर-लोक मे आये सुरसरि-सलिलो से हे गिरिवाले !
हिम-मण्डित यह शैल हिमालय पावन हुआ नही उतना,
तेरे महा अमल-चरितो मे अपने वश-सहित जितना ।।

(३८)

हे अति-विशद-मनोरथवाली ! इस त्रिवर्ग मे सबका सार,
एक धर्म्म ही है—यह मेरे मन में आता है सुविचार।
क्योकि, काम के और अर्थ के चिन्तन से वासना हटाय,
केवल धर्म्म-मार्ग का सेवन करती है तू चित्त लगाय ।।

(३९)

तूने आज किया है मेरा हे गिरिजे ! विशेष सम्मान,
अत मुझे परकीय तुल्य तू अब मत अपने मन मे मान।
विद्वानो का कथन है कि जो हो जावें बस बातें सात,
सुजनो की मित्रता, विश्व में, तो, उतने ही से विख्यात ।।

(४०)

मै द्विज हूँ, इससे मुझमे है स्वाभाविक चञ्चलताई,
अत पूछना चहता हूँ मै एक बात जो मन आई।
क्षमावती ! हे तपस्विनी ! यह मम धृष्टता क्षमा कीजै,
बतलाने के योग्य होय जो तो मुझको बतला दीजै ।।

(४१)

निज-उत्पत्ति हिरण्यगर्भ के कुल में तूने पाई है,
त्रिभुवन की सुन्दरता मानो तन में आय समाई है।
यह अतुलित ऐश्वर्य और यह मनोमोहिनी तरुणाई,
तेरा तप होवेगा इसमे अधिक और क्या फलदाई ?

(४२)

किसी महादुःसह अनिष्ट से पीडित यदि हो जाती हैं,
मानवती महिलायें ऐसे तप में चित्त लगाती हैं।
किन्तु विचार-मार्ग में अपना मन जब मैं दौड़ाता हूँ,
हे कृशोदरी ! तुझमें कोई वैसी बात न पाता हूँ ॥

(४३)

हे सुन्दरि ! यह मधुर मूर्ति तव अपमानादिक योग्य नही,
पिता-भवन मे मान-हानि भी हो सकती है भला कही ?
यह भी सम्भव नही कि तुझको कोई कभी सतावैगा,
भीम-भुजङ्ग-शीश की मणि पर निज कर कौन चलावैगा ?

(४४)

वल्कल सदा बुढापे ही में शोभा को पानेवाला,
आभूष ा तज नूतन वय में क ो तूने तन पर डाला ?
शशी और तारो से शोभित सायङ्काल निशा-नारी,
रवि-सारथी पास जाने की करती है क्या तैयारी ?

(४५)

देव-लोक चहती है, तो यह निष्फल श्रम-लीला सारी,
तेरा पिता हिमालय ही है देव-भूमि का अ कारी।
पति पाने की यदि इच्छा है, तो समाप्त कर तप भारी,
ग्राहक नही, रत्न ही ढूँढा जाता है हे सुकुमारी !

(४६)

उष्ण सांस लेकर पिछला ही कारण तू बतलाती है,
किन्तु बुद्धि मम सशय में फँस फिर भी चक्कर खाती है।
तव प्रार्थना-योग्य इस विस्तृत विश्व में न है कोई वर,
करने पर प्रार्थना भला फिर नही मिलैगा वह क्योंकर ?

(४७)

बिना कमल-कुण्डल क ोल तव सूने-से दिखलाते हैं,
उन पर जो ये लम्बे लम्बे जटा-जाल लहराते हैं।
इनको तुच्छ समझता है जो युवा स्नेह-भाजन तेरा,
वह अवश्य ही वज्र-हृदय है—यही अटल निश्चय मेरा॥

(४८)

मुनियो के कठोर नियमो मे अतिशय कृश होनेवाली,
देह दिवाकर की किरणो से किये हुए काली काली।
दिन में उदित चन्द्र-लेखा-सम गिरिजे! तुझे विलोकन कर,
किस सजीव का हृदय दु ख से हाय! नही होता जर्जर?

(४९)

कुटिल और काली बरोनियो से जो शोभा पाते है,
अवलोकन के समय चपलता करते जो सकुचाते हैं।
ऐसे न नयनो के सम्मुख हुआ नही तेरा प्यारा!
निश्चय निज-सौन्दर्य्य-गर्व से ठगा गया वह बेचारा!

(५०)

हे शैलेशनन्दिनी! कब तक किया करेगी श्रम ऐसा?
ब्रह्मचर्य्य-आश्रम का है गा मेरा भी तप थोडा सा।
उसके अर्द्ध भाग से अपनी मनोकामना पूरी कर,
किन्तु मुझे बतला तो किसको करना चहती है तू वर॥

(५१)

उस द्विज ने आश्रम के भीतर आकर इस प्रकार भाखा,
गिरितनया परन्तु लज्जा-वश कह न सकी निज अभिलाषा।
अपने कज्जल-हीन विलोचन उसने केवल ऊँचे कर,
वही पासवाली आली को अवलोका उस अवसर पर॥

(५२)

बोली सखी शैलतनया की हे द्विज ब्रह्मचर्य्य-धारी!
यदि सुनना चहता है, सुन तू इसकी कर्म्म-कथा सारी।
धूप न लगे इसलिए कोई कमल-पत्र ताने जैसे,
कहती हूँ क्यो तप का साधक इसने गात किया तैसे॥

(५३)

वरुण, कुवेर और सुरनायक, धर्म्मराज प्रभुताशाली,
कुछ न समझ इन दिक्पालो को यह मन मानवती आली।
काम-नाश करने के कारण जिन्हे न मोहे सुघराई,
ऐसे शिव को किया चाहती है अपना पति सुखदायी ॥

(५४)

अति दुर्धर्ष त्रिलोचन तक जो नही पहुँच पाये उस काल,
उनके हूँ करते ही पीछे फिरना पडा जिन्हे तत्काल।
मूर्ति-हीन भी मकरध्वज के वे ही महा विलक्षण वाण,
वडे वेग से इसके उर में प्रविशे देकर दु ख महान ॥

(५५)

तव से यह निज पिता-सदन में व्यथा काम की सहती थी,
अलको को ललाट चन्दन मे मले हुए ही रहती थी।
विमल-वर्फ की भी अति शीतल सुखद शिलाओ के ऊपर,
सच कहती हूँ, इस वाला का चैन न पडती थी क्षण भर ॥

(५६)

केन्नर-कन्याओ को लेकर शम्भु-चरित जव गाती थी,
तव यह आँखों से आँसू की अविरल धार वहाती थी।
नमिल स्वर गद्गद वाणी से दु ख विशेष वढ़ाती थी,
गान-समय की सखियो को भी, अपने साथ रुलाती थी ॥

(५७)

तीन पहर निशि गत होने पर यदि कुछ निद्रा आती थी,
तो, फिर, इसकी आँख तनिक में अकस्मात खुल जाती थी।
मन ही मन श्रीकण्ठ-कण्ठ में वाँह डाल, सुख पाती थी,
"हे हर! कहाँ चले?" यह कह कर, चौंक चौंक अकुलाती थी ॥

(५८)

"वडे वडे विद्वज्जन तुमको कहते है अन्तर्यामी,
फिर, क्यो नही जान लेते हो मेरा मनोऽभीष्ट स्वामी"?
अपने ही कर से शङ्कर का चित्र वनाय हृदयहारी,
उनका उपालम्भ करती थी, इसी भाँति, यह सुकुमारी ॥

(८३)

सखी ! रोक यह फिर कहने की उत्सुकता दिखलाता है,
देख अधर अपना ऊपर का बार बार फरकाता है।
सत्पुरुषों का निन्दक-जन ही पातक नहीं कमाता है,
निन्दा का सुननेवाला भी अघ-भागी हो जाता है॥

(८४)

यह कह कर कि यहाँ से मैं ही उठ जाऊँगी, वह बाला
उठी सवेग कुचों से खिसका पावन पट वल्कलवाला।
अपना रूप प्रकट करके, तब, परमानन्दित हो, हँस कर,
पकड़ लिया निज कर से उसको शङ्कर ने उस अवसर पर॥

(८५)

उनको देख, कम्पयुत धारण किये स्वेद के बूँद अनेक,
चलने के निमित्त ऊपर ही लिये हुए अपना पद एक।
शैल मार्ग में आ जाने से आकुल सरिता-तुल्य नितान्त
पर्वत-सुता न चली, न ठहरी, हुई चित्र खींची-सी भ्रान्त॥

(८६)

"हे नत-गात्रि ! आज इस दिन से मुझको अपना सेवक मान,
"मोल ले लिया तूने तप से" यों जब बोले शम्भु सुजान॥
तत्क्षण हुआ शैल-तनया के प्रबल परिश्रम का परिहार,
क्लेश समूल भूल जाता है फल मिलने पर मनोऽनुसार॥

(८७)

रायबरेली के अन्तर्गत सुरसरि-तट दौलतपुर ग्राम,
श्रीहनुमन्त-तनय जिसमें थे रामसहाय द्विवेदी नाम।
उनके एकमात्र सुत मैंने यह कुमारसम्भव का सार,
अब के कवियों को प्रणाम कर किया यथामति किसी प्रकार॥

फुटकर रचनायें

सूचना

इस स्तम्भ में आचार्य द्विवेदी की वे सब कवितायें संग्रह की गई हैं जो 'सरस्वती' में समय समय पर छपी हैं। कविताओं के नीचे महीना और साल का निर्देश कर दिया गया है।

फुटकर रचनायें

१—कोकिल

(१)

कोकिल अति सुन्दर चिड़िया है,
सच कहते हैं अति बढ़िया है।
जिस रङ्गत के कुँवर कन्हाई,
उसने भी वह रङ्गत पाई ॥

(२)

अथवा जामुन का रँग जैसे,
इसका भी होता है तैसे।
ज्यों ही चैत मास लगता है,
जाड़ा अपने घर भगता है ॥

(३)

त्यों ही यह अति मीठी बानी,
नित्य बोलती है रससानी।
आम-मौर सको अति प्यारा,
सत्य सत्य यह वचन हमारा ॥

(४)

मौरों के सुगन्ध की माती,
कुहू कुहू यह सब दिन गाती।
मन प्रसन्न होता है सुनकर,
इसके मीठे बोल मनोहर ॥

(५)

सम्मुख आमवृक्ष के ऊपर,
देखो वह आती है उड़कर।
बोलो मत, उँगली न उठाओ,
आओ वहीं चलें सब, आओ ॥

(६)

मीठी तान कान में ऐसे,
आती है वंशी-धुनि जैसे।
सिर ऊँचा कर मुख खोलै है,
कैसी मृदु बानी बोलै है॥

(७)

इसमें एक और गुण भाई,
जिससे यह सबके मन भाई।
यह खेतों के कीड़े सारे,
खा जाती है बिना विचारे॥

(८)

जिस परमेश्वर ने दिया, यह पक्षी गुण-धाम।
प्रेम-सहित कर जोड़कर, उसे अनेक प्रणाम॥

सितम्बर, १९०१

२—वसन्त

(१)

नव वसन्त बहार भई जबै,
सब कली वन की विकसी तबै।
सुखद शीतल मन्द सुहावनी,
विमल वायु वही मनभावनी॥

(२)

चिर मौरन के रस तें पगी,
पिक कुहू कुहू बोलन है लगी।
भँवर फूलन फूलन ह्वै वही,
निज मनोहर शब्द सुनावही॥

(३)

कमलिनी दिन माहिं नई नई,
कुमुदिनी निशि में सब तें छई।
जल सुगन्धित तालन को भयो,
रहि कहूँ न मलीनपनो गयो ॥

(४)

जहँ लखौ तहँ पेडन पै चहूँ,
सुमन लाल कहूँ, पियरे कहूँ।
खिलि रहे सुषमा सरसावही,
महक मोहक मञ्जु उडावही ॥

(५)

अरुण रग मनोहर तें रँगे,
कुसुम लाल पलाशन में लगे।
लखि जिन्है मन में यह आवई,
कह इन्है वन-आगि जरावई ? ॥

(६)

ऋतु वसन्तहि पात सडे गले,
जिन दये उन पेडन पै भले।
नवल पल्लव सुन्दर सोहही,
सब मनुष्यन के मन मोहही ॥

(७)

हम तुम्है यह सत्य सुनावही,
सुनहु, बालक ! दान वृथा नही।
जिन पुरातन दीन्ह तिन्है नयो,
लखहु, पेडनहू मिलि ही गयो ॥

अक्टूबर, १९०१

३—ईश्वर की महिमा

(१)

हे हे महाप्रभु ! महा महिमा तुम्हारी,
जिह्वा नही कह सुना सकती हमारी।
सौ वर्ष भी यदि सदा तव कीर्ति गावे,
तो भी कभी न उसके वह पार जावे॥

(२)

पृथ्वी, समुद्र, सर, पेड, पहाड, सारे,
हैं सत्य सत्य जगदीश ! दिये तुम्हारे।
हे नाथ ! आप यदि सूर्य हमे न देते,
पक्षी, मनुष्य, पशु, जीव न एक जीते॥

(३)

जो ये अनेक फल है हमको दिखाते,
खाने नही हम कभी जिनको अघाते।
जो फूल नेत्र सुखदायक ये खिले है,
सो भी सभी तव कृपा-कण से मिले है॥

(४)

देते न जो तुम हमें अनमोल आँख,
पाते उन्हे न करते यदि यत्न लाख।
हे दीनबन्धु ! गुणसिन्धु ! पवित्रनाम,
हे नाथ ! हे अति कृपालु ! तुम्हे प्रणाम॥

(५)

जो जो छिपाय हम काम बुरे करे हैं,
जाने न और, इससे मन में डरे है।
सो सो सदा तुम उसी क्षण जान लेते,
तत्काल दण्ड हमको जगदीश ! देते॥

(६)

जो झूठ बात हम, हे प्रभु ! बोलते है,
अच्छे-बुरे विषय मे मुँह खोलते है।

सो भी कभी न तुमसे छिपती छिपाये,
होते अनेक हमसे अपराध आये ॥

(७)

हे हे दयालु! इससे कर जोड़ते हैं,
सारी कुचाल अवमें हम छोड़ते हैं।
जो भूल-चूक परमेश्वर! हो हमारी,
कीजै क्षमा, शरण में हम हैं तुम्हारी ॥

दिसम्बर, १९०१

४—भारत की परमेश्वर से प्रार्थना

(१)

हे दीनपालक! दयामय! दुःखहारी!
हे हे महा-महिम! मङ्गल-मूल-कारी!
हे प्रेम-मूर्ति! परमेश्वर नाम-धारी!
थोड़ी विनीत विनती सुनिए हमारी ॥

(२)

आलस्य, मोह, मद, मत्सर में हमारे,
जो ये मनुष्य सब डूब गये विचारे।
सो तो गये, न उनका अब आसरा है,
हे नाथ! हाल उनका अति ही बुरा है ॥

(३)

जो ये, परन्तु, सब बालक हैं दिखाते,
माता, पिता, गुरु जिन्हें श्रम से सिखाते।
सन्मार्ग में तुम सदा उनको चलावो,
ए हो दयामय! दया इतनी दिखावो ॥

(४)

हो बात सत्य इनको सब काल प्यारी,
हे दीनबन्धु! अभिलाष यही हमारी।

बोलें न झूठ, उससे अति दूर भागें,
राखें सु-संग, खल संगति में न लागें ॥

(५)

आलस्य, फूट, मदिरा, मद दोष सारे,
छाये यहाँ सब कहीं टरते न टारे।
हे भक्तवत्सल ! इन्हें उनसे बचावो,
हस्तारविन्द उनके सिर पै लगावो ॥

(६)

जो ये कुरीति-समुदाय नये, पुराने,
नाना प्रकार, बहुधा सबमें समाने।
हे सत्यसिन्धु ! उनसे इनको उबारो,
है हानि, हाय, कितनी ! तुमही विचारो ॥

(७)

उद्योग और श्रम, शिल्प कला सिखावो,
व्यापार में मन सदा इनका लगावो।
विद्या, विवेक, धन-धान्य, सभी बढ़ावो,
आरोग्य और बलवान इन्हें बनावो ॥

(८)

देखो यहाँ सकल बालक ये खड़े हैं,
छोटे अनेक, दस-पाँच कहीं बड़े हैं।
हे हे दयालु, इनका कर थाम लीजै,
कीजै कृपा, अब इन्हें मत छोड़ दीजै ॥

(९)

है एक और विनती तुमसे हमारी,
सो भी करो सफल हे प्रभु पापहारी।
ये सातवें नृप नये यडवर्ड देव,
रानी-समेत चिरजीव रहैं सदैव ॥

फरवरी सन् १९०२

५—'सरस्वती' की विनय

(१)

विश्वाधार ! विशाल-विश्व-बाधा-सहारक !
प्रेममूर्ति ! परमेश ! अबल-अबला-हितकारक !
सरस्वती बालिका विनय करती है, सुनिए,
सकल-मंगलागार ! अमंगल सारे हनिए ।।

(२).

अब तक निज कर्तव्य किये जो मैंने प्रभुवर !
वर-विषयों से यथाशक्ति भूषित हो हो कर ।
उसके लिए सहर्ष शीश निज नीचा करके,
भक्ति-भाव-संयुक्त रातल-ऊपर धरके ।।

(३)

धन्यवाद शत बार देव ! देती हूँ लीजै,
कृपा-कोर मम ओर अहर्निश हे प्रभु ! कीजै ।
विना तुम्हारी कृपा न कुछ भी हो सकता है,
महा तुच्छ भी कार्य न कोई कर सकता है ।।

(४)

मेरे वाचक-वृन्द, तथा ग्राहक विज्ञाता,
विवि भाँति उत्साह और लेखों के दाता ।
सम्पादक जो हुए आज तक मेरे बुध-वर,
सुखी रहें सब काल विनय यह है हे ईश्वर !

(५)

अपनी दशा दुरन्त नाथ ! तुमसे कहती हूँ,
जब से हुई सदैव दुःख सहती रहती हूँ ।
प्रतिदिन किया प्रयत्न यदपि मैंने बहुतेरा,
गया न दिवस परन्तु एक भी सुख से मेरा ।।

(६)

यद्यपि वेश सदैव मनोमोहक धरती हूँ,
वचनों को बहु भाँति रुचिर रचना करती हूँ ।
उदर-हेत मैं अन्न नहीं तिस पर पाती हूँ,
हाय ! हाय ! आजन्म दुःख सहती आती हूँ ।।

(७)

पडता कहीं अकाल वर्ष भर जो जगदीश्वर !
कितना दारुण दुःख लोग पाते हैं भू-पर ।
तीन वर्ग से कष्ट उसी विध मैं सहती हूँ,
शपथ तुम्हारी नाथ ! सत्य यह मैं कहती हूँ ।।

(८)

हिन्दी जिनकी मधुर मातृ-भाषा मुददायी,
ऐसी यहाँ अनन्त लोक-सख्या है छाई ।
निराहार यदि मुझे नाथ ! तुम तिस पर पावो,
अति लज्जा की बात, या नहीं, तुम्हीं बतावो ।।

(९)

अहो ! देव अतएव विनय मम मन में लावो,
जन-समूह उर-बीच प्रीति मेरी प्रकटावो ।
जिसमें कुछ तो प्रेम मातृभाषा पर जागै,
अबला-बध-उत्पन्न पाप भी इन्हें न लागै ।।

(१०)

जो इनमें जगदीश ! न तुम करुणा उपजैहो,
इस वत्सर के अन्त मुझे नहि जीवित पैहो ।
तब मेरे गुण-दोष चित्त मे ये लावैंगे,
सम्भव है उस समय कदाचित पछतावैंगे ।।

(११)

उन्नतिउन्नति उच्च सदा जो चिल्लाते हैं,
मुझमें विविध प्रकार न्यूनता बतलाते हैं ।
उनसे विनय विनीत यही मेरा, मन लावें,
"भूखे भक्ति" विशे वही करके दिखलावें ।।

(१२)

इतना ही वक्तव्य आज मेरा है स्वामी !
वार वार कर जोड भक्ति-युत तुम्हे नमामी ।
करुणासिन्धु ! कृपालु ! सुजन-भय-भजनहारी,
'सरस्वती' सब भाँति दयामय ! शरण तुम्हारी ॥

फरवरी-मार्च, १९०३

६—जन्मभूमि

(१)

देखी वस्तु विश्व की सारी,
जन्मभूमि सम एक न न्यारी ॥
हे "सरस्वती" के हितकारी !
सुनिए, सुनिए बात हमारी ॥

(२)

जहाँ बालपन सकल बिताया,
जहाँ खेल खेला मनभाया ।
जहाँ रहे भगिनी, प्रिय भ्राता,
पिता और सुत-वत्सल माता ॥

(३)

ऐसा कौन निपट अज्ञानी,
महामूढ, जड, पामर प्राणी ।
जो शठ उसे भूल जावैगा,
बन कृतघ्न, मुख दिखलावैगा ॥

(४)

पशु, पक्षी जो जीवन- री,
जन्मभूमि उनको भी प्यारी ।
यदि वे बेच दिये जाते हैं,
दौड दौड फिर फिर आते है ॥

(५)

जल अथवा थल के चारी,
घास-पात आदिक आहारी।
जीव जगत में जो रहते हैं,
जन्मभूमि को सब चहते हैं॥

(६)

महा असभ्य मनुष्याहारी,
अफरीका के भी वनचारी।
जन्मभूमि से स्नेह लगावें,
वहीं रहैं, आनन्द मनावें॥

(७)

जग में जन्म-भूमि सुखदायी,
जिस नर-पशु के मन न समाई।
उसके मुख-दर्शक नर-नारी,
होते हैं अघ के अधिकारी॥

(८)

एक गेह में जो रहते हैं,
दुख न विशेष कभी सहते हैं।
प्रीति परस्पर वे रखते हैं,
जिसका फल मीठा चखते हैं॥

(९)

दुखी एक को जो पाते हैं,
सभी सहायक हो जाते हैं।
हित की बातें बतलाते हैं,
स्वयं अनेक काम आते हैं॥

(१०)

विविध भाँति श्रम मनुज उठावें,
निज कुटुम्ब को सुखी बनावें।
सबको सुखी देख सुख पावें,
सत्य सत्य हम सत्य सुनावें॥

(११)

यह जो भारत-भूमि हमारी,
जन्मभूमि हम सबकी प्यारी।
एक गेह, सम विस्तृत भारी,
प्रजा कुटुम्ब तुल्य है सारी॥

(१२)

इसको देख विपत्ति-विभागी,
निर्धन, अपढ़, निरन्न, अभागी।
जिसका हृदय न दया दुखाती,
लज्जा भी क्या उसे न आती?

(१३)

यदि कोई पीडित होता है,
उसे देख सब घर रोता है।
देश-दशा पर प्यारे भाई!
आई कितनी वार रुलाई?

(१४)

सुख-समृद्ध-शाली करने में,
निज घर को धन से भरने में।
कौन न श्रम सब दिन करता है,
तनिक नहीं उसमे डरता है॥

(१५)

थोड़ा भी श्रम यदपि उठाते,
जन्मभूमि को तुम न भुलाते।
तो अब तक निहाल हो जाती,
शोभामयी दिव्य दिखलाती॥

(१६)

जो कुछ अब तक हुआ, भुलावो,
अब इसका सम्मान बढाओ।
मान लीजिए वचन हमारे,
इसकी लज्जा हाथ तुम्हारे॥

(१७)

जन्मभूमि की बलिहारी है,
यह सुरपुर से भी प्यारी है।
मकी महिमा अति भारी है,
सुधि भी इसकी सुखकारी है॥

फरवरी-मार्च, १९०३

७—स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार

(१)

कलम को कँपकँपी-सी आ रही है,
हमारी बुद्धि चक्कर खा रही है।
लिखें हम क्या नहीं कुछ याद आता,
अजब हालत हमारी है विधाता!

(२)

विदेशी वस्त्र क्यों हम ले रहे है?
वृथा धन देश का क्यों दे रहे है?
न सूझै है अरे भारत भिखारी!
गई है हाय तेरी बुद्धि मारी!

(३)

हजारो लोग भूखो मर रहे है,
पडे वे आज या कल कर रहे है।
इधर तू मंजु मलमल ढूँढता है!
न इसमे और बढ कर मूढता है॥

(४)

महा अन्याय हा हा हो रहा है,
कहे क्या कुछ नहीं जाता कहा है।
मरें, असगर, बिसेसर और काली,
भरें घर ग्रान्ट, ग्राहक और राली॥

(५)

स्वदेशी वस्त्र की हमको बडाई,
विदेशी लाट ने भी है सुनाई।
न तिस पर भी हमें जो लाज आवै,
किया क्या हाय हे जगदीश ! जावै ॥

(६)

चमकते रग हैं हमको भुलाते,
अनोखे बेल-बूटे भी लुभाते।
नही हम देखते हैं पायदारी,
हमारी है वडी यह भूल भारी ॥

(७)

विदेशी धोवियो तक ने हमारी,
समझ पर है कलप की ईंट मारी।
पहनते धोतियाँ, सवको दिखाते,
न नकी चाल भी हम चित्त लाते ॥

(८)

धराधर धार रुपयो की वही है,
विलायत ओर मोवी जा रही है।
न कश्मीर। न मखमल छोडते हम,
न फ्लैनल, फ्यल्ट से मुख मोडते हम ॥

(९)

रुई होती यहाँ कुछ कम नहीं है,
न इतनी और देशों में कहीं है।
उसे दे हम सडे कपडे मँगावें,
जिन्हें ले एक के दो-दो गँवावें ॥

(१०)

न काशी और चन्देरी हमारी,
न ढाका, नागपुर नगरी विचारी।
गई है नष्ट हो; जो देश भाई !
दया उनकी तुम्हे कुछ भी न आई ॥

(११)

अकेला एक लुधियाना हमारा,
चला सकता अभी है काम सारा।
फिरें, तिस पर, भला, जो और के द्वार,
हमें, फिर, क्यों नहीं सौ वार धिक्कार ?

(१२)

स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार कीजै,
विनय इतना हमारा मान लीजै।
शपथ करके विदेशी वस्त्र त्यागो,
न जावो पास, उससे दूर भागो॥

(१३)

अरे भाई ! अरे प्यारे ! सुनो बात,
स्वदेशी वस्त्र से शोभित करो गात।
वृथा क्यों फूँकते हो देश का दाम,
करो मत और अपना नाम बदनाम॥

जुलाई १९०३

८——श्री हार्नली-पंचक

(१)

विद्या-निधान-वर, विज्ञ-जन-प्रदान,
शोभायमान जग में सविता-समान।
वाणी न जासु मुख तें क्षणहू टली है,
सोई गुणी-गण-शिरोमणि हार्नली है॥

(२)

भाषा न एकहु भली विधि लोक माहीं,
जानैं मनुष्य तउ गर्व वहैं वृथा ही।
भाषा अनन्त मुख जासु बसैं सदाहीं,
माहात्म्य तासु कहि को कवि पार जाहीं॥

(३)

शेषावतार परिपूर्ण मही-मझार ?
किंवा गणेश गुणिनायक कोऽवतार ?
विद्या-विमुग्ध स भाँति महा विशाल,
पाया गया न पृथिवी-तल पै त्रिकाल ॥

(४)

हेमेन्दु औ वररुचि प्रति जो अपारा,
श्रद्धा-प्रकार सुपवित्र अहै हमारा ।
तातें विशेष तव ऊपर भक्ति-भाव,
हे हार्नली ! इमि कहै सब सत्स्वभाव ॥

(५)

सौजन्य-सिन्धु, बुध-बन्धु, मनोज्ञ-रूप,
विज्ञात तत्त्व यह डित है अनूप ।
विद्या-समृद्धि सन ही सुमहाजनी है,
औ शब्द-शास्त्र महँ सम्प्रति पाणिनी है ॥

अक्टूबर १९०३

६—विचार करने योग्य बातें

(१)

मैं कौन हूँ ? किस लिए यह जन्म पाया,
क्या क्या विचार मन मे किसने पठाया ?
माया किसे, मन किसे, किसको शरीर,
आत्मा किसे कह रहे सब धर्मधीर ?

(२)

क्यों पाप-पुण्य-रचडा जगबीच छाया ?
माया-प्रपंच रच क्यों सबको भुलाया ?
आया मनुष्य फिर अन्त कहा सिधारै,
ये प्रश्न क्यों न जड जीव सदा विचारै ?

(३)

नाना प्रकार जग मे जन जन्म पाते,
पीते तथा नित यथाविधि खाद्य खाते।
तो भी सदैव मरते सब जीवधारी,
क्यो अल्पकालिक हुई फिर सृष्टि सारी ?

(४)

क्या वस्तु मृत्यु ? जिसके भय से विचारे,
होते प्रकम्प-परिपूर्ण मनुष्य सारे।
क्या बाघ है ? विशिप है ? अहि है विषारी ?
किं वा विशाल-तम तोप दृढ़ागधारी ?

(५)

पृथ्वी-समुद्र-सरिता-नग-नाग-सृष्टि,
मागल्य-मूल-मय वारिद-वारि-वृष्टि।
कर्तार कौन इनका ? किस हेतु नाना,
व्यापार-भार सहता रहता महाना ?

(६)

विस्तीर्ण विश्व रच लाभ न जो उठाता,
स्रष्टा समर्थ फिर क्यो उसको बनाता ?
जो हानि-लाभ कुछ भी उसको न होता,
तो मूल्यवान फिर क्यो निज काल खोता ?

(७)

कोई सदैव सुख-युक्त करे विहार,
कोई अनेक विधि दुःख सहे अपार।
जो भेद-भाव सबमें यह विद्यमान,
क्या बीजवस्तु उसकी जग में प्रधान ?

(८)

तेजोनिधान रवि-बिम्ब सुदीप्ति-धारी,
आह्लादकारक शशी निशि तापहारी।
जो ये प्रकाशमय पिण्ड गये बनाये,
तो व्योम-बीच कब ये किस भाँति आये ?

(९)

क्यों एक देश सहसा बल-वृद्धि पाता ?
क्यों अन्य दीर्घ-दुख-सागर मे समाता ?
ये खेल कौन, किस कारण, खेलता है ?
क्यो नित्य नित्य सुख में दुख मेलता है ?

(१०)

ये हैं महत्त्व-परिपूरित प्रश्न-सार,
एकान्त जो नर करैं उनका विचार।
होवैं अवश्य जन वे जग में महान,
सज्ञान और वर-बुद्धि-विवेकवान ।।

फरवरी १९०४

१०—ग्रंथकारों से विनय

(१)

हे ग्रंथकार, आगार गुणों के, ज्ञाता,
अति रुचिर मनोरम गद्य-पद्य-निर्माता।
क्षण भर के लिए समेट काम निज सारा,
सुनिए यह इतना विनय विनीत हमारा ।।

(२)

भाषा है रमणी-रत्न महा-सुखकारी,
भूषण हैं उसके ग्रंथ लोक-उपकारी।
उनको लिख उसकी तृप्ति भली विधि कीजै,
अति विमल-सुयश की राशि क्यों न ले लीजै ? ।।

(३)

सत्काव्य, तथा इतिहास, और विज्ञान,
सत्पुरुषों के भी चरित विचित्र-विधान।
लिखिए हे लेखन-कला-कुशलतावान।
इसमें ही है सब भाँति देश-कल्यान ।।

(४)

वर रत्न, कनक कमनीय, कान्ति के वर्द्धक,
इस भूषण-रचना-हत नही आवश्यक ।
इस कारण देश-विदेश नही जाना है,
शारीरिक श्रम भी नही बहुत पाना है ॥

(५)

सुविचार-राशि है रत्न रुचिरताधारी,
हैं सुन्दर वर्ण सुवर्ण, कर्ण सुखकारी ।
घर ही में बैठ विचार प्रकट करना है,
पुस्तक के पृष्ठ सहर्ष वही भरना है ॥

(६)

जो वस्तु और की विना कहे लेता है,
सब कोई उसको "चोर" सदा कहता है ।
औरो के चारु विचार तथापि मनोहर,
ले लेने मे कुछ दो नही, हे बुधवर ! ॥

(७)

इँग्लिश का ग्रथ-समूह बहुत भारी है,
अति-विस्तृत-जलधि समान देहधारी है ।
सस्कृत भी सबके लिए सौख्यकारी है,
उसका भी ज्ञानागार हृदयहारी है ॥

(८)

इन दोनो में से अर्थ-रत्न ले लीजै,
हिन्दी के अर्पण उन्हे प्रेमयुत कीजै ।
वह माता-सम सब भाँति स्नेह-अधिकारी,
तनी ही विनती आज विनम्र हमारी ॥

(९)

माता है जैसी पूज्य सुनो हे भाई !
भाषा है उसी प्रकार महा-मुद-दायी ।
माता से पूज्य विशेष देश-भाषा है,
मिथ्या यह हमने वचन नही भाखा है ॥

(१०)

माता से जग के बीच जन्म मिलता है,
भाषा से सब व्यवहार सदा चलता है।
इससे ही उसकी कीर्ति विज्ञ गाते हैं,
तत्सेवा कर आनन्द अमित पाते हैं ॥

(११)

इसलिए स्वभाषा-भक्ति, देश-हितकारी!
कर, भली भाँति, दूजिए पुण्य-अविकारी।
रचिए गुण-गौरव-पूर्ण-ग्रंथ-गण सारा,
बस, यही आपसे विनय विनीत हमारा ॥

फरवरी १९०५

११—रम्भा

(१)

रूपवती यह रम्भा नारी,
सुरपति तक को यह अति प्यारी।
रति, धृति भी, दोनों बेचारी,
इसे देख मन में हैं हारी ॥

(२)

इसके हाव हृदयहारी हैं,
हारी इससे सुरनारी हैं।
गति इसकी सबसे न्यारी है,
छवि नयनों को सुखकारी है ॥

(३)

जब यह अद्‌भुत भाव बताती,
वसन इधर से उधर हटाती।
नाभि-नवल-नीरज दिखलाती,
स्तनतट से पट को खिसकाती ॥

(४)

मुनि भी मोहित हो जाते हैं,
प्रचुर ताप तन मे पाते हैं ।
इसकी लीला कही न जाती,
गति इसकी न समझ में आती ।।

(५)

पहनी पारिजात की माला,
हरित वस्त्र सिर ऊपर डाला ।
करपल्लव किस भाँति उछाला,
श्रुतिकुडल क्या खूब निकाला ।।

(६)

वेश विचित्र बनाया इसने,
मुख-मयङ्क दिखलाया इसने ।
भृकुटी धनुशाकार मनोहर,
अरुण दुकूल वहुत ही सुन्दर ।।

(७)

मजु-मृणाल-पराजयकारी,
वाम वाहु आभूषणधारी ।
किस प्रकार लटकाया इसने,
कमलो को शरमाया इसने ।।

(८)

कटि इसकी न भङ्ग हो जावे,
चलते कही न यह गिर जावे ।
इससे त्रिबली बन्ध बनाया,
विधि ने यह चातुर्य्य दिखाया ।।

(९)

इसका कुच नितम्व विस्तार,
सचमुच है अत्यन्त अपार ।
दृष्टि युवक जन की जो जाती,
थक कर वही पडी रह जाती ।।

(१०)

शुक के सम्मुख जानेवाली,
सरस भाव वतलानेवाली ।
नव यौवन मद से मतवाली,
सुर-नर-मुनि-मन हरनेवाली ॥

(११)

इसका चित्र सभी को भाया,
रविवर्म्मा ने विशद वनाया।
कौशल उसमें खूब दिखाया,
रुचिर रूप अच्छा उपजाया ॥

मार्च १९०५

१२—कुमुद सुन्दरी

(१)

यह है कुमुद सुन्दरी वाला,
है इसका सब ठाट निराला ।
घर इसका गुजरात देश है,
देखो कैसा सुभग वेश है ।

(२)

चारु-चन्द्रमा-सम मुख-मंडल,
भूतल में शोभा आखंडल ।
कञ्चन-कर्ण फूल पहने है,
नहीं और कोई गहने हैं ॥

(३)

काम-कामिनी की ले छाया,
जिसे चतुर्मुख ने निर्म्माया।
भूषण उसकी विडम्बना है,
महा-अनूपम रूप वना है ॥

करें निज हित लगाकर दिल को हम सब
यह अवसर खूब ही है हाथ आया ॥ ४ ॥
झुकावें शीश हम ईश्वर को पहले
कि जो घट घट मे है सबके समाया ॥ ५ ॥

(२)

शिक्षामृत पान करो चित्त को लगाई
जीवित-साफल्य हेत अतिशय गुणदायी—
विद्या की आदि-देव स्त्री ही जग में प्रसिद्ध
देख के हमारी वह घोर मूर्खताई ॥ १ ॥
पावैंगी खेद बहुत, बहनो, सदेह नही
कुछ न कोई कर सकैगा भगिनी या भाई ॥ २ ॥
आओ सप्रेम उसे नेम से प्रसन्न करें
अपनी उन्नति ही से है सभी भलाई ॥ ३ ॥
विद्या से नीति-रीति होती सब भाँति शुद्ध
मन-वच भी पावन हो होते सुखदाई ॥ ४ ॥
होंगे तब हमसे शुभ काम सहज में ही सब
छिपी नही जग मे है ज्ञान की बड़ाई ॥ ५ ॥

(३)

अज्ञान अधकार मे पडी हैं हाय हम
कर ज्ञान का प्रकाश उसे दे नसाय हम—
आवो पवित्र आचरण सीखैं नये नये,
राखैं सुखी कुटुम्ब मनो-वाक्-काय हम ॥ १ ॥
महिला अनेक महि की भूषण है हो गई,
उनकी सुचाल को ही चलें चित्त लाय हम ॥ २ ॥
उनके सदाचरण ने उन्हें कर दिया अमर,
उनका ही सा चलो करें अपना सुभाय हम ॥ ३ ॥
जो काम देश के नही पूरे वे कर सकीं,
आवो करे उन्ही को हिये हर्ष छाय हम ॥ ४ ॥
छोड़ें विचार आज से अपने पराये का,
सोचें गुणो के सिर्फ ग्रहण का उपाय हम ॥ ५ ॥

(४)

प्यारा है सबसे हमको हिन्दुस्तान हमारा
सुख दुख में हमेशा मेहरबान हमारा—
विद्या नहीं है, बल नहीं है, धन भी नहीं है,
क्या से हुआ है क्या यह गुलिस्तान हमारा ॥ १ ॥

पढती थीं वेद तक जहाँ महिला सदैव ही,
नारी-समूह है वही अज्ञान हमारा ॥ २ ॥

विद्या धनों का मूल है प उस तरफ बहन
अब तक गया नहीं है कभी ध्यान हमारा ॥ ३ ॥

आओ करें प्रयत्न आज से लगा के दिल,
बढ जाय जिससे ज्ञान और मान हमारा ॥ ४ ॥

विद्या बिना स्वदेश की सेवा न हो सके,
विद्या ही से है सब तरह कल्याण हमारा ॥ ५ ॥

३० दिसम्बर१९०५को काशी की महिला परिषद् मे गाये जाने के लिए रचित
जनवरी १९०६

१५—वन्दे मातरम् !

वन्दे मातरम् ।

पानी की कुछ कमी नहीं है, हरियाली लहराती है,
फल औ फूल बहुत होते है, रम्य रात छवि छाती है।
मलयानिल मृदु मृदु बहती है शीतलता अधिकाती है,
सुखदायिनि वरदायिनि तेरी, मूर्ति मुझे अति भाती है ॥

वन्दे मातरम् ।

तीन कोटि जनता की कलकल सुनी जहा पर जाती है,
उसकी दुगुन भुज-धारा की द्युति विकास जहं पाती है ।
तिस पर भी तू अबला है यह बात व्यथा उपजाती है,
हे तारिणि ! हे बहुबल-धारिणि ! रिपु तू मार गिराती है ॥

वन्दे मातरम्।

तू ही धर्म्म, कर्म्म भी तू ही, तू ही विद्यावानी है,
तू ही हृदय, प्राण भी तू ही, तू ही गुण-गण-खानी है।
बाहु-शक्ति तू ही मम, तेरी भक्ति महा मन मानी है,
प्रतिघट, प्रतिमन्दिर के भीतर तू ही सदा समानी है॥

वन्दे मातरम्।

हे दुर्गे! दस भुजा तुम्हारी दुर्गति-नाश-निशानी है,
हे कमले! हे अमले! अचले! तू सब सुख की खानी है।
नहीं एक भी भरतखड में ऐसा पापी प्रानी है,
कहे न जो नित, "यही हमारी महामहिम महरानी है॥"

वन्दे मातरम्।

जनवरी, १९०६

१६—ऊषा-स्वप्न

(१)

वाणासुर की सुता सयानी,
रति भी जिसको देख लजानी।
रुचिर नाम ऊषा उसका है,
विशद वेश-भूषा उसका है॥

(२)

जब वह हुई षोडशी बाला,
पडा काम से उसका पाला।
मन्मथ ने शायक सन्धाना,
ऊषा उसका हुई निशाना॥

(३)

दुर्निवार मनसिज की मारी,
व्यथित हुई जब वह सुकुमारी।
उसने और न लडना चाहा,
पति का प्राण पकडना चाहा॥

(४)

बिम्बाधर-रस चखनेवाला,
तनु में जीवन रखनेवाला।
जल्द नहीं जो पाऊँगी मैं,
हे महेश मर जाऊँगी मैं॥

(५)

यों कह कर घबडाने तब वह—
लगी गिरीश मनाने तब वह।
दु:ख अत्यधिक पाने तब वह,
तनु को कृशित बनाने तब वह॥

(६)

बहुत रात खोने पर उसको,
एक बार सोने पर उसको।
हुआ स्वप्न सुखदायक उसको,
मिला एक नव नायक उसको॥

(७)

यदुवंशी अनिरुद्ध कुमारा,
रूप-राशि शोभा आगारा।
पास स्वप्न में उसके आया,
जी से वह ऊषा को भाया॥

(८)

सुन्दरता भी शरमा जावे,
यदि वह उसके सम्मुख आवे।
वदन नील-नीरद सम काला,
अति विशाल गल-मुक्ता-माला॥

(९)

उसे देख मन बहुत सँभाला,
तदपि हो गई मोहित बाला।
यदपि न मुँह से वचन निकाला,
दिल अपना उसने दे डाला॥

(१०)

ऊषा को जब ऐसा पाया,
युवा पास तब उसके आया।
बैठ गया, मन मोद बढाया,
विधु-वदनी का हाथ उठाया॥

(११)

रस इस तरह बढाया उसने,
मनोमुकुल बिकसाया उसने।
सुधासलिल बरसाया उसने,
तनु कण्टकित बनाया उसने॥

(१२)

कि वह भूल अपने को गई,
सत्य समझ सपने को गई।
कर-स्पर्श-सुख-सिन्धु समानी,
रतिपति के वह हाथ बिकानी॥

(१३)

उसके मुख-मयक की शोभा,
देख युवा का भी मन मोहा।
सुषमा-सर उसने अवगाहा,
अरुणाधर रस चखना चाहा॥

(१४)

ऊषा ने भी की मन-भाई,
उत्सुकता अतिशय दिखलाई।
पर ज्योही वह भुजा उठाने,
चली, युवा को गले लगाने॥

(१५)

नीद दृ ो से ज्योही भागी,
कही नही कुछ, जब वह जागी।
इससे जो दुख उसने पाया,
गया पुराणो में है गाया॥

(१६)

चित्रकार-वर रविवर्म्मा है,
निज गु में अनन्यकर्मा है।
उसने ऊषा-स्वप्न उतारा,
खूब सुयश अपना विस्तारा॥

जनवरी १९०६

१७—सरगौ नरक ठेकाना नाहिं

(आल्हा)

(१)

देवी सारदा तुमका सँवरी मनियाँ देउ महोंबे बयार,
तुमही रच्छक हौ सब जग के बेड़ा खेइ लगायो पार।
आपनि कथा सुनावौं तुमका सुनियो ज्वानौ कान लगाय;
जब सुधि आवै उन बातन कै जियरा कलपि कलपि रहि जाय॥

(२)

सात पुस्ति ते पुरिखा हमरे बसे गाँऊँ मा घरु बनवाय,
निगुरन के पुरवा माँ आजौ ठाढ़ि हमारि मड़ैया आय।
पैदा हुवैं भैन हम भैय्या ख्याला खावा नित उठि रोजु,
दिन दिनु भरि हम घरै न आयन बाप न पावा रचौ खोजु॥

(३)

मूड कै धरती बहुत उठावा तब भै दादा के मन कब,
हाथु पकरि घसिलायन हमका, कीन्हेन लालि कनगुदी सब।
रहे पढ़ावत लरिका याकै लाला नाँउँ मदारीलाल;
हुवैं गैन बैठाये हमहूँ अब आगे के सुनो हवाल॥

(४)

एरका एकु पढ़ै हम लागेन परै लागि निन हम पर मार,
छिन छिन मैं हाँ लाला जोकै—"पल्लुआ आपन हाथु निरारु"।
छरी तड़ातड़ हम पर बरसै लागी नित कम ने कम बीस,
अटई उजा तहूँ न छाँड़ा भैय्या जब हम गेन नगीन॥

(५)

ज्यो त्यो कै हम पढा मोहल्ला, फिरि खरीदि औ बेंचु, बियाजु,
पिचमित, तरकुन मत्र पढायनि लाला रोजु ढोवायनि नाजु।
फिरि हम गैन झञ्झराखेरे मच्छू मियाँ मोलवी पास,
लागेन पढै अलिब्बे हौवा धरमु करमु भा सत्यानास॥

(६)

परेन प्यांच माँ जेर-जबर के हालि हालि लागेन अभुवाय,
घर माँ जानै पढी पारसी चिलमैं भरत दिनौंना जाय।
पढा करीमा, आमदनामा, खालिकबारी बारा दाँय,
दस्तूरुसुबियो पढि डारा जिनके पढे पितर तरि जाँयें॥

(७)

यहू के आगे औरु बढेन हम पढी कितावै हम छा-सात,
मनु तौ रहै अरब माँ अरबी पढी जाय—पै बदे कै बात।
घर माँ कहै लाग सब कोऊ—"कल्लू बन्द करौ यहु खेलु
बहुत पारसी जो तुम पढिहौ तुम्हे परी ब्यांचै का तेलु"॥

(८)

भैंसि-भवानी कै तब सेवा लागेन करै पढवुगा छूटि,
बटुवन दूधु दुहा इन हाथन धार न कबौ दुहत माँ टूटि।
मोटरिन कटिया भयुरा सानी कीन रोजु हम बाँह चढाय,
मस्त भैन तब आल्हा गावा उपर दुहत्था हाथु उठाय॥

(९)

होत बनियई आई हमरे, को अब तुमते झूठ बताय;
हमहूँ घिउ बरसन ब्यांचा है छोटी बडी बजारन जाय।
हियाँ की बातैं हियै रहि गईं अब आगे के सुनौ हवाल,
गाँउ छाँडि हम सहर सिधायन लागेन लिखैं चुटकुला ख्याल॥

(१०)

अचकनु पहिरि बू॰ हम डाटा बाबू वनेन डेरात डेरात,
लागेन आवै जाय सभन माँ, कण्ठु फूट, तब बना बतात।
जब तक हमरे तन माँ तनिकौ रहा गाँउँ के रस का असु,
तब तक हम अखबार कितावै लिखि लिखि कीन उजागर बसु॥

(११)

जहाँ गाँउँ का खुनु खतम भा तहाँ फूटिगे भागि हमारि,
अविकल सासु छाँडिगे हमका दुर्गति केहितेक हन पुकारि।
कुभी पाक नरकु असि लाखन जाजम्बर जहँ परे गँवायँ,
गटरन ते भुंइ पेलि परी है मनई चलत फिरत धँसि जायँ॥

(१२)

आठो पहर भकाभक निकरै धुँवाँ जहाँ अवकास उडाय,
कौनी तना, बताओ तुमही अविकल रहै लहुरवा भाय।
ऐसे बुरे सहर माँ रहिकै पाकि उठा सब मगजु हमार,
नीक नकाग हमें न सूझै मुँहुँ ह्वैगा भुँजवा का भार॥

(१३)

जिनका निमक मुद्दतिन खावा तानि पट्टा स्वावा भाय,
कलम कुदारी लै उनहिन की जरै बगारै लागेन हाय।
जिन बभनन का पुरिखन पूजा हमहूँ जिनके ज्वारा हाँथ,
हमरी गारिन के फूलन ते उनहिन के भे बाँझिलि माँथ॥

(१४)

घेरे रहै गाँउ वाले जो मदति देइँ औ राखै प्रीति,
उनहिन का हम उठि गरियाई असि हमारी भै उलटी रीति।
अपने करमन कै सुधि आये हियरा टूकु टूकु ह्वै जाय,
धरती माता जो तुम फाटो मे मुँह के बल जाउँ समाय॥

(१५)

गुन जसु मानबु कौनि चीज है सो हम सपन्यौ जानित नाहि,
अस किरतघ्न और जो ढूँढै, मिलै न सात बिलाइति माँहि।
जो हमारि सगी साथी है सुख दुख माँ जो सदा सहाय,
उनहुन का अपिमानु करी हम बीच बजार बैठि गोहराय॥

(१६)

घिन लागै अपने मनइन ते उनका पास न आवै ध्यान,
जो कोउ भूलि गाँउँ ते आवै वहिका जाडे होयँन त्यान।
कोऊ न जानै को इनके है भासरि भाई बन्द भगवान,
यही ते कामु परे पर हमहीं घर का दोरा दुदमै बखान॥

(१७)

अपने मतलब का हम जिनकी चेरिया विनती करी हजारु,
उनहिन के पीछे परि जाई चाहैं हमैं सकलु ससारु।
पढा गुना हम कुछौ नही ना, जो कुछु सिखा राम का नाउँ,
तहूँ विरस्पति जो कुछु ब्वालै वहिमाँ दौरि घुसारी पाउँ॥

(१८)

हमरी नस नस बीच वियापे इरखा औरु लोभ महराज,
उनहिन की दीन्ही खाइत है रोटी, छाँडि लोक कै लाज।
जहिका चही चढाई ऊपर जहिका चही गिराई कीच,
हाय हाय अस हमैं वेगारा सहरु ससुरु यहु है अस नीच॥

(१९)

साफ कहित है हम ऐसेन का सरगौ नरक ठेकाना नाहिं,
बूडि मरी जो हम गङ्गा माँ तौ हत्या लागै हम काहि।
हे भगवान उबारौ हमका दीनदयाल धर्म्म के नाथ,
तुम्हरे पाँयन माँ हम आपन पटकित है यहु फुटहा माथ॥

(२०)

जो हम जनतेन असि गति होई तौ हम हाय न छँडतेन गाँउँ,
भूँखन चहै मरित, ना लेइत भूलिउ कबौं सहर का नाँउँ।
देखि हमारि हाल जो कोऊ फिरिउ सहर के आई पास,
तनिकौ चलन कही हम, होई वहिका सब बिधि सत्यानास॥

जनवरी १९०६

१८——प्यारा वतन

(१)

प्यारे वतन हमारे प्यारे,
आजा, आजा, पास हमारे।
या तू अपने पास बुलाकर,
रख छाती से हमें लगाकर॥

(२)

जब तू मुझे याद आता है,
तब दिल मेरा घबराता है।
आँख आँसू बरसाती है,
रोते रोते थक जाती है ॥

(३)

तुझसे जो आराम मिला है,
दिल पर उसका नक्श हुआ है।
उसे याद कर मै रोता हूँ,
रो रोकर आँखें धोता हूँ ॥

(४)

कच्चा घर जो छोटा-सा था,
पक्के महलो मे अच्छा था।
पेड नीम का दरवाजे पर,
सायवान से था वह बेहतर ॥

(५)

सब्ज खेत जो लहराते थे,
दिल को वे कैसे भाते थे।
फर्श मखमली जो बिछते हैं,
नहीं मुझे अच्छे लगते हैं ॥

(६)

वह जगल की हवा कहाँ है ?
वह इस दिल की दवा कहाँ है ?
कहाँ टहलने का रमना है ?
लहरा रही कहाँ जमना है ? ॥

(७)

वह मोरो का शोर कहा है ?
श्याम घटा घनघोर कहा है ?
कोयल की मीठी तानो को,
सुन सुख देते थे कानो को ॥

(८)

ज्यों ही आम पेड से टपका,
मैं फौरन लेने को लपका।
चढा उचक कर डाली डाली,
खाईं जामन काली काली ॥

(९)

जब यह मुझे याद आता है,
नहीं मुझे तब कुछ भाता है।
वे दिन क्या फिर कभी मिलेंगे?
क्या फिर अपने दिन पलटेंगे? ॥

(१०)

वे लँगोटिये यार कहाँ है ?
वे सच्चे ग़मख्वार कहाँ है?
वह घर वह बैठक मन भाई,
क्या फिर कभी मिलेगी भाई? ॥

(११)

आँख-मिचौनी की वे घातें,
खेल-कूद के दिन और रातें।
हाय कहाँ है! हाय कहाँ है!
कहाँ मिलें जो ढूँढा चाहे? ॥

(१२)

बिछडा वतन हुआ यह बेजा,
फटता है सुध किये कलेजा।
ठाठ अमीरी के सब तुझ पर,
गिलै अगर तू, करें निछावर ॥

फरवरी १९०६

१६—जम्बुकी न्याय

एक बाग़ में बहुत पुराना,
पाँच परिन्दों का था थाना।
बक, वटेर, कौवा, चण्डूल,
दिवाभीत भी नामाक़ूल ॥१॥

एक घोंसला खाली पाया,
सबने उस पर दाँत लगाया।
अपना अपना हक़ दिखलाने,
लगे कूदने शोर मचाने ॥२॥

कई रोज़ तक हुई लड़ाई,
जीत किसी के हाथ न आई।
बुड्ढा जम्बुक एक वहाँ पर,
रहता था अपने बिल भीतर ॥३॥

कुनबा भी था उसका वहाँ,
था जिसका वह शाहेजहाँ।
पास परिन्द उसी के आये,
चोंचें खाले शीश झुकाये ॥४॥

बैठ सब डालों पर दूर,
झपट न मारें कहीं हुजूर।
झटपट उन चिड़ियों ने एक,
अर्ज़ी दी, कर अर्ज़ अनेक ॥५॥

जरठ-शिरोमणि, जम्बुकराज,
न्यायमूर्ति महराजधिराज।
कर इन्साफ हमारा दीजै,
दया-दृष्टि प्रभु हम पर कीजै ॥६॥

दया जरा जम्बुक को आई,
दुम उसने उठ खूब हिलाई।
बोला वह मैं न्याय करूँगा,
शेर बबर से भी न डरूँगा ॥७॥

अपनी अपनी बात सुनाओ,
एक एक सब सन्मुख आओ।
तब बटेर बढ आगे आई,
उसने यो कह कथा सुनाई॥८॥

हे जम्बुक जी, मै नारी हूँ,
नाजुक-बदनो की प्यारी हूँ।
ऊँचा नीचा मेरा ग्राम,
रम्य रूपिणी मेरा नाम॥९॥

खुशबू से लिपटी रहती हूँ,
मुँह से जो निकला कहती हूँ।
नव्वाबो की पाली हूँ मै,
काली होकर लाली हूँ मै॥१०॥

शुरू शुरू में मेरा बोल,
था थोडा ही गोलगोल।
अब तो खूब बोलती हूँ मै,
घर गुलकन्द घोलती हूँ मै॥११॥

तीतर की परवाह न मुझको,
मोरो की भी चाह न मुझको।
इनको कभी न मैने देखा,
पर इन सबका रखती लेखा॥१२॥

लडने में हे जम्बक ज्ञानी,
नही कही भी मेरा सानी।
सबको मै मृदु वचन सुनाऊँ,
दुम अपनी दिन रात हिलाऊँ॥१३॥

मै अपनी कह चुकी कहानी,
याद पडी जो नई पुरानी।
कृपा महाप्रभु मुझ पर कीजै,
मुझे घोसला दिलवा दीजै॥१४॥

यह सुन बुड्ढा जम्बक बोला,
सब बातो को उसने तोला।

"वाह न अब कुछ बाकी रहा,
खूब कहा जी खूब कहा" ॥१५॥

तब कुनबे के जम्बुक सारे,
खड़े हो गये न्यारे न्यारे ।
"हुआ हुआ जी खूब हुआ",
कह बुड्ढे का कदम छुआ ॥१६॥

तब बोला चण्डूल बहादुर,
फटकारे पर फुर फुर फुर फुर।
हे जम्बुकवर कान उठावो,
ज़रा और आगे बढ़ आवो ॥१७॥

घर है फतेहगंज मे मेरा,
बना हुआ है अब तक डेरा ।
रहता मैं थिर नहीं वहाँ हूँ,
भटका फिरता जहाँ तहाँ हूँ ॥१८॥

नाम कुटिललोचन है मेरा,
लज्जा ने है मुझको घेरा ।
इससे मुँह न खोलता हूँ मैं,
बोली कई बोलता हूँ मैं ॥१९॥

पिंजड़े पर परदा डलवाये,
रहता अपना बदन छिपाये।
आँखें मेरी लाली लालें,
चाल अजब है घूँघटवाली ॥२०॥

शब्दमालिका कण्ठ विराजी,
छैल छबीले मुझने राजी।
वही मेरा पिंजड़ा लटकाते,
चारा मुझको वही खिलाते ॥२१॥

सतयुग मे भी जो पक्षी थे,
चक्र-मयूर के समकक्षी थे।
उन नक की मैं बोली बोलूँ,
मुँह अपना मैं निर्भय खोलूँ ॥२२॥

जो कहना था तुम्हे सुनाया,
जम्बक जी कुछ नही छिपाया।
जो न घोसला पाऊँगा मैं,
आफत भारी ढाऊँगा मैं ॥३८॥

यह सुन बुड्ढा जम्बुक बोला,
सब बातो को उसने तोला।
"वाह न अब कुछ बाकी रहा,
खूब कहा जी खूब कहा" ॥३९॥

तब कुनबे के जम्बुक सारे,
खड़े हो गये न्यारे न्यारे।
"हुआ हुआ जी खूब हुआ"—
कह, बुड्ढे का क़दम छुआ ॥४०॥

वीर बकासुर मेरा नाम,
मुनियो का-सा मेरा काम।
धाम बताऊँ अपना कहाँ,
जहाँ मुझे देखो मैं वहाँ ॥४१॥

गङ्गा, यमुना, या तालाब,
जहाँ कही थोड़ा भी आब।
वही पहुँच झट जाता हूँ मैं,
जाकर घात लगाता हूँ मैं ॥४२॥

पानी यदि कम हो जाता है,
मेरा भी दिल फट जाता है।
और कही मैं उड जाता हूँ,
सजल देख फिर आ जाता हूँ ॥४३॥

अद्भुत मेरी सुन्दरताई,
मूर्ति मनोहर मैंने पाई।
नव पल्लव-से पैर लाल हैं,
चिपटी चोच सफेद बाल हैं ॥४४॥

मछली मुझे सुधा-सी भाती,
मुँह में रखते ही धँस जाती।

यदि मेंढकी सामने आती,
वह भी कभी न वचने पाती ॥४५॥

मुझसे कोई ताल न वचता,
पहुँच महाभारत मैं रचता।
जीव-जन्तु गारत हो जाते,
आर्त्तनाद करते चिल्लाते ॥४६॥

जव मुझको कुछ दिन हो जाते,
घोंघे तक न मुझे पतियाते।
तव मैं उन्हे छोड देता हूँ,
और कहीं का पथ लेता हूँ ॥४७॥

देख मुनिवरों का-सा ध्यान,
मिलै नहीं मेरी पहचान।
धीरे धीरे खुलता भेद,
तव पाता मैं खरतर खेद ॥४८॥

देख रूप, सुन मधुरी वानी,
चिडियाँ मुझे वतातीं ज्ञानी।
पर क्या हूँ, सो मैं ही जानूँ,
मैं ही अपने को पहचानूँ ॥४९॥

एक वार मैं गया फँसाया,
चिडीमार ने जाल विछाया।
वहुत दिनों तक मुझे सताया,
रो रो मैंने प्राण वचाया ॥५०॥

हमीं ने है मेरा नाता,
चिडियों को मैं यही सुझाता।
यदि कोई खिलाफ कुछ कहता,
मैं उसको खा जाना चहता ॥५१॥

हे जम्वुक, हे मुखर शृगाल,
इतना ही है मेरा हाल।
वह घोंसला मुझे दिखलावो,
महाप्रलय तक वस फैलावो ॥५२॥

शुक, पिक अगर सामने आवे,
मुझे देखकर घबरा जावे।
मोरों को भी मैं फटकारूँ,
दौड़ दौड़कर चोंचे मारूँ॥६८॥

लेकिन कोई और परिन्दा,
गर इनको दिखलावै दन्दां।
उसको मैं कच्चा खा जाऊँ,
ज़रा नहीं मैं दया दिखाऊँ॥६९॥

हैं ये सब मेरा ही माल,
मैं ही हूँ इन सबका काल।
पास और जो इनके जावे,
वह मेरा शिकार हो जावे॥७०॥

चिमगादड को गर मैं पाऊँ,
उसकी खता माफ फरमाऊँ।
मेरा वही हकीकी भाई,
सच कहता हूँ राम-दुहाई॥७१॥

जिसने जानी मेरी किल्ली,
उससे मैं हो जाता विल्ली।
सत्य सूर्य्य जब मुझे दिखाता,
अन्धकार में मैं छिप जाता॥७२॥

यह सुन बुड्ढा जम्बुक बोला,
सब बातों को उसने तोला।
"अब न और तकलीफ उठावो,
डगरी लेकर घर भग जाओ"॥७३॥

तब कुनबे के जम्बुक सारे,
खड़े हो गये न्यारे न्यारे।
"हुआ हुआ जी खूब हुआ"—
कह बुड्ढे का कदम छुआ॥७४॥

गिरगिट एक वहीं रहता था,
ज्ञानी अपने को कहता था।

बदल बदल कर रग हजार,
उसे हुआ था बुद्धि-विकार ॥७५॥

उसकी प्रिया छिपकली काली,
सुन्दरता-मद से मतवाली।
उसने अण्डे देना चाहा,
बोली मेरे आलीजाहा ॥७६॥

जिसके जो कुछ जी में आया,
अपना राग सभी ने गाया।
दिवाभीत ने डिगरी पाई,
यह सुन मुझे रुलाई आई ॥७७॥

है घोसला बहुत वह सुन्दर,
अण्डे देती उसके भीतर।
ज्ञान कहाँ सब तुमने खोया,
किस रगत में उसे डुबोया ॥७८॥

पास दौड जम्बुक के जावो,
अपना ज्ञानीपन दिखलावो।
लावो छीन घोसला मेरा,
लगे उसी मे कल से डेरा ॥७९॥

तब गिरगिट ने शीश उठाया,
गिनकर बारह बार हिलाया।
कहा इसी दम मैं जाता हूँ,
छीन घोसला ले आता हूँ ॥८०॥

जन्तु सृष्टि के सारे ज्ञानी,
मेरे हाथों पीते पानी।
वर मैंने गिरिधर से पाया,
बिना पढ़े सब मुझको आया ॥ ॥

यह कह, वह जम्बुक के घर,
दौड़ा सरपट सर सर सर।
द्विजपति वैनतेय विख्यात,
मिले उसे, भाखी सब बात ॥८२॥

उनका पैर पड गया उस पर,
उखडी दुम दो टुकडे होकर।
गिरगिट भगा छिपकली पास,
हुए वाख्ता होश-हवास ॥८३॥

छोडी सब डिगरी की आस-
हुआ पूँछ का सत्यानाश।
मरहमपट्टी खूब चढाई,
किसी तरह से जान बचाई ॥८४॥

हुआ जम्बुकी न्याय तमाम,
सब सन्तो को मेरा सलाम।
भूल चूक कर दीजे माफ,
बात सदा मैं कहता साफ॥८५॥

मार्च १९०६

२०—गौरी

(१)

पर्वतपति-मेना की प्यारी,
है यह शैलसुता सुकुमारी।
रुचिर रूप अति इसने पाया,
विधि ने स्वयं इसे निर्माया॥

(२)

हिमकर में जो सुन्दरता है,
कमलो में जो कोमलता है।
जहाँ जहाँ लावण्यता है,
जिसमें जितनी गुण-गुरुता है॥

(३)

जब एकत्र उन्हे कर पाया,
तब विधि ने अभ्यास बढाया।

फिर उसने यह रूप बनाया,
सुन्दरता-समूह उपजाया ॥

(४)

हर को इसने वरना चाहा,
मोहित उनको करना चाहा।
बहुविधि हाव-भाव कर हारी,
विफल हुई पर इच्छा सारी ॥

(५)

शिव ने काम भस्म कर डाला,
बहुत निराश हुई तब बाला।
कठिन तपस्या तब विस्तारी,
गौरी गौरी-शिखर सिधारी ॥

(६)

बरसों वहीं बिताया इसने,
क्लेश कठोर उठाया इसने।
तप ने गात सुखाया इसने,
मुनियों को शरमाया इसने ॥

(७)

इसकी देख तपस्या भारी,
हुए द्रवित कैलाशविहारी।
की तब सब इसकी मनभाई,
कुछ दिन में यह हर-घर आई ॥

(८)

मृत्युञ्जय पति इसने पाया,
प्रेमपाश में बद्ध बनाया।
तन पति का आधा अपनाया,
अपना अति सौभाग्य बढ़ाया ॥

(९)

तब से त्रिभुवन ने जाना,
गौरी हुई जगत की माता।

दिन दिन महिमा अधिकाती है,
घर-घर में पूजी जाती है ।।

(१०)

इसका चित्र मनोहारी है,
कौशल इसमें अति भारी है।
रविवर्मा की बलिहारी है,
जिसकी ऐसी कृति कारी है।

मार्च, १९०६

२१——आर्य्य-भूमि

ge to young men" नामक दस्तें नम्बर
]

(१)

जहाँ हुए व्यास मुनि-प्रधान,
रामादि राजा अति कीर्तिमान।
जो थी जगत्पूजित धन्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ।।

(२)

जहाँ हुए साधु महा महान्,
थे लोग सारे धन-धर्म्मवान्।
जो थी जगत्पूजित धर्म्म-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ।।

(३)

जहाँ सभी थे निज धर्म्मधारी,
स्वदेश का भी अभिमान भारी।
जो थी जगत्पूजित पूज्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ।।

(४)

हुए प्रजापाल नरेश नाना,
प्रजा जिन्होंने सुत-तुल्य जाना।
जो थी जगत्पूजित सौख्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि॥

(५)

वीरांगना भारत-भामिनी थीं,
वीरप्रसू भी कुल-कामिनी थीं।
जो थी जगत्पूजित वीर-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि॥

(६)

स्वदेश-सेवी जन लक्ष लक्ष,
हुए जहाँ हैं निज-कार्य्य दक्ष।
जो थी जगत्पूजित कार्य्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि॥

(७)

स्वदेश-कल्याण सुपुण्य जान,
जहाँ हुए यत्न सदा महान।
जो थी जगत्पूजित पुण्य भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि॥

(८)

न स्वार्थ का लेश जग कहीं था,
देशार्थ का त्याग कहाँ नहीं था।
जो थी जगत्पूजित श्रेष्ठ-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि॥

(९)

कोई कभी धीर न छोड़ता था,
न मृत्यु से भी मुँह मोड़ता था।
जो थी जगत्पूजित धर्म्म-भूमि
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि॥

(१०)

स्वदेश के शत्रु स्वशत्रु माने,
जहाँ सभी ने शर-चाप ताने ।
जो थी जगत्पूजित शौर्य्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ॥

(११)

अनेक थे वर्ण तथापि सारे,
थे एकताबद्ध जहाँ हमारे ।
जो थी जगत्पूजित ऐक्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ॥

(१२)

थी मातृ-भूमि-व्रत-भक्ति भारी,
जहाँ हुए शूर यशोऽधिकारी ।
जो थी जगत्पूजित कीर्त्ति-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ॥

(१३)

दिव्यास्त्र विद्या बल, दिव्य यान,
छाया जहाँ था अति दिव्य ज्ञान ।
जो थी जगत्पूजित दिव्य भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ॥

(१४)

नये नये देश जहाँ अनेक,
जीते गये थे नित एक एक ।
जो थी जगत्पूजित भाग्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ॥

(१५)

विचार ऐसे जब चित्त आते,
विषाद पैदा करते, सताते ।
न क्या कभी देव दया करेंगे ?
न क्या हमारे दिन भी फिरेंगे ? ॥

———

अप्रैल १९०६

२२—शहर और गाँव

(१)

शहर गाँव से वोला भाई।
मुझको तुझ पर मिली वडाई॥
मुझसे सवको वहुत नफा है।
तुझसे तो हर शख्स खफा है॥

(२)

मैं आराम वहुत देता हूँ।
काम वहुत से मैं करता हूँ॥
अच्छ अच्छे माल वनाकर।
रख देता हूँ सजा सजा कर॥

(३)

मैं पूरी पकवान, मिठाई।
देता हूँ सव वनी-वनाई॥
विसकुट, रोटी, नानखताई।
मक्खन, रवडी, दूध, मलाई॥

(४)

और वहुत से उम्दा खाने।
सवको देता हूँ मनमाने॥
रात-विरात किसी दम आवे।
थका मुसाफिर खाना पावे॥

(५)

टिक रहने के वहुत ठिकाने।
अच्छे वने मुसाफिरखाने॥
जो कुछ चाहे सव मिलता है।
मुरझाया दिल भी खिलता है॥

(६)

थान रेशमी, ऊनी, सूती।
अच्छी भडप, रंगी मारकीनी॥
आला, मलमल, तनू, लट्ठा।
मखमल, साटन, गोटा, पट्ठा॥

(७)

लोई, धुस्सा, शाल, दुशाला।
मिले एक से एक निराला॥
मोती मूँगा, चाँदी, सोना।
ज़ेवर, बरतन और खिलौना॥

(८)

तेरा भी हूँ बहुत सहारा।
मुझसे तेरा बड़ा गुज़ारा॥
लेकर पैदावारी तेरी।
देता हूँ दौलत बहुतेरी॥

(९)

कर्ज़ तभी सिर से टलता है।
काम तभी तेरा चलता है॥
तेरे हैं बहुतेरे दुश्मन।
चोर, लुटेरे, साहू-महाजन॥

(१०)

मुझ बिन तुझे चैन से रहना।
भाई मुश्किल है, सच कहना॥
जजी मुन्सिफी, मैजिस्ट्रेटी।
मैंने तेरे लिए समेटी॥

(११)

हाकिम, अहलकार, बैरिस्टर।
सब बिठलाये तेरी खातर॥
बैद, हकीम डाक्टर, सरजन।
जो हैं सब रोगी के दुश्मन॥

(१२)

ये सब तुझे मदद देते हैं।
बिगड़ा काम बना देते हैं॥
जो मेरा एहसान न माना।
तो है तू पूरा दीवाना॥

(१३)

गाँव हँसा सुनकर ये बातें ।
कहा, जानता हूँ सब घातें ॥
जो यह सान जताते हो तुम ।
बातें बडी बनाते हो तुम ॥

(१४)

अपने गुन सब गाते हो तुम ।
सब्ज़बाग़ दिखलाते हो तुम ॥
सबको खूब लुभाते हो तुम ।
खोटी चाल चलाते हो तुम ॥

(१५)

ऐसी चाट लगाते हो तुम ।
ऐसे ठाट बनाते हो तुम ॥
पहले जो बहलाते हो तुम ।
पीछे खूब रुलाते हो तुम ॥

(१६)

जो मीठी बातों में आवे ।
पीछे सिर धुनकर पछतावे ॥
मैं अपने घर ही में खुश था ।
तुमने मुझको किया निकम्मा ॥

(१७)

अब तुम मेरी सुनो कहानी ।
हुई बडी मुझसे नादानी ॥
जब मैं पास तुम्हारे आया ।
अपना सारा भरम गँवाया ॥

(१८)

सारे दुख, तकलीफ सारी ।
मिली मुझे तुमसे हर बारी ॥
पहले दुनिया में मैं ही था ।
कोई दुख उस वक्त नहीं था ॥

(१९)

खुली, साफ बेरोग हवा में।
जो गुन है, वह नही दवा में ॥
पहले तुम थे कहाँ? बताओ।
कौन काम था रुका? जताओ ॥

(२०)

किसको क्या तकलीफ रही थी?
किसको क्या उस वक्त कमी थी ॥
खुली हवा में रहते थे सब।
खाते, पीते, सोते थे सब ॥

(२१)

सब चगे थे, रोग नही था।
जूडी, प्लेग, बुखार नही था ॥
सादा खाना सब खाते थे।
पच जाता था, सुख पाते थे ॥

(२२)

दूध दही की कमी नही थी।
गाय-भैंस की क्या गिनती थी ॥
तुमने अब जो चाट लगाई।
उसने बीमारी फैलाई ॥

(२३)

तब बैदो की चाह नही थी।
रोग न थे, परवाह नही थी ॥
जड, फल, फूल, राह में चुनकर।
भर लेते थे पेट मुसाफिर ॥

(२४)

अब भी मेरा हाल वही है।
सीधी-सादी चाल वही है ॥
तुमसे क्या आराम किसी को?
दुख ही दुख है सबके जी को ॥

(२५)

जो सुख में सबको देता हूँ।
उसका बदला कब लेता हूँ?
मुझमें है आराम अनूठा।
मुझसे ख़फ़ा रहे वह झूठा॥

(२६)

सब सामान जो तू रखता है।
मेरा पैदा किया हुआ है॥
मेरी ही मिहनत का फल है।
जिससे तुझको इतना बल है॥

(२७)

छल फरेब सब करते हो तुम।
मार और को मरते हो तुम॥
काम अदालत से क्या हमको।
क्या वकील की परवा हमको?

(२८)

तुम झूठे इल्ज़ाम लगाकर।
ले आते हो फँसा-फँसाकर॥
ज़ेवर ज़री वग़ैरह चीज़ें।
तुम्हें मुबारिक रहें तमीज़ें॥

(२९)

गौर करो तो मुझको जानो।
दिल में सोचो तो पहचानो॥
अपने मुँह से सभी बड़े हैं।
तुमसे सिर लाखों पिटे हैं॥

अप्रैल १९२६

२३—शरीररक्षा

धर्म्मार्थकाममोक्षाणामारोग्य मूलमुत्तमम्।
—चरक

शरीरमाद्य खलु धर्म्मसाधनम्।
—कालिदास।

(१)

शरीर ही के हित काम सारे,
शरीर ही से सुख हैं हमारे।
आत्मा नहीं धार्य्य विना शरीर—
जैसे विना पिञ्जरबद्ध कीर॥

(२)

शरीर से पुण्य, परोपकार,
शरीर ही है गुण का अगार।
शरीर ही है सुर-लोक-द्वार,
शरीर ही से सुविचार-सार॥

(३)

शरीर ही से पुरुषार्थ चार
शरीर की है महिमा अपार।
शरीर-रक्षा पर ध्यान दीजै,
शरीर-सेवा सब छोड कीजै॥

मई १९०६

२४—गंगा-भीष्म

(१)

पाठक, सुनिए कथा पुरानी,
थे मुनिवर वसिष्ठ विज्ञानी।
पास अष्ट वसु उनके आये,
उनसे गये मुनीश सताये॥

(२)

क्रोध उन्हें इससे हो आया,
वसुओं को यह शाप सुनाया।
"जन्म जगत में लो तुम सारे,
वचन अन्यथा नहीं हमारे" ॥

(३)

यह सुनकर वे सब घबराये,
कम्पित हुए होश में आये।
भागीरथी समीप सिधाये,
वचन विशेष विनीत सुनाये ॥

(४)

"हे सुरसरि! विपत्ति के मारे,
आये हैं हम पास तुम्हारे।
जग में जननी बनो हमारी,
करो हमें निज कृपाधिकारी" ॥

(५)

सुरसरि ने इनको स्वीकारा,
वसु-गण अपनी पुरी पधारा।
हुई जह्नु-तनया तब नारी,
रूप-राशि अद्भुत विस्तारी ॥

(६)

देखा नृप शान्तनु ने उनको,
मदन-विमर्दित-तनु ने उनको।
तब वह उस नरेश की रानी,
हुई, [illegible] उनके [illegible] ॥

(७)

हुए सात उनके सुत सुन्दर,
वसुओं के अवतार मनोहर।
डाला उनको [illegible] में [illegible],
पहले किया हुआ प्रण पाल ॥

(४)

वीर्य्यादि दिव्य गुण का न जहाँ ठिकाना,
द्रोहादि दुर्गुण जहाँ सब ओर नाना।
धैर्य्यादि का अति अभाव सदा जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है?

(५)

सेवा श्ववृत्ति सब काल जहाँ हमारी,
फैली जहाँ पर विदेशज वस्तु सारी।
देशी कला सकल नष्ट हुई जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है?

(६)

पाता न शिक्षण जहाँ शिशु-वृन्द सारा,
बाला-समूह सब मूर्ख जहाँ हमारा।
नाना कला-कुशलता न कहीं जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है?

(७)

विद्वज्जन-प्रिय जहाँ परकीय भाषा,
होती तिरस्कृत जहाँ निज मातृ-भाषा।
ऐसी अनर्थंकर-रीति भला जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है?

(८)

सानन्द और सुख-युक्त जहाँ न नारी,
पाते जहाँ पुरुष भी नित कष्ट भारी।
तेजोविहीन शिशु-वृन्द अहो! जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है?

(९)

स्वीकार लोग करते न नई सु-रीति,
प्राचीन है—न तजते इससे कु-रीति।
दुर्दैव-योग यह फैल रहा जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है?

(१०)

स्वाधीन-काम श्रम-काम जहाँ न प्यारे,
दासत्व में जन जहाँ रमणाण सारे।
दासत्व-दुर्गुण निमग्न सभी जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है ?

(११)

अन्योन्य-वैर-रत वर्ण जहाँ समस्त,
ज्ञानी, अज्ञान सब हैं कलह-प्रसस्त।
साम्राज्य मोहमद-मत्सर का जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है ?

(१२)

उत्साह-हीन कृति-विन्मुख लोक-नेता,
औदास्य-भाव अति दुःसह दुःख देता।
है धर्म्म क्या ? न यह ज्ञान रहा जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है ?

(१३)

कर्तव्य लोग करते न जहाँ सदैव,
होता सहायक वहाँ न कदापि दैव।
पाता न मान यह तत्त्व भला जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है ?

(१४)

है भूतकाल नव स्वप्न-कथा-समान,
निद्रा-निमग्न निशि-वासर वर्तमान।
नैराश्यपूर्ण अगली गति भी जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है ?

(१५)

[illegible]
[illegible]
[illegible]
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है ?

[illegible]

२६——कवि और स्वतंत्रता

(भावार्थ)

(१)

कवि——हे स्वतन्त्रते ! जन्म तुम्हारा
कहाँ ? बता, यह प्रश्न हमारा।
स्वतन्त्रता——शूर देश-हित तजते जहाँ
प्राण, जन्म मेरा है वहाँ ।

(२)

कवि——बता, निवास कहाँ तेरा है ?
यह भी एक प्रश्न मेरा है।
स्वतन्त्रता——उष्ण रक्त जिन हृदयो भीतर
बहता, वही वास मम सुन्दर ।

(३)

कवि——कौन दुख तेरे हरता है ?
आशा पूर्ण कौन करता है ?
स्वतन्त्रता——काल, जगत का उन्नतिकर्ता
आशापूरक दुख का हर्ता

(४)

कवि——शक्तिमूल तव कहाँ बता दे ?
है जिस जगह मुझे दिखला दे ?
स्वतन्त्रता——प्रजा-पीड़ना होती जहाँ
शक्ति-मूल मम रहता वहाँ ।

(५)

कवि——कहाँ निडर हो रहती तू है——
जाना कही न चहती तू है ?
स्वतन्त्रता——जहाँ न भेद-विरोध-विकास
वही निडर मैं करती वास ।

(६)

कवि—कब तू जन्म सफल जानेगी ?
कब कृतार्थता तू मानेगी ?
स्वतन्त्रता—शान्तिराज्य जब पाऊँगी मैं ।
तब कृतार्थ हो जाऊँगी मैं ॥

जुलाई १९०६

२७—देशोपालम्भ

(१)

हे भाग्यहीन ! हत ! भारतवर्ष देश !
हे हे विनष्ट-धन-धान्य-समृद्धि-शेष !
प्राचीन-वैभव-विहीन ! मलीन-वेश !
हा हा ! कहाँ तव गई गरिमा विशेष ?

(२)

जो थे प्रगल्भ पहले तुम कीर्तिमान,
विज्ञान और बल-विक्रम के निधान।
सम्पत्ति, शक्ति निज खोकर आज सारी,
हा हा ! हुए तुम वही सहसा भिखारी॥

(३)

स्वाधीनता-सदृश वस्तु न और प्यारी,
हे दीन-देश ! वह भी न रही तुम्हारी !
व्यापार एक तुमको [illegible] आशा,
[illegible] ॥

(४)

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥

(५)

आत्माभिमान-गुण के अतिमात्र त्यागी,
हे देश! क्यो न तुम डूब मरे अभागी?
आत्मावलम्ब जिसको कुछ भी न प्यारा,
देता उसे न जगदीश्वर भी सहारा॥

(६)

दिव्यातिदिव्य तव रत्न, अहो, कहाँ है?
शोभा-समूह पट-पुञ्ज, कहो, कहाँ है?
खोया सभी कुछ, न, हाय, तुम्हें हया है!
हे देश! शेष तुममें रह क्या गया है?

(७)

नि सार होकर पडे तुम जी रहे हो,
पानी सदैव पर के कर पी रहे हो।
अन्यावलम्ब-सम और न पाप भारी,
बोलो, गई विमल बुद्धि कहाँ तुम्हारी?

(८)

हे आत्मशत्रु! परदेशज वस्तु त्यागो,
सौ कोस दूर उससे सब काल भागो।
जागो, चहो यदि अभी अपनी भलाई,
क्यो आँख मूँद करते निज नाश भाई?

(९)

क्यो है तुझे पट विदेशज, देश, भाये?
क्यो है तदर्थ फिरता मुँह नित्य बाये?
तूने किया न मन में कुछ भी विचार,
धिक्कार भारत! तुझे शत-कोटि वार!

(१०)

सूई, छडी तक, निकृष्ट दियासलाई,
लेता सदैव सुख से फिरता पराई।
निर्लज्ज! सोच मन में कर क्या रहा है?
क्यो व्यर्थ ही धन अपार लुटा रहा है?

(११)

लूटा तुझे बहुत और कुबेर-खज़ाना,
तातार-गोर-गज़नी नृप ने न माना।
पै लूट, आज-कल, जो वह हो रही है,
तू सोच देख उसने अटके रहा है॥

(१२)

छाई जहाँ अति अपार दरिद्रता है,
प्राचीन धान्य-धन का न कहीं पता है।
दुष्प्राप्य पेट भर नित्य जहाँ न खाना,
क्या चाहिए धन वहाँ पर यों लुटाना?

(१३)

जो जो पदार्थ तुमसे अपने बनाये,
है प्राप्य, लो तुम वही, न छुओ पराये।
लावो न वे वसन जो मन में हमारा,
तो सर्वनाश अब दूर नहीं तुम्हारा॥

(१४)

हे देश! सप्रेम विदेशज वस्तु छोड़ो,
सम्बन्ध सब उनसे तुम शीघ्र तोड़ो।
सोचो तुरन्त उनसे [illegible],
[illegible]॥

(१५)

हे दीन-देश! [illegible],
[illegible]।
[illegible],
आनन्द [illegible]॥

[illegible]

२८---कान्यकुब्ज-अबला-विलाप*

(१)

प्यारे पिता, पुत्र-वर, भाई—वन्धु आदि जो सारे हैं,
ससुर, जेठ, देवर, पति, पुरजन जो जग बीच हमारे हैं।
दयादृष्टि करिए थोड़ी-सी सुनिये हम क्या कहती हैं,
अवला होकर सवलो के घर किस प्रकार हम रहती हैं ॥

(२)

कितने ही तुम मजिस्ट्रेट जज न्यायासन के अधिकारी,
बडे शरम की बात दुख जो पावें तुमसे ही नारी ।
अब तक रही पेट में डाले दुख अपने भारी भारी,
पर अब नही सही जाती है विपति मर्म्म-कन्तनकारी ॥

(३)

अपनी दशा याद करते ही फटा कलेजा जाता है,
निकल पेट के भीतर से वह मुंह में आ आ जाता है ।
किया कौन अपराध हाय कुछ नही समझ में आता है,
निरपराध निर्बल नारी-गण वृथा सताया जाता है ॥

(४)

यदि न जगत में होवें हम तो नाश नरो का हो जावे,
रक्खी रहे बुद्धि, विद्या, वल, काम नही कुछ भी आवे ।
ध्रुव, प्रहलाद, व्यास, शङ्कर ने जन्म हमी से पाया है,
मनुज-रत्न जो हुए सभी को हमने गोद खिलाया है ॥

(५)

जिस घर में हम नही, शीघ्र ही वियावान हो जाता है,
कदम हमारे पडते ही वह नन्दनवन वन जाता है ।
दुख मे हम जी-जान होमकर साथ तुम्हारा देती हैं,
तुम्हे खिलाकर रूखा-सूखा जो वचता खा लेती हैं ॥

---

* यह कविता कन्नौज में कान्यकुब्ज-महासभा के अधिवेशन में पढ़ी गई थी ।

(६)

"जहाँ हमारा आदर होता वहीं देवता करते वास,
जहाँ निरादर होता वह घर हो जाता है सत्यानास।"
देखो खोल पोथियाँ अपनी यह मनु जी की बानी है,
तुममें से किससे किसने यह गई यथा-विधि मानी है ? ॥

(७)

सच पूछो तो हम, हे भाई, अपने घर की महरानी,
खुशियों में हम खुशी मनावें दुख में ज़रा न घबरानी।
पड़ने पर विपत्ति हमने ही निभना तुम्हें सिखाना है,
"भीरु" बनाया तिस पर हमको तुमने अजब तमाशा है ॥

(८)

इज्ज़त और आबरू सारी जिस पर तुम इतराते हो,
सोचो ज़रा, बन्धुवर प्यारे, उसे कहाँ से पाते हो ?
अगर नेकचलनी से हमसे ज़रा भूल हो जाती है,
चाहो यत्न करो तुम लाखों फिर न हाथ वह आती है ॥

(९)

पति को देव-तुल्य हम मान उन्हीं की भी दासी हैं,
सेवा सदा कर नहिं सोचें भूखी हैं या प्यासी हैं।
धर्म कर्म तुम जिसे पुकारो उसे हमीं से पाओगे,
सोचो-समझो अभी, नहीं तो फिर पीछे पछताओगे ॥

(१०)

यदि अभाग्यवश अपने पति का फिर [illegible] ,
परिणामों पर ध्यान न [illegible] ।
दुराचार में [illegible] ,
बस कुछ नहीं [illegible] ॥

(११)

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥

(१२)

हे भगवान! भला फिर क्यो तुम हमे हाय उपजाते हो?
क्या न हमारे लिए ठिकाना कही और तुम पाते हो?
नारी, नर, दोनो ही जग मे यदि प्रभु तुम्ही पठाते हो,
तो कहिए किसलिए दयामय! पक्षपात दिखलाते हो ॥

(१३)

जो बच गईं मौत के मुँह से जल्द बडी हो जाती हैं,
माता, पिता, बन्धुवर्गो के हुक्म सदैव बजाती हैं।
काम महा मैले घर के सब करने में न लजाती हैं,
जो कुछ मिल जाता खा-पीकर खुशी खुशी सो जाती हैं॥

(१४)

कूडा, करकट, बर्तन, चौका, गोबर सदा उठाती हैं,
शिक्षा और कला-कौशल में इतना ही सिख पाती हैं।
जो विद्या पुरुषो को सुखकर सुधा-सदृश मङ्गलकारी,
वही हमारे लिए विषम विष, विमल बुद्धि की बलिहारी॥

(१५)

ब्याह-योग्य होने पर दुःखित होती, लाजो मरती हैं,
काँटे-सी सबके आँखो में निशि-दिन खरका करती हैं।
कितनी ही आमरण कुवाँरी हममें से रह जाती हैं,
मन ही मन सन्ताप-ताप मे तन चुपचाप जलाती हैं॥

(१६)

यदि कुलीन निर्धन के घर में जन्म हमारा होता है,
तो अबला-समुदाय जन्म भर हाय सभी सुख खोता है॥
बीस वर्ष में यदि विवाह, गौना मुश्किल से होता है,
पति-घर की ताडना याद कर जार जार उर रोता है॥

(१७)

खाने को न पेट भर मिलना नथ, बिछिया बिक जाती हैं,
जरा जरा-सी भी बातो पर नित डडे हम खाती हैं।
जिन्दा ही जलती रहती हम, जब दुख अति अधिकाता है,
फिर पापी तन पिता-भवन में आकर आश्रय पाता है॥

(१८)

इस झूठी कुलीनता को है गिन कर लाख बार धिक्कार,
जिसके कारण हम अबला सब पातीं इतना दुख अपार।
किस मुंह से तुम न्यायी परमेश्वर के सम्मुख जाओगे ?
क्या कह उसके अटल न्याय से परित्राण तुम पाओगे ॥

(१९)

यदि अभाग्य से कहीं हमारे हुआ सुहागिलपन का नाश,
यहीं हमें जीते ही मिलता रौरव-नरक-कुण्ड का वास।
जिसने पुरुष-जाति को जग में न्यायाधीश बनाया है,
उसी निठुर ने सब सहने में वज्र हमें उपजाया है ॥

(२०)

महा मलिन से मलिन काम हम करती रहती हैं दिन-रात,
दुखी देख पति, पिता, पुत्र को व्याकुल हो [illegible] गात।
हे भगवान, हाय! तिस पर भी [illegible] हैं,
"ढोल-तुल्य ताड़न-अधिकारी" हमीं बताई जाती हैं! ॥

(२१)

कभी कभी [illegible] हैं,
जिनके कारण ही अति दुस्सह दुख [illegible] हैं।
प्यारे पिता, श्वसुर, तुम जब [illegible] न जाओगे ?
तब इस दुखी दीन अबला पर [illegible] दिखलाओगे ॥

(२२)

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥

(२३)

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥

(२४)

छोडो सब कुरीतियाँ कुल की, छोडो अब तो निठुराई,
बहुत हो चुका कनवजियापन सुनिए हे प्यारे भाई ।
जिसमे बनै बात वह करिए, रख लीजिए हमारी लाज,
दुख-सागर में डूब रहा है अबलाओ का जीर्ण जहाज़ ॥

सितम्बर १९०६

२६—टेसू की टाँग

बजै आज यारो का गाँग[1],
लाँग[2] नही, यह छोटा साँग[3] ।
तोडो इस टेसू की टाँग,
लडको, फिर तुम छानो भाँग ॥ १ ॥

इधर-उधर से पैसे माँग,
मकतब-मसजिद में बन स्वाँग ।
देता था यह पहले बाँग,
बात नही यह कुछ भी राँग[4] ॥ २ ॥

घर है इसका रेगिस्तान,
गुरू शेख जी, मुगल, पठान ।
खुदा लडकपन का भगवान,
आगे का अब सुनो बयान ॥ ३ ॥

अरबी का हो अफलातून,
दौड चला यह छूने मून[5] ।
इतने में हो गया जिनून,
यह कोरा रह गया बफून[6] ॥ ४ ॥

देखी कुँजडे की दूकान,
बैठ गया बस वही जवान ।
बरसो बेचे सब सामान,
डडी पकड हुआ सज्ञान ॥ ५ ॥

१—घटा । २—बडा । ३—गीता । ४—ग़लत । ५—चन्द्रमा । ६—भाड ।

इन्द्र-अखाड़े की एक हूर,
देख वहाँ पर इसका नूर।
उड़ा ले गई कोसों दूर,
जाकर की खातिर भरपूर ॥ ६ ॥

पेशवाज उसने पहनाई,
चमकदार चोली कसवाई।
घुँघुरू बाँध, दुपट्टा ताना,
टेसू जी को किया जनाना ॥ ७ ॥

लगे थिरकने टेसू राजा,
बजा खूब अलबेला बाजा।
तातायेई की धुन लगी,
हया छोड़, भक्खर को भगी ॥ ८ ॥

देख ठाठ यह माशूक़ाना,
हुआ खल्क सारा दीवाना।
"करता क्या बेचारा क़ाज़ी,
मर्द और जोरू जब राज़ी" ॥ ९ ॥

मुँह पर बाल हुए जब काले,
तब टेसू जी गये निकाले।
गिरे धड़ाम, उड़ गये धुर्रे,
बोलो लड़को, "हिप हिप हुर्रे" ॥ १० ॥

रही न उड़ने की भी ताब
एक टाँग के हुए जनाब।
क़लम अपने उसने बाँधी,
चलने लगी मिस्ले वह आँधी ॥ ११ ॥

कुन्द, मुकुन्द और मुचकुन्द,
नष्ट-भ्रष्ट तुम चौपटचन्द।
चौपटचन्दी हाल सुनाऊँ,
टेसू का सब मज़ा चखाऊँ ॥ १२ ॥

पूरब-पश्चिम दौड लगाई,
नही पेट भर रोटी पाई ।
तब सूरत ले सत्यानाशी,
बने आप गगातटवासी ॥ १३ ॥

अरबी-तुर्की वहाँ भुलाई,
"कक्का का" की तान उडाई ।
सनद सफाचट ज्यो ही पाई,
कलम रेल-सी झट दौडाई ॥ १४ ॥

रहे खोलने में अलमारी,
घुसी उसी में विद्या सारी ।
चौपट हुई अक्ल महरानी,
मरी उसी दम उसकी नानी ॥ १५ ॥

नानी मरी कनागत आये,
टेसू जी तब वाहर धाये ।
देखी धोबिन एक सयानी,
ले उसकी कुण्डी का पानी ॥ १६ ॥

सात पुश्त के पुरखे तारे,
खुद भी उसमें गोते मारे ।
सारी पूजा-पाठ सँभाली,
स्वर्ग-लोक को सडक निकाली ॥ १७ ॥

काली ने एक शहर बसाया,
टेसू दौड वही पर आया ।
टाँग वही उसने फैलाई,
पकड उसे दिन-रात हिलाई ॥ १८ ॥

नौ मन खटमल जिस पर छाये,
टूटी व्यच, तख्त, मँगवाये ।
उन पर अपनी टाँग पसारी,
खटमल चाट गये दुम सारी ॥१९ ॥

कदम चूम रज सिर पर रक्खी,
कूद पडी इतने में मक्खी।
मक्खी ने उड़ आग लगाई,
दुमची जलने लगी पराई॥२७॥

अगर न सीताराम बचाते,
तो चकार जी जल-भुन जाते।
यार न समझो इसे चकार,
यह पूरा पिशाच-अवतार॥२८॥

ऐसा निपट नीच नर-पिल्ला,
गुरुओं का भी करता गिल्ला।
इससे ही टेसू को भाया,
"जैसा पति वैसी ही जाया"॥२९॥

तख्त और एक सज कर आया,
उसे देख टेसू घबराया।
उठने लगे पेट में मुर्रे,
बोलो लड़को "हिप हिप हुर्रे"॥३०॥

मुँह उसने तब अपना खोला,
मानो मिल* का बबा बोला।
बक बक उसने खूब लगाई,
हया-शर्म सब धोय बहाई॥३१॥

ए० बी० सी० डी० ई० एफ० सीख,
अँगरेजी में मारी चीख।
देख ससकीरत का रवाब,
उसमें भी कुछ दिया जवाब॥३२॥

और तख्तवाले चुपचाप,
सुनते रहे अनाप-शनाप।
टेसू की गुस्ताखी देख,
मजलिस बिगड उठी सविशेष॥३३॥

सिर बरसे लठ भारी भारी,
निकल गई गुस्ताखी सारी।
टाँग टूट कर नीचे आई,
टेसू ने उठ बाँग लगाई ॥३४॥

मैंने कुछ भी नही बिगाडा,
बस अब मुझे मिल गया भाडा।
मेरे सिर आया था भूत,
भूत नही, था यम का दूत ॥३५॥

अब वह उतर गया है भाई,
छोडो मुझको राम दुहाई।
मैं बेचारा बडा ग़रीब,
और करो मत मेरी पीब ॥३६॥

सिर का हुआ कचूमर खासा,
देखा सबने खूब तमाशा।
टेसू जी तब घर को भगे,
दौडे लडके पीछे लगे ॥३७॥

दुम में दे दी दियासलाई,
फिर टेसू की शामत आई।
जले-भुने घर भीतर पैठे,
उसी तख्त टूटे पर बैठे ॥३८॥

पडे वही पर काँखा करते,
कुफल किये का चाखा करते।
फिर आयेंगे अगले साल,
जमने दीजे तब तक खाल ॥३९॥

बहुत दिनो तक टेसू रोये,
पूरे दो सौ साथी खोये।
पास लोग यदि अब हैं जाते,
काट उन्हे टेसू जी खाते ॥४०॥

लडको आई दिव्य दिवाली,
जै काली कलकत्तेवाली ।
उडे खूब खुशियो के तुर्रे,
बोलो सब मिल "हिप हिप हुर्रे" ।।४१।।

अक्टूबर, १९०६

३०—ठहरौनी

(१)

विबुध, वन्धु-वर, कान्यकुब्ज-कुल लब्ध-जन्म, तेजोराशी,
इस कन्नौज-नगर के द्विजवर वा सराय-मीरा-वासी ।
अथवा दूर दूर से विद्वज्जन जो यहाँ पधारे हैं,
भाल चारु चन्दन से चर्चित उर में माला धारे है ।।

(२)

रग-बिरगी पगडी जिनकी शिखा-स्पर्श सुख पाती है,
जिनको देख पूर्व-पुरुषो की छवि सम्मुख आ जाती है।
भरद्वाज, काश्यप, कात्यायन, शुचि शाण्डिल्य गोत्रधारी,
मुनि उपमन्यु आदि के वशज गुण-गौरव के अधिकारी ।।

(३)

वही आज सब यहाँ विराजे पाँडे, मिश्र, शुक्ल द्विजराज,
पूरे बीस बीस विश्वे के विमल वाजपेयी महराज।
जिनके दर्शन ही मे मन का अजब हाल हो जाता है,
पूर्व-स्मृति-पयोद-पटलो मे वह सहसा घिर जाता है ।।

(४)

श्री-श्रीहर्ष मिश्र कविवर ने यही सुयश विस्तारा था,
बुध-वर-वृन्द यही पर उनमे तर्क-वाद में हारा था ।
मख महान् कर यही उन्होने ऊँची पदवी पाई थी,
यही उन्होने अपने कुल की महिमा खूब बढाई थी ।।

(५)

वह प्रान्त जहाँ रहने से कान्यकुब्ज कहलाये हम,
वह भूमि नाम जिसका ले जाय विदेश बिकाये हम।
वह नगर जहाँ बसने को बन्धु-बान्धव लाये हम,
दूर नगरों के वासी वही आज सब आये हम॥

(६)

है यह वही, परन्तु नही है इसका पहला वैभव वह,
क्या से क्या हो गया बन्धुवर! आदि-स्थान हमारा यह।
नही एक भी वैसे पण्डित सम्प्रति यहाँ दिखाते हैं,
पहले के आचार-विचारो में भी अन्तर पाते हैं॥

(७)

पूर्वकाल के विद्वानो की बात याद जब आती है,
मुँह पर समझदार सुजनो के श्यामलता छा जाती है।
जो कुछ किया उन्होंने उसको विस्मृति होती जाती है,
कुछ का कुछ कर ज्ञाति हमारी मन में नही लजाती है॥

(८)

मुझ अल्पज्ञ दुबे में इतनी बुद्धि नही, न पण्डिताई,
जो कुछ करूँ निवेदन तुमसे, सच कहता हूँ हे भाई!
तदपि आप ही की आज्ञा से, विनय विनीत सुनाऊँगा,
सुन लोगे तो उतने ही से मैं कृतार्थ हो जाऊँगा॥

(९)

लड़के के विवाह में कहिए मोल-तोल क्यो करते हो?
इस काले कलङ्क को हा हा! क्यो अपने सिर धरते हो?
जिनके नही शक्ति देने की क्यो उनका धन हरते हो?
चढ़कर उच्च सुयश-सीढी पर क्यो इस भाँति उतरते हो?॥

(१०)

हे प्रिय बन्धु! पूर्व-पुरुषो का धर्म्म, नीति, आचार, विचार,
विनय, विवेक, विशद-विद्या-बल, निर्म्मल यशोराशि-विस्तार।
उनका नाम, काम सब उनके, उनकी महिमा, उनका मान,
जरा सोच देखो तो मन मे, थे कितने वे बुद्धि-निधान॥

(११)

फिर हे कान्यकुब्ज-कुल-नन्दन! खजुहा और मुरादाबाद,
ऊगू, असनी और गेंगासो आदिक की कर लीजे याद।
ठहरौनी के कारण उन पर वह वह आफत आती है,
सब गहनो की नाक, नाक की नथुनी तक बिक जाती है॥

(१२)

कहाँ पूर्वजो की वह करनी? कहाँ हमारा ऐसा काम?
निपट, निंद्य, निर्दय, अति निष्ठुर, न्यायहीन, दोषो का धाम।
कन्याकुल को भाँति भाँति से पीडित हम नित करते हैं,
मुनियो के वशज होने का तिस पर भी दम भरते हैं॥

(१३)

सुत है नही वस्तु विक्रय की, वह सर्वस्व हमारा है,
वह आत्मा का आत्मरूप है, वह आँखो का तारा है।
भूल हुई सो हुई बन्धु-वर! अब अवश्य सँभालो तुम,
इस कलङ्क को अपने उज्ज्वल कुल से झट धो डालो तुम॥

(१४)

मुनि उपमन्यु और कात्यायन, कश्यप देवलोकवासी,
देख देख अतिशय दु खित हो यह कुरीति सत्यानाशी।
क्या कहते होगे मन ही मन उन्हे न और सतावो तुम,
उनके विमल नाम पर धब्बा व्यर्थ न और लगावो तुम॥

(१५)

किस स्मृति में, किस गृह्यसूत्र में, किस पुराण में, बतलावो,
है विधान इस मोल-तोल का, खोल क्यो न तुम दिखलावो?
जो इसका कुछ पता नही तो क्यो यह रीति चलाते हो?
क्यो न इसे हे प्यारे भाई! छोड अलग हो जाते हो?

(१६)

महामूढ अविवेकी जन ही रूढ रीतियो के बन दास,
अपना और वश अपने का आँख मूंद कर करते नाश।
जो सुधार का ध्यान तुम्हारे मन में स्थान न पावेगा,
उनमें और आपमें, कहिये, भेद कौन रह जावेगा?

(१७)

जान बूझ कर भी जो अपनी हानि से न घबराते हैं,
निंद्य, नीच, अनुदार, पुरानी लीक पीटते जाते हैं।
वे अवश्य इस भूल भयङ्कर पर सिर धुन पछताते हैं,
शायर, सिंह, सपूत कभी क्या लीक लीक भी जाते हैं?

(१८)

यह कुरीति कुल-कन्याओं का कोमल हृदय जलाती है,
मनस्ताप से उनके तन को तप्ताङ्गार बनाती है।
बीस वर्ष की होने पर भी अविवाहित रह जाती हैं,
मुँह से यदपि न कुछ कहती हैं, अति दुःसह दुख पाती हैं।

(१९)

वे व्याही चाहे रह जावें, चाहे करें वंश बदनाम,
मर जावें, परवाह नहीं है, हमें सिर्फ रुपये से काम।
पाँच का न व्यवहार हमारा, लेंगे हम तो एक हज़ार,
चारु चमकवाले चाँदी के वही अखण्ड-मण्डलाकार?

(२०)

हे भगवान्! कहाँ सोये हो? विनती इतनी सुन लीजे,
कामिनियों पर करुणा करके कमले! ज़रा जगा दीजे।
कनवजियों में घोर अविद्या जो कुछ दिन से छाई है,
दूर कीजिए उसे दयामय! सौ सौ दफे दुहाई है॥

(२१)

यह भी नहीं सोचते हम, क्या दुनिया हमको कहती है?
कान्यकुब्ज की भूमि अभागी! तू भी सब कुछ सहती है
क्यों न छोड़ते हो कुरीति यह अतिशय निंद्य दुःखदाई?
क्या जवाब रखते हो इसका? बतलावो तो हे भाई!॥

(२२)

पुत्रवान् लोगों के घर क्या कन्या कभी न आयेगी?
क्या उनको इस ठहरौनी की व्यथा न कभी सतायेगी?
वर-विक्रय-बाज़ार बीच क्या कभी नहीं वे जावेंगे?
द्वार और के जाकर क्या वे ज़िल्लत नहीं उठावेंगे?

(२३)

अपने निर्धन बन्धु-वरो की जो तुमको परवाह नही,
हाय हाय ! तो कन्याओ के दुख पर भी क्या आह नही ?
उनकी गुप्त अश्रुधारा जो कही निकल वाहर आवे,
तो यह चन्दन-खौर हमारा सारा उससे धुल जावे ! ॥

(२४)

दत्त, प्रसाद और नारायण आदिक हैं कितने ही वीर,
जिनके कुलिश-कठोर हृदय में कन्याओ की ज़रा न पीर।
कान्यकुब्ज-कुल के नायक वन करते हैं अतिगर्हित काम,
लडको को पढाय अँगरेज़ी फिर उनको करते नीलाम॥

(२५)

बीघे-विश्वे से मर्यादा अब तक नापी जाती थी,
कन्याकुल की फूँक सम्पदा सुख से तापी जाती थी।
एम० ए०, वी० ए० की सनदो से अब हैं होने लगे करार,
ऐसे सुजन शिरोमणियो को गिन कर बीस बार धिक्कार ! ॥

(२६)

ज़रा देर के लिए समझिए आप षोडशी क्वारी हैं,
(क्षमा कीजिए असभ्यता को हम ग्रामीण अनारी हैं)।
मान लीजिए नयन आपके कानो तक बढ आये हैं,
पीन पयोधर देख आपके, कुञ्जर-कुम्भ लजाये हैं ॥

(२७)

ज्यो ज्यो कटि घटती जाती है, चिन्ता बढती जाती है,
मदनदाह से देह दिनो दिन दुवली होती जाती है।
रात रात भर नीद आपको नही ज़रा भी आती है,
हाय हाय कर ठडी साँसे लेते वह कट जाती है ॥

(२८)

देख देख यह दशा आपकी माता व्याकुल होती है,
सिर हाथो पर रख सारा दिन फूट फूट कर रोती है।
घर में "भूँजी भाँग" नही है, पिता करे क्या वेचारा,
विना दहेज मिले वर कैसे ? दौड दौडकर वह हारा॥

(२९)

वह कहिए इस समय आप पर कैसी वीतेगी भाई !
ठहरौनी की निंद्य रीति यह होगी कितनी दुखदाई !
इससे इसे छोड अव दीजे मान लीजिए मेरी वात,
अपने ही कुल की कन्याओ को कलपावो मत दिन-रात ॥

(३०)

किसी किसी ने इस कुरीति को पहले ही से छोडा है,
त्याज्य समझ इस पिशाचिनी को इससे निज मुंह मोडा है ।
जिनमें प्रचलित है उनको भी इसे छोडना ही चहिए,
भूल जाइए मत घर जाकर, भाई 'एवमस्तु' कहिए ॥

(३१)

जो अपने को उच्च मानते हैं, उनके न द्वार जावो,
ठहरौनी करके कौडी भी कभी न उनको दिखलावो।
जो अपने को सम समझें हैं, जिनको नही उच्चता-गर्व,
सालकृत कन्या उनको ही दे, सम्वन्ध कीजिए सर्व ॥

(३२)

यही शास्त्र की रीति, यही थी प्रचलित पहले हे भाई !
अवलम्वन कीजिए इसी का, यही महा मङ्गलदायी।
औरो के करने पर हम भी होगे उसके अनुयायी—
यह विचार कर देर न करिए, वहुत हो चुकी निठुराई॥

(३३)

शुभ कामो में देर लगाना नही वुद्धिमानी का काम,
वडे वडे ज्ञानी-विज्ञानी कहते है यह वात तमाम ।
अनुचित निकल गया हो यदि कुछ, हे भाई ! हे गुण-गण-धाम !
क्षमा कीजिए उसे वन्धुवर ! जाता हूँ, वस तुम्हे प्रणाम ॥

नवम्वर, १९०६

---

* यह कविता कन्नौज में कान्यकुब्ज-महासभा के अधिवेशन में पढ़ी गई थी ।

२१——प्रियंवदा

(१)

यह है प्रियवदा पति-प्यारी,
कुलकामिनी पारसी नारी।
इसकी रुचिर रेशमी सारी,
तन की द्युति दूनी विस्तारी॥

(२)

नित सरितापति-तट को जाती,
नित आमोद-प्रमोद मचाती।
नित यह गीत मनोहर गाती,
कल-कण्ठो को खूब लजाती॥

(३)

मधुर "पियानो" नित्य बजाती,
जौहर नये नये दिखलाती।
"गौहर" का गरूर गिर जावे,
यदि इसका गाना सुन जावे॥

(४)

परदे का कुछ काम नही है,
कही सकुच का नाम नही है
चम्पकवर्णी श्याम नही हे,
इसमें जरा कलाम नही है॥

(५)

सीखा चित्र बनाना इसने,
करके कौशल नाना इसने।
पढना और पढाना इसने,
पति का चित्त चुराना इसने॥

(६)

पुरुषो मे भी जाना इसने,
मन्द-मन्द मुसकाना इसने।
सुधा-सलिल वरसाना इसने,
जरा नही शरमाना इसने॥

(७)

इसके कुण्डल श्रुति-सुखकारी,
देख अनस्थिरता-रत भारी।
चित्त हुआ उनका अनुयायी,
चचलता की पदवी पाई॥

(८)

कच-कलाप दिखराये कैसे?
सम्मुख सुघर बनाये कैसे।
दर्शक-दृग यदि उन पर जाते,
फिर वे नही लौटने पाते॥

(९)

सरस्वती से जो वर पावे,
इस पर कविता वही बनावे।
इससे श्रम क्यो वृथा उठावें?
क्यो न यही अव हम रुक जावें॥

(१०)

अग अग सुन्दरताशाली,
सूरत क्या ही भोली-भाली।
नही और इसकी हमजोली,
रूप-राशि की हद वम हो ली॥

(११)

जिसने इसका चित्र वनाया,
मनोमुग्धकर भाव दिखाया।
नृप रविवर्म्मा सवसे प्यारे,
हाय! हाय! सो स्वर्ग सिधारे॥

दिसम्वर, १९

३२—इन्दिरा

(१)

क्यो, क्या यही इन्दिरा बाई?
    क्या इन्दिरा महीतल आई?
नही, नही, यह मानव-जाई,
    सुन्दरता अति अद्भुत पाई॥

(२)

पुण्य-नगर पूना की नारी,
    पहने श्याम रग की सारी।
यही इसे अतिशय है प्यारी,
    सचमुच यह लोचन-सुखकारी।

(३)

शीश खुला रखती यह बाला,
    गले 'गलश्री' नामक माला।
नथ-मुक्ता-सौन्दर्य निराला,
    घर इसका इससे उजियाला॥

(४)

कुकुम् का यह तिलक लगाती,
    कर्णफूल से कर्ण सजाती।
हाथो को पटली पहनाती,
    अन्य आभरण दूर हटाती॥

(५)

जब यह देवालय को जाती,
    भाव-भक्ति अतिशय दिखलाती।
हाथ जोडती, शीश झुकाती,
    मन ही मन पति-कुशल मनाती॥

(६)

शिक्षा भी है इसने पाई,
कर-कौशल, कुशला यह 'वाई'।
पत्र केसरी और सुधारक,
इसकी चित्त-वृत्ति के हारक॥

(७)

नाटक नये देखने जाती,
पति को सदा साथ ले जाती।
मुख-मयक को नही छिपाती,
बहुत रात बीते घर आती॥

(८)

शाल ओढ वाहर जाती है,
मन सकोच नही लाती है।
सखियो को जब यह पाती है,
बातो से मधु टपकाती है॥

(९)

सभ्य सभाओ में भी जाती,
व्याख्यान सुनती, सुख पाती।
मनोमोद, घर लौट, बढाती,
बातें कर पति-चित्त चुराती॥

(१०)

यह है दाक्षिणात्य वर नारी,
अपने शिक्षित पति की प्यारी॥
इसकी मूर्ति विलोचनहारी,
रविवर्म्मा ने विशद उतारी॥

अप्रैल, १९०७

(१२)

बतलाओ अव तुम्ही, सुअवसर और कौन-सा पावोगे ?
सम्मेलन की छुट्टी क्या तुम वडे लाट से लाओगे ?
धर्म करो, त्यौहार मनाओ, मुझको कुछ भी नही विषाद,
पर इतना तो वतला दो तुम, पाउँगी कव तुमसे दाद ॥

(१३)

यदि घर में सुत-सुता किसी के, आने पर कोई त्यौहार,
महा-भयकर-व्यथा-व्यथित हो लगे मचाने हाहाकार ।
तो क्या घर ही बैठ रहोगे करते निज वार्षिक व्यापार,
या नगे पाँवो दौडोगे किसी वैद्य-विद्यानिधि-द्वार ॥

(१४)

कितना कष्ट तुम्हे मिलता है उँगली जो कट जाती है,
मेरा तो सब अग गलित है, पीडा प्रवल सताती है ।
ऐसे में भी जो इलाज का अवसर ढूँढोगे प्यारे ,
तो मै यही कहूँगी, मेरे सुत न शत्रु हो तुम सारे ॥

(१५)

वाणी की पूजा करते हो, क्या मैं उसका अश नही ?
मृतवत् मुझे पडी रखने मे क्या स्वधर्म-विध्वश नही ।
फिर क्यो तुम सम्मिलन-कार्य मे पखे अनेक लगाते हो ?
अत्याचार घोर मुझ पर कर बातें व्यर्थ वनाते हो ॥

(१६)

आर्त्त जनो के परित्राण से धर्म किस तरह जाता है ?
क्या कर्तव्य-विमुख होना ही परम धर्म कहलाता है ?
भरत-भूमि के धर्मज्ञो का यदि ऐसा ही धर्म-ज्ञान,
व्याकुल व्यथित जनो की तो फिर क्या गति होगी हे भगवान !

(१७)

यदि तुम कहो शीघ्रता क्या है ? क्यो इतना घवडाती हो ?
क्यो कायरता-पूर्ण कण्ठ से इतना शोर मचाती हो ?
तो मैं अपनी करुण-कथा का तुम्हे सुना देती हूँ सार,
सम्भव है उससे हो आवे तुममें दया-दृष्टि-सचार ॥

(६)

शिक्षा भी है इसने पाई,
कर-कौशल, कुशला यह 'बाई'।
पत्र केसरी और सुधारक,
इसकी चित्त-वृत्ति के हारक॥

(७)

नाटक नये देखने जाती,
पति को सदा साथ ले जाती।
मुख-मयक को नही छिपाती,
बहुत रात बीते घर आती॥

(८)

शाल ओढ बाहर जाती है,
मन सकोच नही लाती है।
सखियो को जब यह पाती है,
बातो से मधु टपकाती है॥

(९)

सभ्य सभाओ में भी जाती,
व्याख्यान सुनती, सुख पाती।
मनोमोद, घर लौट, बढाती,
बातें कर पति-चित्त चुराती॥

(१०)

यह है दाक्षिणात्य वर नारी,
अपने शिक्षित पति की प्यारी॥
इसकी मूर्ति विलोचनहारी,
रविवर्म्मा ने विशद उतारी॥

अप्रैल, १९०७

३३—सन्देश

(हिंदी साहित्य-सम्मेलन के दूसरे अधिवेशन में पढी गई)

(१)

सुनिए सब सज्जन, विद्वज्जन, प्रिय हिन्दी-भाषा-भाषी,
पूज्य, पवित्र, मातृभाषा की उन्नति के अति अभिलाषी।
प्रबल प्रेरणा से हिन्दी की यहाँ आज मैं आया हूँ,
उसका ही सदेश आपको स्वल्प सुनाने लाया हूँ॥

(२)

हिन्दी ने सेवक-समूह में महा तुच्छ मुझको जाना,
इससे यह सदेश भेजने योग्य मुझी को अनुमाना।
आप बडे हैं, बडे काम सब कर, साधे उसका परमार्थ,
मैं सदेश-वहन करके ही हो जाऊँगा आज कृतार्थ॥

(३)

छोटे हो या बडे, काम जो करके कुछ दिखलाते हैं,
वही लोग अपने स्वामी के सत्सेवक कहलाते हैं।
यही सोच, सकोच छोड सब, माना मैंने यह आदेश,
अब मेरी खिचडी भाषा में सुनिए हिन्दी का सदेश॥

(४)

अर्थ यथार्थ मातृभाषा का यदि तुम सबने जाना है,
मेरे अन्तरगत भावो को यदि तुमने पहिचाना है।
तो तुम नि सन्देह करोगे मुझसे सुत-समान व्यवहार,
मेरी सकल आपदाओ का होगा भी अवश्य सहार॥

(५)

इस जड-जगम जग में सबके दिन न एक-से जाते हैं,
दु ख भोगने पर निश्चय ही सुख के भी दिन आते हैं।
माता के सुख-दु ख किन्तु सब होते सन्तति के स्वाधीन,
चाहे भिखारिनी वह कर दे, चाहे उच्चासन-आसीन॥

(६)

या तो मुझे मातृभाषा तुम कहना दो इस दिन से छोड़,
मेरा शब्द न मुँह पर लाओ अँगरेजी सीखो सर तोड़।
या मेरी दुर्दशा देखकर कुछ तो मन में शरमाओ,
जो कहती हूँ उसे करो तुम, अब तो मुझको अपनाओ॥

(७)

वैमनस्य आपस का इर्ष्या, मत्सर, और दुराग्रह, द्वेष—
परित्याग पहले इनका कर कर लो मन निर्मल नि शेष।
ऐसा करने से सम्मेलन दूनी शोभा पायेगा,
मेरे बहुत विशेष कार्य भी यह करके दिखलायेगा॥

(८)

करो वही प्रस्ताव "पास" तुम जिससे हो कुछ मेरा काम,
रहने दो तुम, बहुत हो चुका, अपना वादविवाद तमाम।
मेरे इस जर्जर शरीर की बार बार कर लेना याद,
लक्ष्य उसी पर रखना, अपना करना नही वक्त बरबाद॥

(९)

एक लिखी हैं, या एकादश पुस्तक—यह सब व्यर्थ विचार,
बूढा है, या प्रौढ़, या युवा—यह भी नि सशय नि सार।
जो मेरा उपकार करे कुछ वही सपूत सभापति-योग्य,
यही देख, हर साल, सम्मिलन-समय समझना योग्य-अयोग्य॥

(१०)

कोई क्यो न सभापति हो, क्या वह न तुम्हारा भाई है ?
पिशाचिनी ईर्ष्या इन बातो में भी हाय समाई है।
दूर करो अपने मन से तुम ऐसे अति अनुदार विचार,
दया करो, होने भी दोगे मुझ अभागिनी का उद्धार॥

(११)

आज ईद कल, बक्र ईद है परसो घट-स्थापना-योग,
होली और दिवाली को भी लगा तुम्हारे पीछे रोग।
जितनी हैं छुट्टियाँ सभी तुम त्यौहारो पर ही पाते,
खेल-कूद, पूजा-अर्चा की उनमें तुम सब ठहराते॥

(१२)

वतलाओ अव तुम्ही, सुअवसर और कौन-सा पावोगे ?
सम्मेलन की छुट्टी क्या तुम वडे लाट से लाओगे ?
धर्म करो, त्यौहार मनाओ, मुझको कुछ भी नही विषाद,
पर इतना तो वतला दो तुम, पाउँगी कव तुमसे दाद ॥

(१३)

यदि घर में सुत-सुता किसी के, आने पर कोई त्यौहार,
महा-भयकर-व्यथा-व्यथित हो लगे मचाने हाहाकार ।
तो क्या घर ही वैठ रहोगे करते निज वार्षिक व्यापार,
या नगे पांवो दौडोगे किसी वैद्य-विद्यानिधि-द्वार ॥

(१४)

कितना कष्ट तुम्हे मिलता है उँगली जो कट जाती है,
मेरा तो सव अग गलित है, पीडा प्रवल सताती है ।
ऐसे में भी जो इलाज का अवसर ढूँढोगे प्यारे ,
तो मै यही कहूँगी, मेरे सुत न शत्रु हो तुम सारे ॥

(१५)

वाणी की पूजा करते हो, क्या मै उसका अग नही ?
मृतवत् मुझे पडी रखने में क्या स्वधर्म-विध्वश नही ।
फिर क्यो तुम सम्मिलन-कार्य में पखें अनेक लगाते हो ?
अत्याचार घोर मुझ पर कर वातें व्यर्थ वनाते हो ॥

(१६)

आर्त्त जनो के परित्राण से धर्म किस तरह जाता है ?
क्या कर्तव्य-विमुख होना ही परम धर्म कहलाता है ?
भरत-भूमि के धर्मज्ञो का यदि ऐसा ही धर्म-ज्ञान,
व्याकुल व्यथित जनो की तो फिर क्या गति होगी हे भगवान !

(१७)

यदि तुम कहो शीघ्रता क्या है ? क्यो इतना घवडाती हो ?
क्यो कायरता-पूर्ण कण्ठ से इतना शोर मचाती हो ?
तो मै अपनी करुण-कथा का तुम्हे सुना देती हूँ सार,
सम्भव है उसने हो आवै तुममे दया-दृष्टि-सचार ॥

(१८)

जब देखती और वहनो को किये हुए सुन्दर शृंगार,
वहु-वैभव-मद से मतवाली, मृदु मुसकाती, सालकार ।
तब जो गति मेरी होती है, कुछ मत पूछो उसका हाल,
फटती यदि पृथ्वी प्रयाग की मैं जाती तुरन्त पाताल ॥

(१९)

कई करोड वोलनेवाले हैं मेरे भारतवासी,
हतभागिनी हाय तिस पर भी मरती मैं भूखी-प्यासी !
जो सुदृष्टि इन नर-रत्नो की मेरी ओर न जाती है,
विश्वम्भर ! तो क्या तुमको भी मुझ पर दया न आती है ?

(२०)

दु ख-दारिद्र भोग करने से अच्छा ही मर जाना है—
कवि के इस कठोर कहने को मैंने तो सच माना है ।
जीती हूँ, परन्तु, आशा-वश, वडे कष्ट से किसी प्रकार,
नही तरस तुझको आता है क्या कुछ भी हे प्राणाधार !

(२१)

यद्यपि तुम विरक्त हो मुझसे, नही फटकने देते पास,
मैं तुमसे अनुरक्त पूर्ण विन, मुझे तुम्हारी ही है आस ।
ऐसी नि सहाय अवला को यदि तुम और सताओगे,
न्यायी नारायण को अपना मुह कैसे दिखलाओगे ॥

(२२)

जो मेरे प्रेमी, जो मेरी कभी कभी कर लेते याद,
मत हो अव अप्रसन्न वे मन में उनसे मेरा नही विवाद ।
अपनी छोड पराई भाषा में आता है जिनको स्वाद,
उन्ही कुलिश-कर्कश हृदयो के सत्पुरुषो से है फरयाद ॥

(२३)

या उनसे जो मेरे दुख को कर सकते हैं कुछ कुछ दूर,
पर जो कर तक नहीं हिलाते रहते हैं आलस मे चूर ।
अथवा उनका दोष नही कुछ यह मेरा ही पापाचार,
ऐसे भी जिसके सपूत हो उस माता को ही धिक्कार ॥

(२४)

तुममें किसी किसी पर व्यापी जिस भाषा की माया है,
सच कहना किस किसने उससे कितना लाभ उठाया है।
उस दिन अभी मधुरमोदक कुछ पूने से जो आये थे,
कैसे थे वे! मीठे थे क्या! किस किसने ले खाये थे!

(२५)

घोर घृणा तुमसे जो करती, पास उसी के जाते हो!
मृत सुनकर भी नाम न लेती, उसको सदा सजाते हो।
आते नही होश में यद्यपि होता है इतना अपमान,
अध पात का इससे बढकर हो सकता क्या और प्रमाण॥

(२६)

हिन्दू होकर भी हिन्दी में यदि कुछ भी न भक्ति का लेश,
दूर देश की भाषाओ से यदि इतना है प्रेम विशेष।
इँगलिस्तान अरब, फारिस, को तो अब तुम कर दो प्रस्थान,
यहाँ तुम्हारा काम नही कुछ, छोडो मेरा हिन्दुस्तान॥

(२७)

दिव्य देववाणी की दुहिता मैं हूँ वह हिन्दी प्राचीन,
तुलसी, सूर, बिहारी आदिक रहे भक्ति में जिसकी लीन।
परित्याग उसका ही करके बनते हो विद्याधारी,
ऐसी अद्भुत गुणज्ञता की बलिहारी है बलिहारी!

(२८)

कहते हो मुझमें है ही क्या! मुझसे कुछ न निकलता काम!
मेरे घावो पर नश्तर-सा चलता है सुनकर इल्जाम।
इसका दोष तुम्हारे ही सिर, फिर यह कैसी उलटी बात,
जिसे जानती दुनिया सारी वह भी क्या तुमसे अज्ञात?

(२९)

जननी और जन्म की भाषा, जन्मभूमि सब सुख की खानि,
चाहे जहाँ पूछ तुम देखो, तीनो का सम्मान समान।
पर तुमने मेरी उन्नति का किया न कोई कभी उपाय,
तिस पर भी ताने देते हो! क्यो करते इतना अन्याय॥

(३०)

अन्यायी से परमेश्वर भी कभी नही खुश होता है ,
जो कर्त्तव्य नही करता है वह अवश्य कुछ खोता है ।
क्षमा करें वह क्षमा क्षीरनिधि-ईश तुम्हारा यह अपराध,
जीते रहो कभी तो मेरा दूर करोगे दुःख अगाध ।।

(३१)

संस्कृत, अरबी, और फारसी, उर्दू, अँगरेज़ी सारी—
भाषाओ से प्रेम करो तुम जिसको जो जो हो प्यारी ।
मना नही मैं करती तुमको, पर इस दुखिया की भी याद
कभी कभी कर लिया कीजिए, मेरी इतनी ही फरयाद ।।

(३२)

बच्चे थे तुम तबसे ही मैं काम तुम्हारे आती हूँ ,
पत्नी और सुता-सुत के भी मैं ही काम चलाती हूँ ।
हो सकते मेरे विनाश से बन्द तुम्हारे सब व्यापार ,
नही अन्य भाषायें कोई कर सकती कुछ भी उपकार ।।

(३३)

उस मुझको ही यदि अभाग्यवश अब इस समय भुलाओगे ,
कृतघ्नता के घोर पाप से क्या तुम बच भी जाओगे ?
जो कुछ हुआ हो गया सो तो, सोचो अब आगे की बात ,
लोक-लाज पर भी क्यो करते इतना निष्ठुर वज्र-निपात ?

(३४)

मेरे ही प्रभाव से भारत पायेगा परमोज्ज्वल ज्ञान,
मिट अवश्य ही जायेगा यह अति अनर्थकारी अज्ञान ।
गाँव-गाँव , घर-घर में मेरा जब प्रचार हो जायेगा,
दुरित, दैन्य, दारिद्र, दुःख सब क्रम क्रम से घट जायेगा ।।

(३५)

जितने उन्नत देश सभी है करते निज भाषा की वृद्धि ,
देख क्यो नही लेते उनकी कितनी है निःसीम समृद्धि ।
अपना, मेरा, भारत का भी यदि चाहो कुछ भी कल्याण,
तो मेरा उद्धार करो अब, व्याकुल हैं ये पापी प्राण ।।

(३६)

और लोग इस भारत में भी निज भाषाओ का उपकार—
देखो आँख उठाकर कितना करते हैं सब विविध प्रकार ॥
उन्हें देखकर भी उत्साहित होते नही आप, क्या बात ?
करो न अपने ही पैरो पर महा कठोर कुठाराघात ॥

(३७)

समय नही, अन्याय नही है, लिखना मुझे न आता है—
यह सुन मेरा कठिन कलेजा दो टुकडे हो जाता है ।
विकट विदेशी भी भाषायें लिखनेवालो के उस्ताद !
मत अब और बहाने ऐसे किया करो तुम बे-बुनियाद ॥

(३८)

इस सम्मेलन की सहायता करना काम तुम्हारा है,
जी से मैं कहती हूँ, इससे मुझको बड़ा सहारा है ।
यहाँ उपस्थित रह कर सोचो कोई ऐसा उच्च उपाय,
जिससे मिले मुझे भी थोड़ा गुरुतापूर्ण ग्रन्थ-समुदाय ॥

(३९)

इसकी त्रुटियाँ अपनी समझो, दोषो को अपने ही दोष,
भाई को अपने भाई पर करना नही चाहिए रोष ।
यदि कुछ भी गौरव रखते हो, यदि कुछ भी है तुममें जोश,
ग्रन्थ-रत्न रच पूर्ण क्यो नही कर देते हो मेरा कोश ?

(४०)

सारे भारत मे व्यापकता मेरी ही है यदपि विशेष ,
नि.सशय तथापि मुझको है सबसे प्यारा यही प्रदेश ।
निर्दयता, निष्ठुरता कम कर, हो जाओ कुछ अधिक उदार ,
दया-द्रवित होकर सत्वर ही कर दो अब मेरा उद्धार ॥

(४१)

विकल-आर्त्त, आतुर को होता नही उचित-अनुचित का ज्ञान,
यदि कटु वचन कहे हो कोई क्षमा करो हे क्षमानिधान !
अधिक क्या कहूँ अब मैं तुमसे, मेरी लाज तुम्हारे हाथ,
चाहो और झुका दो, चाहे ऊँचा कर दो मेरा माथ ॥

(४२)

हे गोविन्द दया के सागर नारायण अन्तरयामी !
शरणागत-वत्सल तुमसे है छिपा नही है कुछ स्वामी ।
सुमति और सद्‌बुद्धि दीजिए सबको करुणा के आगार,
जिसमे इस अभागिनी का भी हो जावे अब बेडा पार ॥

अक्टूबर, १९

३४---विवाह-सम्बन्धी कवितायें*

पहला दिन

(१)

इस आँगन में भोजन करके जो सुख मुझे मिला है आज,
मिलता नही अगर मिल जाता मुझे देवताओ का राज ।
देख आपका प्रेम आपके ये उदारतासूचक काज,
मैं कृतार्थ हो गया आपसे कर सम्बन्ध दुबे महराज ॥ १ ॥
अपने घर में अपने कुल का मनुज बच रहा हूँ मैं एक,
आज आपका सम्बन्धी बन एक नही अब हुआ अनेक ।
बाँधा है जिस प्रणय-बन्ध से मुझे आपने आज अशेष,
शिथिल न होने देना उसको विनती मेरी यही विशेष ॥ २ ॥
इन कोकिल-कण्ठी कामिनियो ने जो मधुर गीत गाये,
सुधा-सदृश कानो से पीकर वे मुझको अति ही भाये ।
इनका यह गाली गाना भी चित में जब यों चुभ जाता,
यदि ये कही और कुछ गाती---बिना मोल मै बिक जाता ॥ ३ ॥

दूसरा दिन

(२)

किये जिन्होने ये वर-व्यञ्जन अति रोचक रसाल तैयार,
उनके कर-कमलो में कमला करे सदा दिन-रात विहार ।
और परोसा इन्हें जिन्होने उनको धन्यवाद शतबार,
अब तक कभी कही भी मेरा हुआ नही इतना सत्कार ॥

---

* ये कवितायें श्री कमलाकिशोर तिवारी के विवाह में भिन्न भि
अवसरो पर पढी गई थीं ।

तीसरा दिन

(३)

इन स्वादिष्ठ भोजनो के गुण बन्धु कहाँ तक मैं गाऊँ,
गाते गाते चुकें नही वे चाहे मैं ही चुक जाऊँ ।
इससे धन्य धन्य कहना ही बस होगा प्यारे भाई,
ईश्वर करे होय आगे भी यह सम्बन्ध सौख्यदायी ॥ १ ॥

परसो जो मधुमय गीतो का रस-समुद्र भर आया था,
मैंने तो उसमे परसो ही गोता खूब लगाया था ।
आज उसी का बढा हुआ जो बहा वेग से निर्मल नीर,
मन मेरा बह गया उसी में यहाँ रह गया सिर्फ शरीर ॥ २ ॥

गानेवाली जो सधवा है उनका बढता रहे सुहाग,
प्रेमी पति पावे कुमारिका विधवा श्री-हरि-पद-अनुराग ।
मम कृतज्ञता-सूचक लेकर यह मुद्रापञ्चक महराज,
पाँच पाँच पानो का बीडा दे दीजे इन सबको आज ॥ ३ ॥

चौथा दिन

(४)

होता है विवाह मे भाई मुख्य दान कन्या का दान,
सो सद्गुणी आपने दे दी लक्ष्मी मगल-मूर्ति-समान ।
वस्त्र, पात्र, धन-धान्य आदि भी देकर हे औदार्यनिधान,
शालीनता दिखाई इतनी, इसका जब आता है ध्यान ॥ १ ॥

तब मेरा यह हृदय बन्धुवर द्रवीभूत हो जाता है,
अति अगाध आनन्द-सिधु में बारम्बार समाता है ।
पूर्व-जन्म के पुण्य-पुज से दिवस आज यह आया है,
दान, मान, सन्मान आपमे सब कुछ मैने पाया है ॥ २ ॥

इस कन्या को सदन-स्वामिनी मैं सप्रेम बनाऊँगा,
आशा यही, देख इसको मैं अपने दुख भुलाऊँगा ।
विनती है, मेरी त्रुटियो को मन मे आप न लावेंगे,
इस लडके को पुत्र समझ अब, इसको भी अपनावेगे ॥ ३ ॥

अप्रैल, १९१९

२५——भारतवर्ष

१—जै जै प्यारे भारतदेश

जै जै प्यारे देश हमारे
तीन लोक में सब से न्यारे
हिमगिरि-मुकुट मनोहर धारे
जै जै सुभग सुवेश ॥ १ ॥ जै जै०

हम बुलबुल तू गुल है प्यारा
तू सुम्बुल, तू देश हमारा
हमने तन-मन तुझ पर वारा
तेज पुञ्ज-विशेष ॥ २२ ॥ जै जै०

तुझ पर हम निसार हो जावें
तेरी रज हम शीश चढावें
जगत पिता से यही मनावें
होवे तू देशेश ॥ ३ ॥ जै जै०

जै जै हे देशो के स्वामी
नामवरो में भी हे नामी
हे प्रणम्य तुझको प्रणमामी
जीते रहो हमेश ॥ ४ ॥ जै जै०

आँख अगर कोई दिखलावे
उसका दर्प-दलन हो जावे
फल अपने कर्मो का पावे
बने नाम निशेष ॥ ५ ॥ जै जै०

बल दो हमें ऐक्य सिखलाओ
सँभलो देश होश में आवो
मातृभूमि-सोभाग्य बढाओ
मेटो सकल कलेश ॥ ६ ॥ जै जै०

हिन्दू मुसलमान ईसाई
यश गावें सब भाई भाई

सवके सव तेरे शैदाई
फूलो-फलो स्वदेश ॥ ७ ॥ जै जै०
इष्ट-देव आधार हमारे
तुम्ही गले के हार हमारे
भुक्ति-मुक्ति के द्वार हमारे
जै जै जै जै देश ॥ ८ ॥ जै जै०

अक्टूवर १९२०

३६—मेरे प्यारे हिन्दुस्तान

हम वुलवुल तू चमनिस्तान
हम शरीर तू प्राणसमान
नही कहो तेरा उपमान
जान-माल तुझ पर कुरवान ॥ १ ॥ मेरे०
तू था दुनिया का सरताज
तेरा है हम सवको नाज़
तेरे हाथ हमारी लाज
तुझसे हो हम सवका त्राण ॥ २ ॥ मेरे०
एक नही हम कई करोड
कर उद्योग काहिली छोड
सत्पथ से तू मुँह मत मोड
आँख खोल वल-वीर्य-निधान ॥ ३ ॥ मेरे०
मक्का मसजिद देवस्थान
काशी और प्रयाग समान
तू ही हम सवका भगवान
जै महान जै महिमामान ॥ ४ ॥ मेरे०
जलवा तेरा जग मे छाया
जो जिसने मॉगा सो पाया
ग़ैरो को भी सभ्य वनाया
धन्य धन्य जै जै भगवान ॥ ५ ॥ मेरे०

नवम्वर १९२०
